श्रमणोपासक

आचार्य श्री नानेश दीक्षा अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष्य में

संयम साधना विशेषांक

△

सम्पादक मण्डल

डॉ. नरेन्द्र भानावत — भूपराज जैन
डॉ. सुभाष कोठारी — गणेश ललवानी
डॉ शांता भानावत — जानकीनारायण श्रीमाली

△

संयोजक

सरदारमल कांकरिया — भंवरलाल कोठारी

△

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.) ३३४००१

★ श्रमणोपासक

संयम साधना विशेषांक

दीक्षा अर्द्धशताब्दी पौष शुक्ला अष्टमी
४ जनवरी, १९९० के उपलक्ष्य में
२५ मार्च १९९० को प्रकाशित
वर्ष २७ अंक २४ विक्रम संवत् २०४६
रजिस्ट्रेशन संख्या आर. एन. ७३८७/६३
रजि. नं. आर. जे. १५१७ पहले डाक व्यय दिये बिना
अंक भेजने की अनुमति संख्या Bik-2

★ शुल्क

आजीवन सदस्यता : २५१ रुपये
वार्षिक शुल्क : २० रुपये
वाचनालय एवं पुस्तकालय के लिये
वार्षिक शुल्क : १५ रुपये
विदेश में वार्षिक शुल्क : १५० रुपये
इस अंक का शुल्क : ५० रूपये

★ प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.) ३३४००१
तार : साधुमार्गी : फोन : ६८६७

★ मुद्रक

जैन आर्ट प्रेस, समता भवन, बीकानेर (राज.)

महान् संयम साधक

ज्ञानी-ध्यानी, समत्व योगी

धर्मपाल प्रतिबोधक

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री नानालालजी म.सा. के

दीक्षा अर्द्धशताब्दी के

स्वर्णिम मंगलमय प्रसंग पर

उनके युगान्तरकारी कृतित्व

एवं

ओजस्वी व्यक्तित्व

को

सादर सविनय समर्पित

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के
पदाधिकारीगण

अध्यक्ष

श्री गणपतराज बोहरा, पीपलियाकलां

उपाध्यक्ष

श्री सोहनलाल सिपानी, बैंगलोर

श्री केवलचन्द मूथा, रायपुर

श्री फतेहलाल हिंगर, उदयपुर

श्री ईश्वरलाल ललवाणी, जलगांव

श्री सुजानमल बोरा, इन्दौर

मंत्री

श्री पीरदान पारख, जयपुर

सहमंत्री

श्री चम्पालाल डागा, गंगाशहर

श्री केशरीचन्द सेठिया, मद्रास

श्री समीरमल कांठेड़, जावरा

श्री सागरमल चपलोत, निम्बाहेड़ा

श्री केशरीचन्द गोलछा, बंगाईगाव

श्री गौतमचन्द पारख, राजनांदगांव

कोषाध्यक्ष

श्री भंवरलाल बडेर, बीकानेर

श्री सु. सां. शिक्षा सोसायटी अध्यक्ष

श्री भंवरलाल बैद, कलकत्ता

मंत्री

श्री धनराज बेताला, नोखा

महिला समिति अध्यक्ष/मंत्री

श्रीमती रसकुंवर सूर्या, उज्जैन

श्रीमती कमलादेवी बैद, जयपुर

समता युवा संघ, अध्यक्ष

श्री उमरावसिंह ओस्तवाल, बम्बई

समता बालक मण्डली अध्यक्ष

श्री अजित चेलावत, जावद

संयोजकीय वक्तव्य

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर की दीक्षा के यशस्वी पचास वर्ष की समाप्ति के उपलक्ष्य में प्रकाशित श्रमणोपासक का यह संयम-साधना विशेषांक प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

पांच दशक की यह संयम साधना अपने आपमें बेजोड़ एवं अद्वितीय है। हर पल जागरूक रहकर आत्म साधना में लीन रहने के साथ सांसारिक जीवों का हितचिन्तन करना एवं श्रमण भगवान महावीर की धर्म देशनाओं एवं वाणी का अनवरत प्रचार-प्रसार करना ही जिसका जीवनलक्ष्य रहा है, उस महापुरुष श्रद्धेय आचार्य प्रवर के सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने के बराबर है।

युवाअवस्था में संयम लेकर जैन दर्शन एवं साहित्य का, आगमो का, भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन किया एवं अपने गुरु संत शिरोमणि, शान्तक्रान्ति के कर्णधार आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की शिक्षाओं को न केवल अपने जीवन मे उतारा बल्कि वृद्धावस्था में उनकी सेवा कर जिस महान आदर्श को चरितार्थ किया, वह अत्यन्त विरल है।

एक्य एवं संगठन के जिस आधार पर श्रमण संघ की नींव रखी गई, वह जब स्वेच्छाचार एव स्वच्छन्दता के कारण लड़खड़ाने लगी तथा भगवान महावीर की धर्म देशनाओं का उल्लंघन होने लगा तो स्वर्गीय आचार्य प्रवर उसे बर्दाश्त न कर सके एवं श्रमण संस्कृति की रक्षा हेतु अपने पद को त्याग दिया और विशुद्ध श्रमण संस्कृति पर आधारित धर्म संघ की स्थापना की। ऐसी कठिन परिस्थितियों मे धर्म संघ का भार पं. रत्न श्री नानालालजी म. सा. के सबल कन्धों पर डाला। लगभग सत्ताइस वर्ष हो गये उस दायित्व को वहन करते। अनेक विरोधों एवं अवरोधों को शान्त भाव से सहन करते हुए पवित्र श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में हिमालय की तरह अडिग खड़े श्रद्धेय आचार्य प्रवर ने समभाव से विचरण करते हुए समस्त जैन समाज में विशिष्ट स्थान बना लिया है।

कथनी और करनी की एकरूपता का जो महान आदर्श आपने उपस्थित किया है, वह अनुपमेय है। इसलिए आपकी वाणी का जादू-सा असर होता है। संघ का कुशल संचालन, नेतृत्व एवं संत-सतियों की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासन, शास्त्रानुसार आचरण आदि ने आपकी प्रतिष्ठा को चार चांद लगा दिये है। आपकी सरलता सादगी एवं गहन शास्त्रीय अध्ययन के साथ-साथ सम सामयिक समस्याओ के समाधान मे जो मौलिक सूझबूझ आपने प्रदर्शित की है। उससे विद्वत समुदाय भी अत्यन्त प्रभावित है। आपके नेतृत्व में समग्र देश में संत-सती वर्ग विचरण कर भगवान महावीर की पावन वाणी का निरन्तर प्रचार-प्रसार कर रहे है।

आपकी धर्म देशनाओं से प्रतिबोधित होकर मालवा के ग्रामीण अंचलों में रहने वाली जाति के हजारों स्त्री-पुरुषों को विकार, व्यसनमुक्त अहिंसक जीवन

जीने की जो प्रेरणा दी है। वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। यह धर्मपाल प्रवृत्ति एक ऐसी रचनात्मक प्रवृत्ति है जो मानवीय सद्गुणों की स्थापना करने वाली है, दानव से मानव बनाने वाली है, रावणत्व पर रामत्व की विजय पताका फहराने वाली है।

भौतिकता की चकाचौंध में जहां आज श्रावक ही नहीं श्रमणवर्ग भी दिग्भ्रमित हो रहे है, वहां श्रद्धेय आचार्य प्रवर एवं उनके संत-सती कठोर क्रिया का पालन करते हुए आत्मिक गुणो के विकास के साथ शासन सेवा कर रहे हैं, वह नितान्त अनुकरणीय एवं श्लाघनीय है। ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य के जिस उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा आपने की है, वह सतत वर्धमान बनेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

यह महापुरुष शतायु होकर शासन की सेवा करते हुए हजारों लाखो लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता रहे। यही हमारी मंगल-कामना है। भौतिकवादी दर्शन से उपजी इस संकटापन्न स्थिति में सतत जागरूक रहकर श्रमण संस्कृति की रक्षा जाज जितनी आवश्यक प्रतीत होती है, उतनी पहले कभी नही थी। आज समग्र जैन समाज की दृष्टि आप पर लगी हुई है, विश्वास है कि श्रद्धेय आचार्य प्रवर प्रकाश स्तम्भ की तरह सतत मार्ग दर्शन करते रहेगे।

यह अंक सभी दृष्टियो से संग्रहणीय बने। यह प्रयत्न किया गया है। इस अंक की सामग्री के सम्बन्ध मे सम्पादकीय अभिलेख मे प्रकाश डाला गया है। इसे सुरुचि सम्पन्न पठनीय तथा संग्रहणीय बनाने में सम्पादक मंडल ने जो कठोर परिश्रम किया है। उसके लिए किन शब्दों में आभार प्रदर्शित किया जाय। यह समझ मे नही आता। जिन विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियो के आलेखों से यह अंक पठनीय एव संग्रहणीय बना है उसके प्रति अशेष कृतज्ञता ज्ञापन हमारा कर्तव्य है। मुख पृष्ठ की डिजाइन बनाने में श्री गणेश ललवानी से जो सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

इस विशेषांक में प्रकाशित विज्ञापनों, श्रद्धालु परिवारो की शुभकामनाएं संग्रहित करने मे हमें श्री भंवरलाल बैद कलकत्ता, श्री सोहनलालजी सिपानी बेंगलोर, श्री उगमराजजी मूथा मद्रास, श्री केशरीचन्दजी गोलछा बंगाईगांव, श्री दीपचन्दजी भूरा देशनोक, श्री फतहलालजी हिंगर उदयपुर, श्री कमलचन्दजी डागा दिल्ली, श्री चम्पालालजी डागा, श्री धर्मचन्दजी पारख, महिला समिति व समता युवा संघ आदि का जो सहयोग प्राप्त हुआ, तदर्थ हम हार्दिक आभारी हैं।

श्री जैन आर्ट प्रेस के मैनेजर, कर्मचारी एवं कम्पोजिटरो ने इसके मुद्रण मे जो अथक परिश्रम किया है एवं सहयोग दिया है, उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है।

काफी सावधानी के बाद भी प्रूफ संशोधन की भूलें एवं त्रुटि होना स्वाभाविक है, सुधी पाठक उसे क्षम्य मानते हुए अपने विचारों से अवगत करायेंगे, इसी भावना के साथ यह अंक समर्पित करते हुए सहज उल्लसित है।

किं बहुना— —**सरदारमल कांकरिया, भंवरलाल कोठारी**

कोई भी राष्ट्र केवल प्राकृतिक सम्पदाओं के कारण महान् नही बनता। उसे महान् बनाती है वह विवेक-शक्ति और संयम-साधना, जिसके द्वारा प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग मानव-हित एवं लोक-कल्याण मे किया जाता है। यह विवेक शक्ति और संयम साधना तभी विकसित हो पाती है जब उसके पीछे निष्काम, सेवाभावी, आध्यात्मिक महापुरुषो का आंतरिक बल हो। भारत को इस बात का गौरव है कि यहां ऐसे महापुरुष समय-समय पर जन्म लेकर विश्व मानवता का पथ प्रशस्त करते रहे है। समता साधक आचार्य श्री नानेश ऐसे ही ऋषि-मुनियो की परम्परा मे वर्तमान युग के विशिष्ट आध्यात्मिक आलोक पुरुष है।

आपका जन्म आज से ७० वर्ष पूर्व वि. स. १९७७ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को चित्तौडगढ के दाता गांव मे श्री मोडीलाल पोखरना के यहां हुआ। माता श्रृंगारबाई से आपको ऐसे संस्कार मिले जो आपको आत्मगुणों से श्रृंगारित करने मे सहयोगी बने। १९ वर्ष की अवस्था मे वि.सं. १९९६ पौष शुक्ला अष्टमी को कपासन मे शान्त क्रांति के सूत्रधार जैनाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चरणों मे आपने जैन भागवती दीक्षा अंगीकृत की। इसी पौष शुक्ला अष्टमी ४ जनवरी सन् १९९० को आपके संयमी जीवन के ५० वर्ष पूरे हुए हैं। देश के विभिन्न भागों मे आपका अर्द्धशताब्दी दीक्षा समारोह संयम, सेवा और साधना दिवस के रूप मे तप-त्याग पूर्वक मनाया गया।

संवत् २०१९ में माघ कृष्णा द्वितीया को आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा के स्वर्गारोहण के बाद आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अपने आचार्यकाल मे आपने धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में युगान्तरकारी क्रान्ति की। राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशो के सुदूरवर्ती गांवों मे पद विहार कर आपने जन साधारण के आत्म चैतन्य को जागृत कर सदाचार निष्ठ नैतिक उन्नयनकारी जीवन जीने की प्रेरणा दी।

यद्यपि आपका नाम 'नाना' है। पर अन्तर्मुखीवृत्ति और समत्व भाव मे आत्मलीन रहने के कारण आप 'नानात्व' मे 'एकत्व' के दर्शन करते है। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय और मत-मतान्तर से ऊपर उठकर आप सदा अहिंसा,

संयम और तप रूप धर्म का उपदेश देते है । आपकी दृष्टि मे अहिंसा, केवल किसी को मारने तक सीमित नही है । प्राणी मात्र के साथ प्रेम और मैत्री का व्यवहार करना, किसी को कठोर वचन न कहना और मन से भी किसी का बुरा न सोचना, असहाय की सहायता करना, दुखियो की सेवा करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न कर अपनी अर्जित सम्पत्ति को जरूरतमन्दो मे निस्वार्थ भाव से बांटना सच्ची अहिंसा है । आपकी दृष्टि में संयम घरबार छोडकर सन्यास लेना ही नही है, बल्कि संसार मे रहते हुए भी मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना सयम है । तपस्या केवल भूखा रहना नही है । भूख से कम खाकर स्वाद वृत्ति नियंत्रण करना, अपनी गलती को गलती मानकर प्रायश्चित करना तथा गलती की पुनरावृत्ति न करना, सद्शास्त्रो का अध्ययन करना, परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा करना, वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति आसक्ति न रखना भी तपस्या है ।

आचार्य श्री नानेश जीवन-रत्नाकर की अतल गहराई मे पैठकर असीम शांति का अनुभव करते हैं और अपने भीतर से जुडकर आत्महित एवं लोकहित के लिए नित नये विचार मुक्ताओ का सृजन करते रहते हैं । आपकी संयम साधना सागर की मर्यादा, गम्भीरता और प्रशान्तता लिए हुए हैं । आपकी संयम-साधना के अनेक आयाम है । उनमे मुख्य है—समता दर्शन, समीक्षण ध्यान और धर्मपाल प्रवृत्ति ।

आज जीवन और समाज का हर क्षेत्र अशान्त, विशृंखलित और विषमता मे ग्रस्त है । विषमता का मूल उद्गम स्थल कही बाहर नही हमारे भीतर है । जब तक मानव का अन्त.करण समतायुक्त नही होता, व्यवहार मे समता नही आ पाती और आचरण समतामय नही हो पाता । समस्त दुर्गुणो और विकारों की जड विषमता है । विषमता के उन्मूलन के लिए आचार्य श्री नानेश ने समता दर्शन का चिन्तन दिया । आपके समता दर्शन के ४ मुख्य सूत्र हैं—१. सिद्धात दर्शन, २. जीवन दर्शन, ३. आत्म दर्शन ४. परमात्म दर्शन ।

समता का उपदेश केवल वाणी का विलास बनकर न रहे, पुस्तको की शोभा बनकर न रहे वरन् अन्त:स्तल को स्पर्श करे । इसके लिए आवश्यक है कि दृष्टि बाहर से हटकर भीतर की ओर मुडे । भीतर से जुड़ाव तभी सम्भव है जब शात स्थिर चित्त से स्वयं को देखने-परखने का अभ्यास हो । इस अभ्यास को ही आचार्य श्री ने समीक्षण ध्यान कहा है । समीक्षण का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अपना ईक्षण करना । मन मे उठने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारो को समभाव पूर्वक देखते रहना, बाहर घटित होने वाली घटनाओ के प्रति प्रतिक्रिया न करना । तटस्थ भाव से उनका ईक्षण करते रहना । जब समीक्षण पूर्व एकता का भाव मन मे आविर्भूत होता

है तब भेद बुद्धि नही रहती । प्रान्तीयता, क्षेत्रियता, साम्प्रदायिक उन्माद, जातिवाद, रंगभेद के आधार पर विग्रह नहीं होता । आज देश में भय, आतंक और साम्प्रदायिकता का जो विद्वेष है, मानसिक तनाव और संघर्ष है उसे दूर करने में समीक्षण ध्यान मार्गदर्शक साधना पद्धति है ।

आचार्य श्री धर्म को वैयक्तिक अनुभूति तक ही सीमित रखने के पक्षधर नही है । धर्म, जीवन-व्यवहार और सामाजिक स्वस्थता मे प्रतिफलित होना चाहिये । इसी उद्देश्य से आप जहां-जहा विचरण करते है वहा-वहां जीवन को व्यसन मुक्त करने का उपदेश देते है । आपके उपदेशो से प्रभावित होकर मध्यप्रदेश के मन्दसौर, जावरा, रतलाम, नागदा, उज्जैन आदि के क्षेत्रो के बलाई जाति के ८० हजार से अधिक लोगो ने कुव्यवसनो को छोडकर सद् सस्कारी सात्विक जीवन जीने का व्रत लिया है । आपने इन्हें 'धर्मपाल' सम्बोधन किया तभी से अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित यह 'धर्मपाल प्रवृत्ति' सामाजिक नैतिक क्राति का अंग बनी हुई है ।

आचार्य श्री नानेश का सयमी जीवन सेवा, पुरुषार्थ और समता का जीवन है । बढ़ते हुए भौतिक आकर्षणो से परे रखकर आप भगवान महावीर द्वारा श्रमण धर्म के लिए निर्धारित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाच महाव्रतो की मन, वचन, काया से पूर्णतया कठोरतापूर्वक परि– पालना करते है और अपने शिष्य परिवार से करवाते है । नैतिक चकाचौध भरे आज के वातावरण में भी आपके साधनामय समता जीवन से प्रभावित होकर विगत २५ वर्षो में २५० से अधिक युवक-युवतियो ने सांसारिक मोह-माया से ऊपर उठकर आपके चरणों में श्रमण धर्म स्वीकारा है, जो भोग पर योग, असयम पर संयम और राग-द्वेष पर वीतरागता की विजय का प्रतीक है । ऐसे महान समता-साधक, समीक्षण ध्यानी आचार्य नानेश को ५०वे दीक्षा वर्ष पर शत-शत वन्दन और दीर्घायु होने की मगल कामना ।

आचार्य श्री के ५० वर्षीय संयम साधनामय जीवन का अमृत जन-जन में आत्म-चेतना का रस पैदा कर सके, उपभोक्ता संस्कृति के बढते हुए भौतिक जड़ मूल्यो को उपयोगमूलक सांस्कृतिक चेतना का प्रकाश-खाद मिल सके, अनियत्रित इन्द्रिय-लिप्सा संयम और तप की ओर मुड़ सके, इसी पुनीत भावना से श्रमणोपासक का यह **संयम साधना विशेषांक** पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

यह सयम साधना विशेषांक चार खन्डो में विभक्त है । प्रथम खन्ड मे **संयम-साधना** के विभिन्न आयामो पर सयमी आचार्यो, मुनियो, साध्वियो एवं अनुभवी चिन्तक विद्वानो के विचार सकलित है । द्वितीय खन्ड **जिज्ञासा और समाधान** इस विशेषांक का विशेष खन्ड है जिसमें आचार्य श्री नानेश से

साक्षात्कार उनके सुदीर्घ संयमी जीवन, उनके द्वारा प्रणीत समता-दर्शन समीक्षण, ध्यान व अन्य समसामायिक समस्याओ पर जो समाधान (उत्तर) प्राप्त हुए है, उनका समायोजन है। इस खन्ड मे आचार्य श्री के कतिपय अन्तेवासी शिष्य-शिष्याओं के उन प्रसंगो एव विचारों को भी सम्मिलित किया गया है जो उनसे प्रश्न करके प्राप्त किये गये है। इन विचारों से आचार्य श्री के सयमी जीवन पर अनुभवगम्य मौलिक प्रकाश पडता है। तृतीय खन्ड **व्यक्तित्व-वन्दना** मे आचार्य श्री के सम्पर्क मे आने वाले विभिन्न क्षेत्रो के विशिष्ट एवं सामान्य लोगो के प्रेरक प्रसंग और संस्मरण सकलित है। इनसे आचार्य श्री के साधक व्यक्तित्व का अतिशय, वैशिष्ट्य और प्रभाव-गांभीर्य स्पष्ट होता है। चतुर्थ खन्ड **कृतित्व-समीक्षा** पे आचार्य श्री की साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एव आध्यात्मिक देन पर अधिकारी विद्वानो के समीक्षात्मक-मूल्यात्मक लेख है।

इस विशेपाक को वैचारिक दृष्टि से समृद्ध-सम्पन्न वनाने मे जिन आचार्यों, मुनियो, साध्वियो अनुभवी चिन्तको-विद्वानो और श्रद्धानिष्ठ भक्तजनो का तथा सम्पादक-मन्डल के सहयोगी सदस्यो का जो योगदान मिला है, उसके प्रति मै विशेष रूप से आभारी हूं।

आशा है यह विशेषाक हमे सयम-साधना की ओर प्रेरित-अभिमुख करने मे विशेष उपयोगी और मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

डॉ. नरेन्द्र भानावत

अनुक्रमणिका

प्रथम खंड

संयम साधना

द्वितीय खंड

भाग १

भाग २

तृतीय खंड

चतुर्थ खंड

विज्ञापन सहयोग

प्रथम खण्ड

भारंड पंखी

संयम-साधना

निर्लिप्तता का मार्ग

❀ आचार्यश्री नानेश

इस अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर के शासन में उनकी आत्मोद्धारक वाणी पर अधिकाधिक चिन्तन आवश्यक है। उनकी वाणी का चरम लक्ष्य है—सभी प्रकार के बन्धनों से आत्मा की मुक्ति । यह मुक्ति ही आत्मा की समाधि का चरम बिन्दु है, लेकिन आत्मा की समाधि का आरम्भ मुक्ति मार्ग पर चलने के संकल्प से ही हो जाता है। सूत्र समाधि से आत्मज्ञान का प्रकाश फैलता है तो विनय-समाधि ज्ञान के धरातल पर कठिन आचरण की सफल पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। फिर आचार–समाधि एवं तपस्या–समाधि आत्मा को मुक्ति मार्ग पर गतिशील और प्रगतिशील बना देती है।

आत्मसमाधि का यह मार्ग एक प्रकार से निर्लिप्तता का मार्ग है। सांसारिकता से निर्लिप्त बनकर जितनी आत्माभिमुखी वृत्ति का विकास होगा, उतनी ही अधिक शान्ति मिलेगी और मुक्ति-मार्ग पर गतिशीलता बढ़ेगी।

निर्लिप्तता का मूल मंत्र :

सम्यक् आचरण ही निर्लिप्तता का एव उसके माध्यम से आत्म-समाधि का मूल सूत्र है। शुद्ध आचार के बिना जीवन शुष्क तथा प्रगतिहीन ही रहता है। शुद्ध आचार एवं व्यवहार की स्थिति सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् श्रद्धा के साथ सुदृढ वनती है। ज्ञान एवं क्रिया का भव्य समन्वय बनता है, तब मुक्ति-दायिनी निर्लिप्तता का मार्ग प्रशस्त होता है।

लेप दो प्रकार का होता है। यहां लेप से अभिप्राय किसी शारीरिक लेप से नहीं है, बल्कि उस प्रकार के आत्मिक लेप से है, जो आत्मा पर चढकर आत्मस्वरूप को मलिन बनाता है। यह लेप दो प्रकार का इस रूप मे होता है कि पहली वार तो विषय एवं कषाय की कलुषित वृत्तिया जव मन मे उठती है तो उनका विषैला धुंआ मानस को अंधकार से घेर लेता है। एक तो लेप का यह रूप होता है, फिर दूसरा रूप तव प्रकट होता है, जव उन कलुपित वृत्तियों की उत्तेजना में कर्मबध का लेप आत्मस्वरूप पर चढ़ता है। यह लेप तब तक नही उतरता या घटता है, जब तक सम्यक् आचरण को जीवन मे नही अपनाया जाता है।

इस प्रकार सासारिक पदार्थो के प्रति जितनी ममता है और उस ममता के आवरण मे जितनी कलुपित वृत्तियों की उत्तेजना पैदा होती है उन सवके

कारण यह लेप गाढा और चिकना होता जाता है । तो लेप है वह ममता और जितने अंशों में ममता का त्याग होता है—सम्यक् आचरण की आराधना होती है, उतने ही अंशों में जीवन में समता का विकास होता जाता है । जितनी समता आती है—उतनी ही निर्लेपता या निर्लिप्तता आती है, यह मानकर चलिये।

लेप उतरता है, लेप चढ़ता है :

मानसिक वृत्तियों एव कर्मो का यह लेप जहा आत्मस्वरूप पर चढता है तो आचार की शुद्धता से वह उतरता भी है । आचरण जब अशुद्ध होता है तो उसका कारण अज्ञान होता है एवं उस अज्ञानमय अशुद्ध आचरण के फलस्वरूप मन और इन्द्रियों पर कोई नियन्त्रण नही रहता । वैसी दशा में मनुष्य का मन और उसकी इन्द्रिया अशुभ वृत्तियो एवं प्रवृत्तियों मे इतनी बेभान होकर भटकने लग जाती है कि यह लेप आत्मस्वरूप पर चढता ही रहता है और वह गाढा होता जाता है । जितना अधिक गाढा लेप होता है, उतनी ही सज्ञाशून्यता आत्मा में समाती जाती है । इसी स्थिति को समझकर प्रभु महावीर ने आचार को प्रथम धर्म वताया और आचार को सम्यक् वनाये रखने पर वल दिया ।

आचार में जव सम्यक् रूप से शुद्धता आती है तो उसका निर्देशक सम्यक् ज्ञान होता है । सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान,मन तथा इन्द्रियों को अनुशासित वनाकर उन्हे सम्यक् आचरण मे स्थिरतापूर्वक नियोजित करते हैं इस नियोजन से उनका भटकाव रुक जाता है तथा इनका योग व्यापार शुभत की दिशा में क्रियाशील वन जाता है। तव ममता के वन्धन टूटते रहते है ए मन, वचन व काया की वृत्ति-प्रवृत्तिया समत्व में ढलती जाती है । अन्त:करर की समतामय अवस्था मे लेप पर लेप नही चढ़ता और पहले का चढा हुआ ले भी उतरता जाता है । ज्यों-ज्यों यह लेप पतला पड़ता है, जीवन मे निर्लिप्तत आती रहती है तथा आत्मा का मूल स्वरूप चमकने लगता है । यह लेप क आवरण ही आत्मस्वरूप को ढकने और मन्द वनाने वाला होता है । अत: निर्लिप्तता का मार्ग वास्तव में आचार-शुद्धि तथा आत्मोन्नति का मार्ग है । निर्लिप्तता मे ही आत्मसमाधि समाहित होती है ।

आचार समाधि की स्थिरता एवं निर्लिप्तता :

जिस जीवन मे आचार समाधि स्थिरता को प्राप्त कर लेती है, उ जीवन में निर्लिप्तता का उद्भव हो जाता है क्योंकि आचार की आरावना लिप्तता के वन्धन टूटते जाते हैं । सम्यक् आचरण के अनुपालन से आत्मा ऐसी शान्ति की अनुभूति होती है कि आचरण की उच्चता तथा शान्ति की अनुभूति में आगे से आगे वढ़ने की जैसे एक होड़ शुरु हो जाती है । आत्मिक शारि का रसास्वादन आचार-निष्ठा को स्थिरता प्रदान कर देता है । फिर आचा

समाधि का यही प्रभाव दिखाई देता है कि जितनी अधिक निष्ठा, उतनी अधिक कर्मठता और जितनी अधिक कर्मठता, उतनी ही अधिक शान्ति । आत्मिक शांति तब अडिग बन जाती है ।

आचार समाधि से जीवन मे कितनी शान्ति, कितनी निर्लिप्तता, कितनी समता एवं कितनी त्यागवृत्ति का विकास होता है–यह आचार-साधक का अपना ही अनुभव होता है । किन्तु सामान्य रूप से तो आप भी समय-समय पर अपने अन्दर का लेखा-जोखा लेते रहें कि आप कितनी ममता छोड़ते हैं, कितना लेप हटाते हैं अथवा कितनी रागद्वेष व अहं की वृत्तियों का परित्याग करते है तो आप भी आचार समाधि के यत्किंचित् शुभ प्रभाव से परिचित हो सकते हैं । सन्त और सतीवृन्द प्रभु महावीर की आज्ञाओं के प्रति समर्पित होकर चल रहे है तथा अपने समग्र जीवन को तदनुसार ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनका कुछ न कुछ अनुसरण आप भी कर सकते हैं ।

शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि यदि तुम आचार समाधि में स्थिरता प्राप्त करना चाहते हो तो ज्ञान एवं क्रिया के भव्य समन्वय की दृष्टि से अपने जीवन में परिवर्तन लाओ । सन्त सतीवृन्द के लिये तो विशेष निर्देश है कि वे अपने जीवन में आचार एवं विचार की प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखें । इस प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ही उनके लिये जनपद विहार का विधान है । केवल चातुर्मास में वे एक स्थान पर ठहरते है, अन्यथा ग्राम-नगरों मे विचरण करते रहते हैं । चार माह चातुर्मास काल में एक स्थान पर रह कर जनता को प्रतिबोध लाभ देना एवं स्वयं की आत्मसाधना करना तथा तदुपरान्त ग्रामानुग्राम विहार करते रहना, यह आचार–समाधि की स्थिरता के रूप मे रखा गया है ताकि साधु निर्लिप्त बना रह सके । एक स्थान पर पड़ा हुआ पानी जिस प्रकार गन्दा हो जाता है, लेकिन वही पानी बराबर बहता रहता है तो वह निर्मल बना रहता है । उसी प्रकार साधु एक स्थान पर अधिक ठहरे तो वह वहां के किसी न किसी मोह से लिप्त बन सकता है, परन्तु उसके निरन्तर विहार करते रहने से उसकी निर्लिप्तता अभिवृद्ध होती रहती है ।

साधु–जीवन की निर्लेप वृत्ति :

चातुर्मास काल के अन्दर उपदेश के सिलसिले में तटस्थ भावना से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन के प्रसंग आये, उनमें भी सभी प्रकार की भावनाएं मैं व्यक्त करता रहा एवं संकेत देता रहा, लेकिन किन आत्माओं ने क्या ग्रहण किया— उनके चित्त की यह बात तो ज्ञानी जन ही जान सकते है । बड़े रूप में मंत्रीजी ने तपश्चर्या का चिट्ठा पेश किया है । इसके अतिरिक्त इस चातुर्मास की अन्य उपलब्धियों का उल्लेख भी किया गया है । अवशेष स्थिति की दृष्टि से कषाय प्रवृत्ति का जो प्रसंग भूरा परिवारों मे चल रहा था—मामले कोर्ट कचहरियों तक

पहुंचे हुए थे और धनाढ्य परिवार अपनी-अपनी खींचातानी के लिये हजारों रुपये खर्च करने की हठ लेकर वैठे हुए थे—उन्होंने अन्तिम समय में उदारता दिखाई और चातुर्मास समापन के वक्त अपने वैमनस्य को कम कर लिया। खींचते गये तव तक मनमुटाव खिचता रहा, किन्तु हतोत्साही नही हुए तो आप दृश्य देख ही चुके हैं। वैसा ही दृश्य सरदारशहर के लोगों का भी आप सुन चुके है। अच्छे काम के लिये सद् प्रयत्न करते रहें और स्वयं की निर्लेप वृत्ति प्रखर वनाये रखें तो उसका वरावर अच्छा प्रभाव पड़ता ही है।

मेरा मन्तव्य तो यह है कि साधु-जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। उसके आचार धर्म एवं उसकी चारित्र्यशीलता का यह सुप्रभाव होना ही चाहिये कि सम्पर्क मे आने वाला सहज रीति से अपनी विषय-कषाय की वृत्तियों का परित्याग कर ले। विहार के कुछ क्षणों पहले मैं फिर कह रहा हूं कि कही कुछ आड़ा-टेढ़ा हो तो अपना-अपना अवलोकन करके चातुर्मास की समाप्ति के प्रसंग से उसे सीधा करलें—इसी में आपका हित है। आप यह न सोचें कि पहल करेंगे तो उन्नीस हो जायेंगे। आप उन्नीस नहीं होंगे वल्कि जो पहले अपने हृदय की उदारता दिखायेगा, वह इक्कीस ही होगा और उसकी वाह-वाही होगी। यह आत्मशुद्धि का प्रसंग है और इसमें किसी को पीछे नही रहना चाहिये।

मैं देशनोक संघ की स्थिति को अपनी स्थिति से अवलोकन करता हुआ अवश्य कहूंगा कि देशनोक संघ में संघ की हैसियत से अथवा पचायत की हैसि-यत से जो कुछ प्रसंग सन्त-समागम से समाहित हुए, उनके रूपक जनमानस के लिये आदर्श वनते हैं। साधु-जीवन के सम्पर्क में आकर आप भी निर्लेप वृत्ति से शिक्षा ग्रहण करें तथा अपने जीवन में उस प्रभाव का समावेश करें—यह सराहनीय है।

चारित्र्य की आराधना से सत्य की साधना :

प्रभु महावीर की सम्यक् चारित्र्य रूपी जो आत्म-समाधि है, उसी के सहारे चतुर्विध संघ सुव्यवस्थित रूप से चल सकते हैं एवं इस प्रकार के चतुर्विध संघ तथा व्यक्तिश: साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका जनता के लिये आकर्षण के केन्द्र विन्दु वनते हैं। इस समाधि की प्राप्ति में जो भी सहयोग करता है, उसे भी आत्मशान्ति मिलती है। महाराज हरिश्चन्द्र का सम्पूर्ण चरित्र आपने सुन लिया है और आपने हृदय मे उतारा होगा कि उन्होने सत्य पर आचरण किया तो सत्य की कसौटी पर वे खरे उतरे। कठिन से कठिन कष्ट उनके सामने आये, लेकिन सत्य की साधना से वे विचलित नहीं हुए। अन्त मे श्मशान मे कैसा भव्य दृश्य वना कि सारी काशी की जनता उमड़ पड़ी. देवगण भी उपस्थित हुए तथा विश्वामित्र ने पश्चात्ताप किया। जनता महाराजा और महारानी को अयोध्या

में ले गई, किन्तु वे तो सत्य के साधक बन चुके थे अतः रोहित को राज्य देकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। वहा तप संयम की सुन्दर आराधना करते हुए उन्होंने आचार-समाधि की उपलब्धि की तथा केवल ज्ञान प्राप्त किया। अन्त में वे सत्य साधक मुक्तिगामी हुए।

आप भी 'हरिश्चन्द्र-चरित्र से सद्गुणों को ग्रहण करें और यह समझ लें कि चारित्र्य की आराधना करते हुए जो सत्य की सफल साधना करता है, वह निर्लिप्तता के मार्ग पर आगे बढ़ जाता है। सत्य को आप चारित्र्य की रीढ़ की हड्डी मान सकते है जो तभी सीधी और स्वस्थ रह सकती है, जबकि निर्लेप वृत्ति का उसमे समावेश हो जाय। सत्य की साधना से सभी आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ विकास होता है।

निर्लिप्त बनकर समता के साधक बनिये :

चारित्र्य और सत्य की आराधना से आत्मस्वरूप पर चढे हुए लेप उतरते है और आत्मा में एक प्रकार का सुखद हल्कापन आने लगता है। यह हल्कापन निर्लेपन वृत्ति अथवा तटस्थ वृत्ति का होता है। मोह ममता के भाव कम होते है—विषाय कषय की वृत्तिया पतली पड़ती हैं तो मन मे निर्लिप्तता का समावेश होता है। निर्लिप्त बनने के बाद मे ही समता के साधक वन सकने का सुअवसर उपस्थित होता है। यदि आप दृढ संकल्प ले लें तो समता-दर्शन की साधना क्रमशः चार विभागों में कर सकते है, जो इस प्रकार है— (१) समता सिद्धात दर्शन (२) समता जीवन दर्शन (३) समता आत्म दर्शन तथा (४) समता परमात्म दर्शन। इस रूप में यदि समता की साधना करेंगे तो अपने परिवार एवं समाज से भी आगे बढ़कर राष्ट्र एव विश्व में आप सच्ची शान्ति फैलाने वाले वन सकेंगे। जहां तक हो सके, आप चारित्र्य एवं सत्य के धरातल पर समता के साधक बनें तथा अपने निर्लिप्त जीवन से दूसरों को भी आत्माभिमुखी बनावें।

याद रखिये कि समता की साधना मुख्यतः निर्लिप्तता पर आधारित होती है। जितनी मन में ममता है, उतना ही रोष, विक्षोभ और असन्तोष है तथा इन भावनाओं से मन में क्लेश तथा कष्ट भरा हुआ रहता है। जिन-जिन व्यक्तियों अथवा पदार्थो के प्रति ममता होती है, उनकी चिन्ता से हर समय मन मे व्याकुलता बनी रहती है। पहले चिन्ता उनको सुख देने की कामना से होती है तो बाद में चिन्ता उनके कृतघ्न बन जाने से होती है कि उन्होंने वापिस आपको सुख पहुंचाने की चेष्टा नहीं की। इस प्रकार मोह, ममता में सर्वत्र कष्ट और दुःख ही सामने आते है—सुख का क्षण तो शायद आता ही नही है और जिस सुख का कभी आपको आभास होता है तो वह आभास झूठा होता है। निर्लिप्त होने का यही अभिप्राय है कि आप इस ममता से अपना पीछा छुड़ावें

पहुंचे हुए थे और धनाढ्य परिवार अपनी-अपनी खींचातानी के लिये हजारों रुपये खर्च करने की हठ लेकर बैठे हुए थे—उन्होंने अन्तिम समय मे उदारता दिखाई और चातुर्मास समापन के वक्त अपने वैमनस्य को कम कर लिया। खींचते गये तब तक मनमुटाव खिचता रहा, किन्तु हतोत्साही नही हुए तो आप दृश्य देख ही चुके हैं। वैसा ही दृश्य सरदारशहर के लोगों का भी आप सुन चुके हैं। अच्छे काम के लिये सद् प्रयत्न करते रहें और स्वयं की निर्लेप वृत्ति प्रखर बनाये रखें तो उसका बराबर अच्छा प्रभाव पडता ही है।

मेरा मन्तव्य तो यह है कि साधु-जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। उसके आचार धर्म एवं उसकी चारित्र्यशीलता का यह सुप्रभाव होना ही चाहिये कि सम्पर्क में आने वाला सहज रीति से अपनी विषय-कषाय की वृत्तियों का परित्याग कर ले। विहार के कुछ क्षणो पहले मैं फिर कह रहा हूं कि कहीं कुछ आड़ा-टेढा हो तो अपना-अपना अवलोकन करके चातुर्मास की समाप्ति के प्रसंग से उसे सीधा करलें—इसी में आपका हित है। आप यह न सोचें कि पहल करेंगे तो उन्नीस हो जायेंगे। आप उन्नीस नही होंगे बल्कि जो पहले अपने हृदय की उदारता दिखायेगा, वह इक्कीस ही होगा और उसकी वाह-वाही होगी। यह आत्मशुद्धि का प्रसंग है और इसमे किसी को पीछे नहीं रहना चाहिये।

मैं देशनोक संघ की स्थिति को अपनी स्थिति से अवलोकन करता हुआ अवश्य कहूंगा कि देशनोक संघ मे संघ की हैसियत से अथवा पंचायत की हैसि-यत से जो कुछ प्रसंग सन्त-समागम से समाहित हुए, उनके रूपक जनमानस के लिये आदर्श बनते हैं। साधु-जीवन के सम्पर्क में आकर आप भी निर्लेप वृत्ति से शिक्षा ग्रहण करे तथा अपने जीवन में उस प्रभाव का समावेश करे—यह सराहनीय है।

चारित्र्य की आराधना से सत्य की साधना :

प्रभु महावीर की सम्यक् चारित्र्य रूपी जो आत्म-समाधि है, उसी के सहारे चतुर्विध संघ सुव्यवस्थित रूप से चल सकते है एवं इस प्रकार के चतुर्विध संघ तथा व्यक्तिशः साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका जनता के लिये आकर्षण के केन्द्र बिन्दु बनते है। इस समाधि की प्राप्ति में जो भी सहयोग करता है, उसे भी आत्मशान्ति मिलती है। महाराज हरिश्चन्द्र का सम्पूर्ण चरित्र आपने सुन लिया है और आपने हृदय मे उतारा होगा कि उन्होंने सत्य पर आचरण किया तो सत्य की कसौटी पर वे खरे उतरे। कठिन से कठिन कष्ट उनके सामने आये, लेकिन सत्य की साधना से वे विचलित नहीं हुए। अन्त मे श्मशान मे कैसा भव्य दृश्य बना कि सारी काशी की जनता उमड़ पड़ी. देवगण भी उपस्थित हुए तथा विश्वामित्र ने पश्चात्ताप किया। जनता महाराजा और महारानी को अयोध्या

में ले गई, किन्तु वे तो सत्य के साधक बन चुके थे अतः रोहित को राज्य देकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। वहां तप संयम की सुन्दर आराधना करते हुए उन्होंने आचार-समाधि की उपलब्धि की तथा केवल ज्ञान प्राप्त किया। अन्त मे वे सत्य साधक मुक्तिगामी हुए।

आप भी हरिश्चन्द्र-चरित्र से सद्गुणों को ग्रहण करें और यह समझ लें कि चारित्र्य की आराधना करते हुए जो सत्य की सफल साधना करता है, वह निर्लिप्तता के मार्ग पर आगे बढ जाता है। सत्य को आप चारित्र्य की रीढ़ की हड्डी मान सकते है जो तभी सीधी और स्वस्थ रह सकती है, जबकि निर्लेप वृत्ति का उसमे समावेश हो जाय। सत्य की साधना से सभी आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ विकास होता है।

निर्लिप्त बनकर समता के साधक बनिये :

चारित्र्य और सत्य की आराधना से आत्मस्वरूप पर चढ़े हुए लेप उतरते है और आत्मा में एक प्रकार का सुखद हल्कापन आने लगता है। यह हल्कापन निर्लेपन वृत्ति अथवा तटस्थ वृत्ति का होता है। मोह ममता के भाव कम होते है—विषाय कषय की वृत्तियां पतली पड़ती है तो मन मे निर्लिप्तता का समावेश होता है। निर्लिप्त बनने के बाद में ही समता के साधक वन सकने का सुअवसर उपस्थित होता है। यदि आप दृढ़ संकल्प ले लें तो समता-दर्शन की साधना क्रमशः चार विभागों में कर सकते है, जो इस प्रकार है— (१) समता सिद्धात दर्शन (२) समता जीवन दर्शन (३) समता आत्म दर्शन तथा (४) समता परमात्म दर्शन। इस रूप मे यदि समता की साधना करेंगे तो अपने परिवार एवं समाज से भी आगे बढ़कर राष्ट्र एंव विश्व में आप सच्ची शान्ति फैलाने वाले वन सकेंगे। जहां तक हो सके, आप चारित्र्य एवं सत्य के धरातल पर समता के साधक वनें तथा अपने निर्लिप्त जीवन से दूसरों को भी आत्माभिमुखी वनावें।

याद रखिये कि समता की साधना मुख्यतः निर्लिप्तता पर आधारित होती है। जितनी मन में ममता है, उतना ही रोष, विक्षोभ और असन्तोष है तथा इन भावनाओं से मन में क्लेश तथा कष्ट भरा हुआ रहता है। जिन-जिन व्यक्तियों अथवा पदार्थों के प्रति ममता होती है, उनकी चिन्ता से हर समय मन मे व्याकुलता बनी रहती है। पहले चिन्ता उनको सुख देने की कामना से होती है तो वाद में चिन्ता उनके कृतघ्न वन जाने से होती है कि उन्होने वापिस आपको सुख पहुंचाने की चेष्टा नहीं की। इस प्रकार मोह, ममता मे सर्वत्र कष्ट और दुःख ही सामने आते है—सुख का क्षण तो शायद आता ही नही है और जिस सुख का कभी आपको आभास होता है तो वह आभास झूठा होता है। निर्लिप्त होने का यही अभिप्राय है कि आप इस ममता से अपना पीछा छुड़ावें

तथा हृदय में तटस्थ वृत्ति धारण करें । तटस्थ वृत्ति के आ जाने पर समता की साधना सहज हो जायगी ।

जहां निर्लिप्तता वहां आनन्द :

जितना दुःख और कष्ट, जितनी चिन्ता और व्यग्रता हृदय को सताती रहती है, वह ममता के कारण ही । जब ममता छूट जाती है और हृदय समता का साधक बन जाता है, तब जीवन मे निर्लिप्तता का प्रवेश हो जाता है । निर्लिप्तता की अवस्था में सहज भाव से समदर्शिता की वृत्ति आ जाती है । सबका कल्याण हो और सबके कल्याण के लिये तटस्थ भाव से प्रयास किया जाय—यह भावना बन जाती है । उस समय में कर्त्तव्य की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की हित साधना के लिये काम किया जाता है किन्तु मोहजन्य व्याकुलता का वहां अभाव रहता है । वहां तो कर्त्तव्य करते रहने तथा सत्य, समता को साधने की पवित्र भावना के कारण आनन्द ही आनन्द व्याप्त हो जाता है ।

जहां निर्लिप्तता आ जाती है, वहां आनन्द ही आनन्द आ जाता है—वहां सच्चा आनन्द जो सर्वथा सुखद और स्थायी होता है । यह आनन्द एक बार जब आत्मा को अपनी गहराई में डूबो देता है तो आत्मा फिर उस आनन्द से बाहर निकल जाने की कभी इच्छा तक नही करती है । यह चिर आनन्द ही आत्मा को प्रिय होता है, कारण यह आनन्द सत् और चित् से प्राप्त होता है तभी आत्मा को सच्चिदानन्द का पावनतम स्वरूप प्रदान करता है । सच्चिदानन्द बन जाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अतः जो भी आत्मा इस लक्ष्य की ओर गति करने में अपना पुरुषार्थ करेगी, उसका जीवन आनन्दमय बनता जायगा ।

समता रा दूहा

❀ डॉ नरेन्द्र भानावत

(१)

सरदी–गरमी सम हुवै, पाणी परसै बीज ।
सोनो निपजै खेत में, राख्यां संयम धीज ।।

(२)

समता जीवन रो मधु, समता मीठी दाख ।
मन री थिरता नां डिगै, चावै कौड़ी–लाख ।।

(३)

घटना घट सूं नां जुड़ै, सुख-दुख व्यापै नांय ।
ममता री जड़ जद कटै, समता-बेल छवाय ।।

(४)

सबद, परस, रस, गंध में, भीगै नी मन-पाख ।
शुद्ध चेतना सूं सदा, लागी रेवै आंख ।।

(५)

कूप, नदी, सर, बावड़ी, न्यारा–न्यारा रूप ।
सब में पण जल जो लहै, एकज तत्त्व अनूप ।।

(६)

तन री बाबी मे वसै, अद्भुत आतम–साप ।
मारो, पीटो दुख नही, भीतर सुख अणमाप ।।

(७)

कूड़ा–करकट सब जलै, समता शीतल आग ।
वंजर भू पण पांगरै, साँस-साँस में बाग ।।

(८)

समता सूं जड़ता कटै, जागै जीवन–जोत ।
अन्तस मे फूटै नवा, सुख-सम्पता रा स्रोत ।।

(९)

समता–दीवो जगमगै, अंधियारो मिट जाय ।
विण बाती, विण तेल रै, घट–घट जोत समाय ।।

(१०)

जतरा दीवा सब जलै, पसरे जोत अनन्त ।
वा'रै वरखा, डूज पण, भीतर समता सन्त ।।

—सी–२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर

संयम का फल–

निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति

❀ श्रीमद् जवाहराचार्य

जिसका मन एकाग्र होता है उन्ही का संयम शोभायमान होता है और जिनमें संयम है उन्ही के मन की एकाग्रता सार्थक होती है। अतः संयम के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है:—

प्रश्न–संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ।

प्रश्न–भगवन् ! संयम से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–संयम से अनाहतपन (अनाश्रव–आते हुए कर्मों का निरोध) प्राप्त होता है ।

संयम के विषय में भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर विचार करने से पहले देखना चाहिये कि संयम क्या है ?

शास्त्र में संयम के विषय मे विस्तृत विवेचन किया गया है। उस सब का यहां विवेचन किया जाये तो वहुत अधिक विस्तार होगा। अतएव संयम के विषय में यहां सक्षेप मे ही विवेचन किया जायेगा।

आजकल संयम शब्द पारिभाषिक वन गया है। मगर विचार करने से मालूम होगा कि संयम का अर्थ वहुत विस्तृत है। शास्त्र मे संयम के सत्तरह भेद वतलाये गये हैं। इन भेदो में संयम के सभी अर्थो का समावेश हो जाता है। सयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से वतलाये गये हैं। पांच आस्रवों को रोकना, पांच इन्द्रियों को जीतना, चार कषायों का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते है—(१) पृथ्वीकाय सयम (२) अपकाय संयम (३) तेउकाय सयम (४) वायुकाय सयम (५) वनस्पतिकाय संयम (६) द्वीन्द्रियकाय सयम (७) त्रीन्द्रियकाय सयम (८) चतुरिन्द्रियकाय संयम (९) पचेन्द्रियकाय संयम (१०) अजीवकाय संयम (११) प्रेक्षा संयम (१२) उपेक्षा संयम (१३) प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना संयम (१५) मनः सयम (१६) वचन संयम (१७) काय सयम। इस तरह दो प्रकार के संयम के सत्तरह भेद है। संयम का विस्तारपूर्वक विचार करने मे सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते है।

जीवन भर के लिये पांच आस्रवों से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्त होना संयम स्वीकार करना कहलाता है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना असत्य न बोलना, मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, संसार की समस्त स्त्रियों को माता-बहिन के समान समझना और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पांच आस्रवों से निवृत्त होना और पांच महाव्रतों का पालन करना और पांच इन्द्रियों का दमन करना। पांच इन्द्रियों को दमन करने का अर्थ यह नही है कि आंख बन्द कर लेना या कान में शब्द ही न पडने देना। ऐसा करना इन्द्रियों का निरोध नही है बल्कि इन्द्रियो को विषयों की ओर जाने ही न देना इन्द्रिय-निरोध कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो अनेक अनर्थो से बचा जा सकता है।

जब तुम्हारे कान में कोई शब्द पड़ता है तो तुम्हें सोचना चाहिये–मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वगैरह प्राप्त करने का साधन है। अतएव मेरे कान में जो शब्द पड़े है वे मेरा अज्ञान बढ़ाने वाले न हो जाए, यह बात मुझे ख्याल में रखनी चाहिये। जब तुम्हारे कान मे कटुक शब्द टकराते है तब तुम्हारा हृदय काँप उठता है। मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिये कि यह तो मेरे धर्म की कसौटी है। यह कटु शब्द शिक्षा देते है कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी। अतएव कटुक शब्दो को धर्म पर स्थिर करने में सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हें लम्पट या ठग कहे तो तुम्हे सोचना चाहिए कि मैं एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह शब्द सुनने को मिलते? और उस अवस्था में कोई मुझे यह शब्द कहता। कदाचित् कोई कहता भी तो मै उन्हें समझ ही न सकता। अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियां प्राप्त हुई है तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्त्तव्य होता है? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है। मुझे सोचना चाहिये कि क्या मुझमें ये दुर्गुण है? अगर मुझमें ये दुर्गुण है तो मुझे दूर कर देना चाहिये। वह बेचारा गलत नही कह रहा है। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने में दिखाई न दें तो सोचना चाहिए—हे आत्मा! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दों को भी नही सहन कर सकता? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमें नही! यह कायरता तुझे शोभा नही देती। जो व्यक्ति अपशब्द कहता है उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दों को खराब मानता है। इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक है। इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो स्थिर रहता है, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानीजन विचार करते हैं—इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है। अपने सुन्दर

रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का संचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्गल तेरे दास बन जाएगे ।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है । मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालू । फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पड़ती है तो मुझे मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज है । मस्तिष्क से यह महल बना है, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड़ जाये तो कितनी बडी खराबी होगी ? तो फिर सुन्दर महल देखकर मैं अपना दिमाग क्यों बिगाड़ूं ? अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर संयम का पालन किया तो मेरे लिए देवो के महल भी तुच्छ बन जाएगे ।

महाभारत में व्यास की झोपडी और युधिष्ठिर के महल की तुलना की गई है और युधिष्ठिर के महल से व्यास की झोंपड़ी अधिक अच्छी बतलाई गई है । इसका कारण यह है कि जहा निवास करके आत्मा अपना कल्याण-साधन कर सके, वही स्थान ऊंचा है और जहां रहने से आत्मा का अकल्याण हो, वह स्थान नीचा है । जहां रहने से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊंचा है और जहा रहने से भावना नीची हो जाये वह स्थान नीचा है । अगर तुम इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायेगा ।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापों से बचे हुए है । जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है वह भी पहले देवलोक से नीचे नहीं जाता । मगर एक-एक पाई के लिए भी झूठ बोलना कोई श्रावकपन नही है । क्या मैं तुमसे यह आशा रखूं कि तुम असत्य भाषण न करोगे ? मगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नही चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य के बिना काम नही चलता होता तो तीर्थंकर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यों किया होता ? क्या वे इतना भी नही समझते थे ? वास्तव मे यह समझ ही भ्रमपूर्ण है । इस भूल को भूल मानकर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो । सत्य की आराधना करने में कदाचित् कोई कष्ट आ पड़े तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहो, मगर सत्य पर अटल रहो । क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने में आये हुए कष्ट सहने मे आनन्द नही माना था ? फिर आज सत्य का पालन करने आये हुए कष्टो से क्यों घबराते हो ? आज लोग व्यवहार साधने में ही लगे रहते है और समझ बैठे हैं कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नही सकता । मगर यह मानना गम्भीर भूल है । दरअसल तो सत्य के आचरण से ही व्यवहार सरल बनता है । असत्य के आचरण से व्यवहार में वक्रता आ जाती है । भगवान् ने सत्य का महत्त्व बतलाते हुए यहां तक कहा है कि 'तं सच्चं खलु भगवं ।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है । ऐसी दशा में सत्य की उपेक्षा करना कहां

तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुंचा सकता है ।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियों को और मन को वश में करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए । निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नही है । केवली भगवान् भी इसलिए परिषह सहन करते है कि हमें देखकर दूसरे लोग भी परिषह सहने की सहिष्णुता सीखें । इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करनी चाहिए' ऐसा प्रकट करते है । अतएव केवल निश्चय को ही पकड़ कर नहीं बैठा रहना चाहिए ।

इन्द्रियों और मन को वश में करने के साथ चार कषायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा काय के योग को भी रोकना चाहिए । यह सत्तरह प्रकार का संयम है ।

इस तरह सत्तरह तरह के संयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है जिसका मन एकाग्र नहीं रहता, वह इस प्रकार के उत्कृष्ट संयम का पालन नही कर सकता । शास्त्र में कहा है—

अच्छंदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ।

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थों की ओर दौड़ता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नहीं कह सकते, वह भोगी ही कहा जायेगा । इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नही जाने देता, वह उन पदार्थों का भोगी नहीं वरन् त्यागी कहलाता है ।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर संयम है या नहीं ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नही ? आज बाहर के फैशन से, बाहर के भपके से और दूसरों की नकल करने से तुम्हारे संयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फैशन से वचो और संयममय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरों का कल्याण होगा ।

संयम के फल के विषय में भगवान् ने कहा है—संयम से जीव मे अनाहतपन आता है । साधारणतया संयम का फल आस्रवरहित होना माना जाता है पर यह साक्षात् अर्थ नहीं है । संयम के साक्षात् अर्थ के विषय में टीकाकार कहते हैं—संयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिसमें कर्म की विद्यमानता ही नहीं रहती । संयम से आश्रवरहित अवस्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है । सूत्रसिद्धान्त बीज रूप में ही कोई बात कहते है । अतः उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है ।

संयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया है। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त होती है। अगर संयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय में जुदा प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने में एक वस्तु ही एक वार आती है। तप और संयम सम्बन्धी प्रश्न अलग–अलग हैं परन्तु दोनों का अर्थ तो एक ही है। चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि 'चय' का का अर्थ 'कर्मचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना है। अर्थात् कर्मचय को रिक्त (खाली)करना चारित्र है। चारित्र कहो या संयम कहो, एक ही बात है। अतः चारित्र का फल ही संयम का फल है। चारित्र का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना है और संयम का भी यही फल है।

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत–आगे आने वाला–होता है। कोई ऋण पुराना होता है और कोई आगे किया जाने वाला होता है। पुराने कर्मों की तो सीमा होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं। इस कथन का एक उद्देश्य है। जो लोग कहते हैं कि संयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग क्यों वतलाया गया है ? यदि तप और संयम का फल एक ही है तो दोनों का अलग–अलग प्रश्न रूप मे वर्णन क्यों किया गया है ? अगर दोनों का वर्णन अलग–अलग है तो तप और संयम मे क्या अन्तर है ? इन प्रश्नों का, मेरी समझ में यह उत्तर दिया जा सकता है कि संयम आगे आने वाले कर्मो को रोकता है और तप आगत अर्थात् संचित कर्मो को नष्ट करता है। संचित कर्मो की तो सीमा होती है पर अनागत कर्मो की सीमा नही होती है। संयम नवीन कर्म नहीं बंधने देता और तप पुराने कर्मो का नाश करता है। संयम असीम कर्मो को रोकता है, अतएव संयम का कार्य महान् है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है। जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊंचा माना जाता है।

इस कथन से यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का ख्याल नही करता और भविष्य का ध्यान नहीं रखता, सिर्फ वर्तमान के सुख में ही डूबा रहता है वह चक्कर मे पड़ जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे। इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध मे लड़ने के लिए जाते थे और अपने प्राणो की भी वलि चढ़ा देते थे, क्या उन्हें प्राण प्यारे नही थे ? प्राण तो उन्हे भी प्यारे थे मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न वने और कायर न हो जाये, इसी दृष्टि से वे राजपाट छोड़कर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणो को तुच्छ समझते थे।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सामने रखकर संयम के विषय में विचार

करो। जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणों की ममता त्याग कर लड़ने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के जो लोग राजपाट त्याग कर संयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे। उनकी संतान सोचती थी—हमारे पूर्वजों ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यों तृष्णा में ही फंसे रहे ? प्राचीनकाल के राजा या तो सयम पालन करते-करते मृत्यु से भेंटते थे या युद्ध करते-करते। वे घर में छटपटाते हुए नही मरते थे। आजकल के लोग तो घर में पड़े-पड़े, हाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते है। ऐसे कायर लोग अपना अकल्याण तो करते ही है, साथ ही दूसरों का भी अकल्याण करते है। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते है-हे आत्मा ! तू भूत-भविष्य का विचार करके संयम को स्वीकार कर। संयम आते हुए कर्मो को रोकता है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराता है।

कोई कह सकता है कि क्या हमें संयम स्वीकार- कर लेना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण सयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा संसार के प्रति जो ममता है उसे ही कम करो ! इतना करोगे तो भी वहुत है। आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल कर रहे है। उदाहरणार्थ—धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुए प्राप्त की जा सकती है। मगर हुआ यह कि लोगों ने इस साधन को ही साध्य समझ लिया है और वे धनोपार्जन करने में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते है। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो ? कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नही है, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नही ? सबसे पहले यही सोचो कि तुम कौन हो ? यह विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है ? तुम रक्त, हाड़ या मास नही हो। यह सब धातुए तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली है। यह बात भली-भांति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नही बनेगा, अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मानकर धनोपार्जन में ही अपना जीवन समाप्त नही कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते है कि धन आपके लिए है, आप धन के लिए नही है तो मैं पूछता हूं कि आप धन के लिए पाप तो नही करते ? असत्य भाषण, विश्वासघात और पिता-पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होते है ? धन के लिए ही सब होता है। धन से ससार मे क्लेश-कलह होना इस बात का प्रमाण है कि लोगो ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगों की इस भूल के कारण ही संसार में दु:ख व्याप रहा है। धन को साध्य मानने के वदले साधन माना जाये और लोकहित मे उसका सद्व्यय किया जाये तो कहा

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में सातवां कारण संस्कारों का अभाव है। इसी कारण अच्छे कुल या उत्तम खानदान का बड़ा महत्व समझा जाता है और संबंध जोडते समय उत्तम खानदान और पवित्र कुल का विचार किया जाता है। क्योंकि उत्तम खानदान मे सुन्दर संस्कार कूट-कूट कर भरे होते है। कितने ही भयो या प्रलोभनो के आने पर भी सुसंस्कार प्रेरित व्यक्ति कभी असंयम के रास्ते पर नही जाता परन्तु सुसंस्कार भी विरले लोगों को ही मिलते हैं।

संयम में पुरुपार्थ की दुर्लभता में आठवां कारण संयम मार्ग की मर्यादा पर सतत दीर्घकाल तक दृढ न रहना है। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव होता है कि वह एक ही चीज पर बहुत लम्बे समय तक टिका नही रहता, उससे ऊब जाता है, या थक जाता है अथवा हताश हो जाता है जैसे भोजन में भी एक ही चीज आए तो आप उससे अरुचि करने लगते है, वैसे ही मनुष्य साधना में भी नये स्वाद को अपनाने के लिए लालायित रहता है। संयममार्ग वैसे तो नीरस नही है, परन्तु भौतिकता की चकाचौध से मनुष्य उसे नीरस और रूखा समझने लगता है और यहां तक कहने लगता है कि अब कहां तक इस संयम की रट लगाते रहेगे। इस कारण कई वर्ष तक मनुष्य सयममार्ग की मर्यादा पर चल कर फिर उसे छोड़ बैठता है। इसी कारण को लेकर संयम मे पुरुपार्थ पर टिके रहना बड़ा दुर्लभ बताया है। कोई भी साधना तब तक आनन्ददायक या सफल नही होती जब तक कि दीर्घकाल तक आदर और श्रद्धापूर्वक निरंतर उसका सेवन न किया जाय। योगदर्शन मे महर्षि पतन्जलि ने कहा है—

स तु दीर्घतर–नैरन्तर्य–सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

"चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग तभी सुदृढ होता है, जबकि दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक उसका सेवन किया जाय।"

भाग्यशालियो! संयम में पुरुपार्थ की दुर्लभता के इन कारणों पर गहराई से विचार करे। संयम का जीवन में तो अनिवार्य स्थान और महत्त्व है, उसे समझकर, आदरपूर्वक यदि उसे जीवन का अंग बना लेगे तो आपके लिए संयम नीरस नहीं सरस बन जायगा, दुर्लभ नही, सुलभ हो जायगा। संयम जीवन के लिए अमृत है। असंयम नैतिक मृत्यु है। जिसकी आत्मा सहज संयम में स्थिर हो जाता है, उसके लिए संयम में पुरुपार्थ सरल हो जाता है। बल्कि संयम मे पुरुपार्थ को वह स्वाभाविक और असयम मे रमण को अस्वाभाविक समझने लगता है।

संयम में पुरुपार्थ का रहस्य :

संयम मे पुरुपार्थ का मतलब कोई यह न समझ ले कि सबको घर-बार, धन-संपत्ति छोडकर साधु बन जाना है। साधु जीवन की साधना तो उच्च संयम की साधना है ही, लेकिन गृहस्थ जीवन में भी संयम की आवश्यकता होती है।

संयग का अर्थ केवल ब्रह्मचर्य पालन कर लेना भी नही है । ब्रह्मचर्य, चाहे वह मर्यादित हो चाहे पूर्ण, संयम का प्रधान अंग जरूर है, लेकिन इतने में ही संयम की इति, समाप्ति नही हो जाती । अतः चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या सन्यासी, साधु हो, प्रत्येक अवस्था मे संयम में पुरुषार्थ की जरूरत रहती है, फिर वह चाहे अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ही क्यों न हो । और संयम का वास्तविक अर्थ यहां पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, काया, चार कषाय, हाथ-पैर तथा सासारिक पदार्थो, यहां तक कि षट् काया (सृष्टि के सभी प्राणियों) के प्रति सयम से है । स्वेच्छा से भली-भाति इन्द्रिय, मन आदि पर अंकुश रखना, नियंत्रण रखना संयम है ।

श्रोत्रेन्द्रिय संयम का अर्थ यह नही है कि कानों से आप सुने ही नही या कान की श्रवणशक्ति को खत्म कर दे । अपितु कानों के द्वारा गंदी, निन्दात्मक या अश्लील बात या गायन न सुने । अगर कभी कानो में पड़ भी जाय तो उस पर से आसक्ति या राग-द्वेष न लावें । फिल्मी गीत सुनने हों तो आपके कान सदैव तैयार रहे और आध्यात्मिक संगीत सुनने में अरुचि दिखाएं तो समझना चाहिए कि श्रोतेन्द्रिय संयम नही है । दूसरे की निन्दा की बाते या अपनी प्रशंसा की बाते सुनने के लिए आपके कान सदा तैयार रहें और अपनी निन्दा और दूसरों की तारीफ हो रही हो, वहां मन में द्वेषभाव भडक उठे तो समझना चाहिए श्रोतेन्द्रिय सयम नही है ।

चक्षुरन्द्रिय संयम का अर्थ है—आंखो से किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर राग या द्वेष की भावना न लावे । आंखों पर सयम कैसे होता है, इसके लिए रामायण का एक भव्य उदाहरण लीजिये—

रामचन्द्रजी जब १४ वर्ष के लिए अयोध्या छोडकर वनवास को गए तब सीताजी तो साथ में थी ही, लक्ष्मण भी साथ मे थे । एक बार जब रावण मर्यादा का उल्लंघन करके पतिव्रता सती सीता को बलात् अपहरण करके ले जाने लगा तो सती सीता ने अत्याचारी रावण के पंजे से छूटने का बहुतेरा उपाय किया । लेकिन जब वह इसमे सफल न हुई तो वह जिस रास्ते से विमान द्वारा ले जाई जा रही थी, उस रास्ते मे एक-एक करके अपने गहने उतार कर डालती गई, ताकि भगवान राम उस पथ को जान सके । इधर जब राम और लक्ष्मण पंचवटी को लौटे और कुटिया को सूनी देखा तो सीता के विरह मे राम व्याकुल हो उठे । अपने भाई लक्ष्मण को साथ लेकर वे सीता की खोज मे चल पड़े । रास्ते मे जब वे बिखरे हुए गहने मिले तो राम ने लक्ष्मण से कहा—"भाई ! मेरा मन इस समय सीता के वियोग मे व्याकुल हो रहा है, दृष्टि पर अंधेरा छाया हुआ है, अतः मै देखकर भी निर्णय नही कर पा रहा हूं कि आभूषण किसके है ? अब तू ही भली भांति जांच-पारख कर बता कि ये आभूपण तेरी

भाग्यशालियो ! काफी विस्तार से मैं आपको संयम मे पुरुषार्थ के बारे मे कह चुका हूं। आप अपने जीवन मे सयम को स्थान देंगे तो उससे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ होंगे, इसमे कोई सन्देह नहीं। संयमी जीवन स्वयं ही अमृतमय, सुखमय और सतोषमय होता है। अतः मन मे दृढ निश्चय कर ले—**असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपवज्जामि**—असंयम के परिणामों को भलीभांति जानकर मै सयम को स्वीकार करता हूं।

संयम : पारदर्शी दोहे

❀ छंदराज पारदर्शी

(१)

मन्दिर-मस्जिद चर्च सब, इस तन को ही मान।
संयम से उपयोग कर, तू खुद ही भगवान ॥ १ ॥

(२)

मन उलट नम जायगा, पाएगा आशीष।
संयम से संसार में, मिल जाते जगदीश ॥ २ ॥

(३)

जीव अनेकों जगत में, पैदा हो मर जाय।
संयम रख जनहित करें, वे ही अमर कहाय ॥ ३ ॥

(४)

सुख-दुःख में समता रहे, करे भले सब काम।
संयम मे जीवन रमा, सन्त उसी का नाम ॥ ४ ॥

(५)

तन-धन की तकरार है, रूप-मोह बेकार।
भावना में भगवान हो, कोई नाम पुकार ॥ ५ ॥

(६)

मरना सबको आयगा, जीना-जीना जान।
आत्मा तो मरती नहीं, अमर बना पहचान ॥ ६ ॥

(७)

मरघट पर सब देख लें, समता की तस्वीर।
एक साथ ही जल रहे, राजा-रंक-फकीर ॥ ७ ॥

—२६१ ताम्बावती मार्ग, उदयपुर

दीक्षाधारी अकिंचन सोहता

❀ आचार्य श्री आनन्दऋषि जी म.सा.

साधु वेषधारक भारतवर्ष में आज लगभग ७० लाख है परन्तु इनमें सच्चे साधु या मुनि–दीक्षाधारी कितने है ? यह गम्भीर प्रश्न है। अगर सच्चे दीक्षाधारी साधु अल्पसंख्या में भी होते तो वे अपने और समाज के जीवन का कायाकल्प, सुधार या उद्धार कर पाते । परन्तु आज जहां देखे, वहा तथाकथित साधुओं में सम्पत्ति और जमीन जायदाद के लिए झगड़ा हो रहा है, आये दिन अदालतों मे मुकदमेबाजी होती है। कही जातीय कलह है तो कहीं गांव का, तो कहीं स्थान का है, उनके पीछे तथाकथित साधुओं का हाथ है । ये सब झंझट अपना घर-बार और जमीन-जायदाद छोड़कर साधुदीक्षा लेने वाले के पीछे क्यों होते है ? इन सबका एकमात्र हल क्या है ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के लिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी

'दीक्षाधारी साधु तो अकिंचन ही सोहता है ।'

साधु की शोभा निस्पृहता है :

अब हम इस पर गहराई से विचार करें कि दीक्षाधारी साधु सच्चे माने में कौन है ? वह किस उद्देश्य से दीक्षित होता है ? उसका अकिंचन रहना क्यो आवश्यक है ? साधुदीक्षा लेने के बाद अकिचन साधु किस तरह परिग्रह या संग्रह की मोहमाया में फंस जाता है ? अकिचन बने रहने के उपाय क्या है ? तथा अकिचनता के लिए आवश्यक गुण कौन-कौन से है ?

सच्चा दीक्षाधारी साधु–जीवन स्वीकार करते समय अपने घर–बार, जमीन–जायदाद, कुटुम्ब–परिवार एवं सोना–चांदी आदि सभी प्रकार के परिग्रह को हृदय से छोड़ता है । वह इसलिए इन सबको छोड़ता है कि इन सबसे संबं–धित ममत्व–बन्धन, आसक्ति और मोह न हो तथा इन दोषों के उत्पन्न होने के साथ ही लड़ाई-झगड़े, कलह, क्लेश, अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता आदि पैदा न हों । यह निश्चित है कि जब दीक्षाधारी साधु परिग्रह के प्रपंचों में पड़ जाता है, तब उसकी मानसिक शान्ति, निश्चिन्तता, सन्तोषवृत्ति एवं निर्ममत्व भावना समाप्त हो जाती है, और वह स्व–परकल्याण साधना नही कर सकता । भले ही उसका वेश साधु का होगा, परन्तु उसकी वृत्ति से साधुता, निर्लोभता, निर्ममत्व, शान्ति और निश्चिन्तता पलायित हो जाएंगे ।

साधु जीवन अंगीकार करने का जो उद्देश्य था–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना द्वारा कार्यक्षय करके मोक्ष प्राक्ष प्राप्त करने का, वह इस प्रकार की

परिग्रहवृत्ति–ममत्वग्रन्थि आ जाने पर लुप्त हो जाता है। अतः अगर संक्षेप में सच्चा दीक्षाधारी कौन है? यह बताना हो तो हम कह सकते है—जो निर्ग्रन्थ है, अपरिग्रही है, वही वास्तव में सच्चा दीक्षाधारी साधु है, और उसकी शोभा अकिंचन बने रहने में है। वही जिसके जीवन मे बाह्य और आभ्यन्तर किसी प्रकार के परिग्रह की ग्रन्थि न हो, वही सच्चा गुरु है, सच्चा दीक्षित मुनि या श्रमण है।

केवल घर-बार छोडने या धन-सम्पत्ति का त्याग कर देने मात्र से कोई सच्चा साधु नही माना जा सकता, जब तक कि उसके अन्तर से त्यागवृत्ति न हो, उन वस्तुओं—सचित्त या अचित्त पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति, मोह या लालसा न छूटे, उसके मन से इच्छाओ, कामनाओं का त्याग न हो। यहां तक कि अपने धर्मस्थान, शरीर, शिष्य तथा विचरण-क्षेत्र, शास्त्र, पुस्तक आदि पर भी उसके मन मे ममत्व, स्वामित्वभाव या लगाव न हो। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है---

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से॥

'निर्ग्रन्थ-मर्यादा का भग करके जिस किसी वस्तु का संग्रह करने की वृत्ति को मै आन्तरिक लोभ की झलक मानता हूं। अतः जो संग्रह करने की वृत्ति रखते है, वे प्रव्रजित-दीक्षित नही, अपितु सासारिक प्रवृत्तियों में रचे-पचे गृहस्थ है।'

दीक्षा ग्रहण करने से पहले साधु ने जिन मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयभोगों की मनोहर, प्रिय वस्त्र, अलंकार, स्त्रीजन, शय्या आदि को स्वेच्छा से छोड़ा है, उन्ही मनोज्ञ, प्रिय एव कमनीय भोग्य वस्तुओं की मन में लालसा रखना, उनकी प्राप्ति हो सकती हो या न हो सकती हो, फिर भी उनके लिए मन में कामनाएं सजोना, त्यागी का लक्षण नहीं है, वह अत्यागी है।

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥

—दशवैकालिक अ० २

दीक्षित साधु के समक्ष धन का ढेर लगा होगा, सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं पड़ी होंगी, अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ सामने धरे होंगे, तो भी वह उनको लेने के लिए मन में विचार नही करेगा। जैसे कमल कीचड़ में पैदा होते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही सच्चा दीक्षाधारी साधु पंक-सम संसार और समाज में रहते हुए भी उनकी प्रवृत्तियों से अलिप्त रहेगा। वह अपने मन मे संसार नहीं बसाएगा।

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु अपरिग्रही, निर्ममत्व, अनासक्त, निर्लेप, निर्ग्रन्थ एवं अकिंचन होना चाहिए। सांसारिक बातों का किसी प्रकार रंग या लेप उस पर नहीं होना चाहिए। त्यागी बनकर जो उस त्याग की मन-वचन-काया से अप्रमत्त एवं जागरुक होकर साधना करता है, वही सच्चा दीक्षाधारी है; वही स्व-पर-कल्याणसाधक सच्चा साधु है। जो स्वयं संसार की मोह-माया मे पड़ जाता है, वह साधु-जीवन के उद्देश्य के अनुसार कर्मबन्धन से मुक्त नही हो सकता और न ही ससार की मोहमाया में पड़े हुए तथा कर्मबन्धनों में लिपटे हुए लोगों को सच्चा मार्गदर्शन दे सकता है। साधुदीक्षा ग्रहण करके पुनः सांसारिक प्रवृत्तियों में पड़ने वाला व्यक्ति 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाता है।

दीक्षा रा दूहा

डॉ. नरेन्द्र भानावत

(१)

दीक्षा तम में जोत ज्यूं, खोलै हिय री आंख।
जीवन-नभ में उडण नै, ज्ञान–क्रिया री पांख॥

(२)

विषय-वासना पर विजय, दीक्षा शक्ति अनन्त।
तन-मन री जड़ता मिटै प्रगटै ज्ञान बसन्त॥

(३)

भव-नद उलझ्या जीव-हित, दीक्षा निरमल द्वीप।
गुण-मोती उपजै सदा, विकसै मन री सीप॥

(४)

करम-लेवड़ा उतरै, तप संयम रो लेप।
आतम वै परमातमा, मिटै बीच रो 'गैप'॥

(५)

भटक्या नै मारग मिलै, अटक्या नै आधार।
मझधारां नै तट मिलै, उतरै भव रो भार॥

धर्म-साधना में जैन साधना की विशिष्टता

❀ आचार्य श्री हस्तीमल जी म. सा.

साधना का महत्त्व और प्रकार :

साधना मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। संसार मे विभिन्न प्रकार के प्राणी जीवन-यापन करते है, पर साधना-शून्य होने से उनके जीवन का कोई महत्त्व नही आका जाता। मानव साधना–शील होने से ही सब मे विशिष्ट प्राणी माना जाता है। किसी भी कार्य के लिये विधि पूर्वक पद्धति से किया गया कार्य ही सिद्धि-दायक होता है। भले वह अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष में से कोई हो। अर्थ व भोग की प्राप्ति के लिये भी साधना करनी पड़ती है। कठिन से कठिन दिखने वाले कार्य और भयकर स्वभाव के प्राणी भी साधना से सिद्ध कर लिये जाते है। साधना मे कोई भी कार्य ऐसा नही जो साधना से सिद्ध न हो। साधना के बल से मानव प्रकृति को भी अनुकूल बना कर अपने अधीन कर लेता है और दुर्दान्त देव-दानव को भी त्याग, तप एव प्रेम के दृढ़ साधन से मनोनुकूल बना पाता है। वन, में निर्भय गर्जन करने वाला केशरी सर्कस मे मास्टर क सकेत पर क्यो खेलता है ? मानव की यह कौन-सी शक्ति है, जिससे सिह, सर्प जैसे भयावने प्राणी भी उससे डरते है। यह साधना का ही बल है। संक्षेप मे साधना को दो भागो मे बांट सकते है—लोक साधना और लोकोत्तर साधना। देश-साधना मत्र-साधना, तन्त्र–साधना, विद्या–साधना आदि काम निमित्तक की जाने वाली सभी साधनाये लौकिक और धर्म तथा मोक्ष के लिये की जाने वाली साधना लोकोत्तर या आध्यात्मिक कही जाती है। हमें यहा उस अध्यात्म–साधना पर ही विचार करना है, क्योंकि जैन साधना अध्यात्म साधना का ही प्रमुख अग है।

जैन साधना : आस्तिक दर्शनो ने दृश्यमान् तन-धन आदि जड जगत से चेतना सम्पन्न आत्मा को भिन्न और स्वतत्र माना है। अनन्तानन्त शक्ति सम्पन्न होकर भी आत्मा कर्म सयोग से, स्वरूप से च्युत हो चुका है। उसकी अनन्त शक्ति पराधीन हो चली है। वह अपने मूल धर्म को भूल कर दुःखी, विकल और चिन्तामग्न दृष्टिगोचर होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म का आवरण दूर हो जाय तो जीव और शिव मे, आत्मा एव परमात्मा में कोई भेद नही रहता।

कर्म के पाश में बधे हुए आत्मा को मुक्त करना प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों का लक्ष्य है, साध्य है। उसका साधन धर्म ही हो सकता है, जैसा कि सूक्ति मुक्तावली मे कहा है—

> **त्रिवर्ग संसाधनमन्तरेण, पशोरिवायु विफलं नरस्य।**
> **तत्राऽपि धर्म प्रवरं वदन्ति, नतं विनोयद् -भवतोर्थकामौ।**

धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की साधना के बिना मनुष्य का जीवन पशु की तरह निष्फल है। इनमें भी धर्म मुख्य है क्योंकि उसके बिना अर्थ एवं काम सुख रूप नहीं होते। धर्म साधना से मुक्ति को प्राप्त करने का उपदेश सब दर्शनो ने एक–सा दिया है। कुछ ने तो धर्म का लक्षण ही अभ्युदय एवं निश्रेयस,मोक्ष की सिद्धि माना है। कहा भी है—'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि रसौ धर्म' परन्तु उनकी साधना का मार्ग भिन्न है। कोई 'भक्ति रे कैव मुक्तिदा' कहकर भक्ति को ही मुक्ति का साधन कहते है। दूसरे 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः ससिद्धि लभते नर' शब्द ब्रह्म में निष्णात पुरुष की सिद्धि बतलाते है, जैसा कि सांख्य आचार्य ने भी कहा है—

पंच विंशति तत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः
जटी मुंडी शिखी वाऽपि, मुच्यते नाम संशयः।

अर्थात् पच्चीस तत्त्व की जानकारी रखने वाला साधक किसी भी आश्रम में और किसी भी अवस्था में मुक्त हो सकता है। मीमांसकों ने कर्म काण्ड को ही मुख्य माना है। इस प्रकार किसी ने ज्ञान को, किसी ने एकान्त कर्म काण्ड-क्रिया को तो किसी ने केवल भक्ति को ही सिद्धि का कारण माना है। परन्तु वीतराग अर्हन्तों का दृष्टिकोण इस विषय में भिन्न रहा है। उनका मन्तव्य है कि—एकान्त ज्ञान या क्रिया से सिद्धि नहीं होती, पूर्ण सिद्धि के लिये ज्ञान, श्रद्धा और चरण-क्रिया का संयुक्त आराधन आवश्यक है। केवल अकेला ज्ञान गति हीन है तो केवल अकेली क्रिया अन्धी है, अतः कार्य-साधक नही हो सकते। जैसा कि पूर्वाचार्यो ने कहा है—'हयं नाणं क्रिया हीणं हया अन्नाणओ क्रिया'। वास्तव में क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों सिद्धि में असमर्थ होने से व्यर्थ हैं। ज्ञान से चक्षु की तरह मार्ग-कुमार्ग का बोध होता है, गति नही मिलती। बिना गति के, आँखों से रास्ता देख लेने भर से इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं होती। मोदक का थाल आँखो के सामने है फिर भी बिना खाये भूख नहीं मिटती। वैसे ही ज्ञान से तत्वातत्व और मार्ग-कुमार्ग का बोध होने पर भी तदनुकूल आचरण नहीं किया तो सिद्धि नही मिलती। ऐसे ही क्रिया है, कोई दौड़ता है पर मार्ग का ज्ञान नहीं तो वह भी भटक जायगा। ज्ञान शून्य क्रिया भी घाणी के बैल की तरह भव-चक्र से मुक्त नहीं कर पाती। अतः शास्त्रकारों ने कहा है—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'। ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधन से ही सिद्धि हो सकती है। बिना ज्ञान की क्रिया–बाल तप मात्र हो सकती है, साधना नहीं। जैनागमों में कहा है—

नाणेण जाणइ भावं, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेणं परिसुझंइ।

अर्थात्—ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि भावों को जानना, हेय और उपादेय को पहचानना, दर्शन से तत्वातत्व यथार्थ श्रद्धान करना। चारित्र से आने वाले

रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्म का क्षय करना, यही संक्षेप मे मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्वल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन वना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एवं मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्ण ज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और वाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तों ने कहा—साधकों ! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा में सहज नही है। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी में मल और दाहकता की तरह विकार हैं। अग्नि और मिट्टी का सयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप मे आ जाता है। वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते है, आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसका सीवा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करें। क्योकि जव तक नये दोष होते रहेंगे—कर्म-मल वढता रहेगा और उस स्थिति मे सचित को क्षीण करने की साधना सफल नही होगी। अतः आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिसा आदि पाप वृत्तियो से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि वाह्य और अन्तरंग तप किये जाय तो सचित कर्मो का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना : शास्त्र में चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये है—१. देश विरति साधना और २. सर्व विरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरंभ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापों के त्याग की असमर्थ दशा मे गृहस्थ हिसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिंसा आदि पापों का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सासारिक विक्षेप के कारण वैसा कर नही पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व काम का सेवन करते हुये भी वह जीवन मे धर्म को प्रमुख समझकर चलता है। जहाँ भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो वहाँ वह इच्छा का सवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-वल वढाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे वढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनो में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य,

अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करे ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्य धर्म, हिसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नही माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य, और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-सग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नही करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य मे भी दिखावे की दृष्टि नही रखते हुए अनावश्यक हिसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप मे नहीं।

'असंतुष्टा द्विजानष्टा:, सन्तुष्टाश्च मही भुज:' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य मे सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदायन जैसे राजाओं ने भी इच्छा परिमाण कर संसार मे शान्ति कायम रखने की स्थिति का अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एव परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना : सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय से सम्पूर्ण हिसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नही, अन्य से करवाना नही और हिसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नही, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवो की भी जिसमे हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नही करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे है, यह कह कर वह कडी सर्दी मे भी वहाँ तपने को नही बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नही करता, और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो वहाँ नही ठहरता। उसकी अहिसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक राग दशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक

रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्म का क्षय करना, यही संक्षेप में मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्बल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन बना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एवं मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्ण ज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और बाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तों ने कहा—साधकों ! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा मे सहज नहीं है। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी मे मल और दाहकता की तरह विकार हैं। अग्नि और मिट्टी का संयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते है, आत्मा अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। इसका सीधा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करें। क्योंकि जब तक नये दोष होते रहेंगे—कर्म-मल बढ़ता रहेगा और उस स्थिति में सचित को क्षीण करने की साधना सफल नही होगी। अतः आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिसा आदि पाप वृत्तियों से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि बाह्य और अन्तरंग तप किये जाय तो संचित कर्मो का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना : शास्त्र मे चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं—१. देश विरति साधना और २. सर्व विरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरंभ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापो के त्याग की असमर्थ दशा में गृहस्थ हिंसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिसा आदि पापो का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सांसारिक विक्षेप के कारण वैसा कर नही पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व काम का सेवन करते हुये भी वह जीवन में धर्म को प्रमुख समझकर चलता है। जहाँ भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो वहाँ वह इच्छा का सवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतों में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढ़ने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनों में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नही मिलता, उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य,

अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करे ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्य धर्म, हिंसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा है जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एव विवाह आदि को धर्म नही माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य, और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिसा को भी हिसा मानते हुए रसानुभूति नही करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नहीं करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नही रखते हुए अनावश्यक हिंसा से बचना धर्म है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर मे हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह में दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नही।

'असंतुष्टा द्विजानष्टा:, सन्तुष्टाश्च मही भुज:' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण बतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य मे सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदायन जैसे राजाओ ने भी इच्छा परिमाण कर संसार मे शान्ति कायम रखने की स्थिति मे अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना : सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एव काय से सम्पूर्ण हिसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापो का त्याग होता है। स्वय किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नहीं, अन्य से करवाना नही और हिसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नहीं, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवो की भी जिसमे हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नही करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे है, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नही बैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाड़ी का भी वह उपयोग नही करता, और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो वहाँ नही ठहरता। उसकी अहिसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक राग दशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक

रागादि विकार और तज्जन्य कर्म दलिकों को रोकना एवं तपस्या से पूर्व संचित कर्म का क्षय करना, यही संक्षेप मे मुक्ति मार्ग या आत्म-शुद्धि की साधना है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और आनन्द का भंडार होकर भी अल्पज्ञ, निर्बल, अशक्त और शोकाकुल एवं विश्वासहीन बना हुआ है। हमारा साध्य उसके ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द गुण को प्रकट करना है। अज्ञान एव मोह के आवरण को दूर कर आत्मा के पूर्ण ज्ञान तथा वीतराग भाव को प्रकट करना है। इसके लिये अन्धकार मिटाने के लिये प्रकाश की तरह अज्ञान को ज्ञान से नष्ट करना होगा और बाह्य-आभ्यान्तर चारित्र भाव से मोह को निर्मूल करना होगा। पूर्ण द्रष्टा सन्तो ने कहा—साधकों ! अज्ञान और राग-द्वेषादि विकार आत्मा में सहज नही है। ये कर्म-संयोग से उत्पन्न पानी मे मल और दाहकता की तरह विकार है। अग्नि और मिट्टी का संयोग मिलते ही जैसे पानी अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। वैसे ही कर्म-संयोग के छूटने पर अज्ञान एवं राग-द्वेषादि विकार भी आत्मा से छूट जाते है, आत्मा अपने शुद्ध रूप मे आ जाता है। इसका सीधा, सरल और अनुभूत मार्ग यह है कि पहले नवीन कर्म मल को रोका जाय, फिर संचित मल को क्षीण करने का साधन करे। क्योंकि जब तक नये दोष होते रहेगे—कर्म-मल बढता रहेगा और उस स्थिति में सचित को क्षीण करने की साधना सफल नही होगी। अत: आने वाले कर्म-मल को रोकने के लिये प्रथम हिसा आदि पाप वृत्तियो से तन-मन और वाणी का संवरण रूप संयम किया जाय और फिर अनशन, स्वाध्याय, ध्यान आदि बाह्य और अन्तरंग तप किये जाय तो संचित कर्मो का क्षय सरलता से हो सकेगा।

आचार-साधना : शास्त्र में चारित्र-साधना के अधिकारी भेद से साधना के दो प्रकार प्रस्तुत किये गये है—१. देश विरति साधना और २. सर्व विरति साधना। प्रथम प्रकार की साधना आरभ-परिग्रह वाले गृहस्थ की होती है सम्पूर्ण हिंसादि पापों के त्याग की असमर्थ दशा मे गृहस्थ हिसा आदि पापों का आंशिक त्याग करता है। मर्यादाशील जीवन की साधना करते हुये भी पूर्ण हिंसा आदि पापो का त्याग करना वह इष्ट मानता है, पर सांसारिक विक्षेप के कारण वैसा कर नही पाता। इसे वह अपनी कमजोरी मानता है। अर्थ व काम का सेवन करते हुये भी वह जीवन मे धर्म को प्रमुख समझकर चलता है। जहाँ भी अर्थ और काम से धर्म को ठेस पहुँचती हो वहाँ वह इच्छा का सवरण कर लेता है। मासिक छः दिन पौषध और प्रतिदिन सामायिक की साधना से गृहस्थ भी अपना आत्म-बल बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्रतिक्रमण द्वारा प्रातः सायं अपनी दिनचर्या का सूक्ष्म रूप से अवलोकन कर अहिंसा आदि व्रतो में लगे हुए, दोषों की शुद्धि करता हुआ आगे बढने की कोशिश करे, यह गृहस्थ जीवन की साधना है।

अन्य दर्शनो में गृहस्थ का देश साधना का ऐसा विधान नहीं मिलता उसके नीति धर्म का अवश्य उल्लेख है, पर गृहस्थ भी स्थूल रूप से हिंसा, असत्य

अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह की मर्यादा करे ऐसा वर्णन नहीं मिलता। वहाँ कृषि-पशुपालन को वैश्य धर्म, हिसक प्राणियों को मार कर जनता को निर्भय करना क्षत्रिय धर्म, कन्यादान आदि रूप से संसार की प्रवृत्तियों को भी धर्म कहा हैं जबकि जैन धर्म ने अनिवार्य स्थिति में की जाने वाली हिंसा और कन्यादान एवं विवाह आदि को धर्म नही माना है। वीतराग ने कहा—मानव ! धन-दारा-परिवार और राज्य पाकर भी अनावश्यक हिंसा, असत्य, और संग्रह से बचने की चेष्टा करना, विवाहित होकर स्वपत्नी या पति के साथ सन्तोष या मर्यादा रखोगे, जितना कुशील भाव घटाओगे, वही धर्म है। अर्थ-संग्रह करते अनीति से बचोगे और लालसा पर नियन्त्रण रखोगे, वह धर्म है। युद्ध में भी हिसा भाव से नहीं, किन्तु आत्म रक्षा या न्याय की दृष्टि से यथाशक्य युद्ध टालने की कोशिश करना और विवश स्थिति में होने वाली हिसा को भी हिंसा मानते हुए रसानुभूति नही करना अर्थात् मार कर भी हर्ष एवं गर्वानुभूति नही करना, यह धर्म है। घर के आरम्भ में परिवार पालन, अतिथि तर्पण या समाज रक्षण कार्य में भी दिखावे की दृष्टि नही रखते हुए अनावश्यक हिसा से बचना **धर्म** है। गृहस्थ का दण्ड-विधान कुशल प्रजापति की तरह है, जो भीतर में हाथ रख कर बाहर चोट मारता है। गृहस्थ संसार के आरम्भ-परिग्रह मे दर्शक की तरह रहता है, भोक्ता रूप में नही।

'असंतुष्टा द्विजानष्टाः, सन्तुष्टाश्च मही भुजः' की उक्ति से अन्यत्र राजा का सन्तुष्ट रहना दूषण वतलाया गया है, वहाँ जैन दर्शन ने राजा को भी अपने राज्य मे सन्तुष्ट रहना कहा है। गणतन्त्र के अध्यक्ष चेटक महाराज और उदायन जैसे राजाओ ने भी इच्छा परिमाण कर संसार मे शान्ति कायम रखने की स्थिति में अनुकरणीय चरण बढ़ाये थे। देश संयम द्वारा जीवन-सुधार करते हुए मरण-सुधार द्वारा आत्म-शक्ति प्राप्त करना गृहस्थ का भी चरम एवं परम लक्ष्य होता है।

सर्वविरति साधना : सम्पूर्ण आरम्भ और कनकादि परिग्रह के त्यागी मुनि की साधना पूर्ण साधना है। जैन मुनि एवं आर्या को मन, वाणी एवं काय से सम्पूर्ण हिसा, असत्य, अदत्त ग्रहण, कुशील और परिग्रह आदि पापों का त्याग होता है। स्वयं किसी प्रकार के पाप का सेवन करना नही, अन्य से करवाना नही और हिसादि पाप करने वाले का अनुमोदन भी करना नही, यह मुनि जीवन की पूर्ण साधना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों की भी जिसमे हिंसा हो, वैसे कार्य वह त्रिकरण त्रियोग से नही करता। गृहस्थ अपने लिए आग जला कर तप रहे है, यह कह कर वह कड़ी सर्दी में भी वहाँ तपने को नही वैठता। गृहस्थ के लिए सहज चलने वाली गाडी का भी वह उपयोग नही करता, और जहाँ रात भर दीपक या अग्नि जलती हो वहाँ नही ठहरता। उसकी अहिसा पूर्ण कोटि की साधना है। वह सर्वथा पाप कर्म का त्यागी होता है।

फिर भी जब तक राग दशा है, साधना की ज्योति टिमटिमाते दीपक

की तरह अस्थिर होती है। जरा से झोंके में उसके गुल होने का खतरा है। हवादार मैदान के दीपक की तरह उसे विपय-कषाय एव प्रमाद के तेज झटके का भय रहता है। एतदर्थ सुरक्षा हेतु आहार-विहार-संसर्ग और संयम पूर्ण दिनचर्या की कांच भित्ति में साधना के दीपक को मर्यादित रखा जाता है।

साधक को अपनी मर्यादा मे सतत जागरूक तथा आत्म निरीक्षक होकर चलने की आवश्यकता है। वह परिमित एव निर्दोष आहार ग्रहण करे, अपने से हीन गुणी की संगति नही करे। साध्वी का पुरुप मण्डल से और साधु का स्त्री जनों से एकान्त तथा अमर्यादित संग न हो क्योंकि अति परिचय साधना में विक्षेप का कारण होता है। सर्व विरति साधकों के लिए शास्त्र मे कहा है—"गिहि संथव न कुन्जा, कुज्जा साहुहि सथव"।

साधनाशील पुरुष संसारी जनों का अधिक सग-परिचय न करे। वह साधक जनों का ही संग करे। इससे साधक को साधना में वल मिलेगा और संसार के काम, क्रोध, मोह के वातावरण से वह वचा रह सकेगा। साधना मे आगे वढने के लिए यह आवश्यक है कि साधक महिमा, पूजा और अहकार से दूर रहे।

साधना के सहायक :—जैनाचार्यो ने साधना के दो कारण माने है, अन्तरंग और वहिरंग। देव, गुरु, सत्सग, शास्त्र और स्वरूप शरीर एव शान्त, एकान्त स्थान आदि को वहिरंग साधन माना है। जिसको निमित्त कहते है। वहिरंग साधन वदलते रहते है। प्रशान्त मन और ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तर साधन है। इसे अनिवार्य माना गया है। शुभ वातावरण मे आन्तरिक साधन अनायास जागृत होता और क्रियाशील रहता है। पर विना मन की अनुकूलता के वे कार्यकारी नहीं होते। भगवान् महावीर का उपदेश पाकर भी कूणिक अपनी वढी हुई लालसा को शान्त नही कर सका, कारण अन्तर साधन प्रशान्त मन नही था। सामान्य रूप से साधना की प्रगति के लिए स्वस्थ-समर्थ-तन, शान्त एकान्त स्थान विघ्न रहित अनुकूल समय, सवल और निर्मल मन तथा शिथिल मन को प्रेरित करने वाले गुणाधिक योग्य साथी की नितान्त आवश्यकता रहती है। जैसा कि कहा है—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा, विवज्जणा वाल जणस्स दूरा।
सज्झाय एगंत निसेवणाय, सुत्तत्थ संचितणया धिईय॥

इसमें गुरु और वृद्ध पुरुपों की सेवा तथा एकान्त सेवन को वाह्य साधन और स्वाध्याय, सूत्रार्थ चिन्तन एवं धर्म को अन्तर साधन कहा है। अधीर मन वाला साधक सिद्धि नहीं मिला सकता। जैन साधना के साधक को सच्चे सैनिक की तरह विजय-साधना मे शंका, कांक्षा रहित, धीर-वीर, जीवन-मरण मे निस्पृह और दृढ़ संकल्प वली होना चाहिये। जैसे वीर सैनिक, प्रिय पुत्र, कलत्र का स

ूलकर जीवन-निरपेक्ष समर भूमि में कूद पड़ता है, पीछे क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं होती । वह आगे कूच का ही ध्यान रखता है । वह दृढ़ लक्ष्य और अचल मन से यह सोचकर बढ़ता है कि—"जितो वा लभ्यसे राज्यं, मृतः स्वर्गं स्वप्स्यसे । उसकी एक ही धुन होती है—

"सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मत जोय ।
उतर जा चौगान में, कर्ता करे सो होय ।।"

वैसे साधना का सेनानी साधक भी परिषह और उपसर्ग का भय किये बिना निराकुल भाव से वीर गजसुकुमाल की तरह भय और लालच को छोड़ एक भाव से जूंझ पड़ता है । जो शंकालु होता है वह सिद्धि नही मिलाता । विघ्नो की परवाह किये बिना 'कार्य व साधवेयं देहं वापात येयम्' के अटल विश्वास से सोहस पूर्वक आगे बढ़ते जाना ही जैन साधक का व्रत है । वह 'कंखे गुणे जाव सरीर भेओ' वचन के अनुसार आजीवन गुणों का संग्रह एवं आराधन करते जाता है ।

साधना के विघ्न :—साधन की तरह कुछ साधक के बाधक विघ्न या शत्रु भी होते है, जो साधक के आन्तरिक बल को क्षीण कर उसे मेरु के शिखर से नीचे गिरा देते है । वे शत्रु कोई देव, दानव नहीं पर भीतर के ही मानसिक विकार हैं । विश्वामित्र को इन्द्र की दैवी शक्ति ने नहीं गिराया, गिराया उसके भीतर के राग ने । संभूति मुनि ने तपस्या से लब्धि प्राप्त कर ली, उसका तप बड़ा कठोर था । नमुचि मन्त्री उन्हें निर्वासित करना चाहता पर नहीं कर सका, सम्राट, सनत्कुमार को अन्तःपुर सहित आकर इसके लिये क्षमा याचना करनी पडी, परन्तु रानी के कोमल स्पर्श और चक्रवर्ती के ऐश्वर्य में जब राग किया तब वे भी पराजित हो गये । अतः साधक को काम, क्रोध, लोभ, भय और अहंकार से सतत जागरूक रहना चाहिये । ये हमारे भयंकर शत्रु हैं । भक्तों का सम्मान और अभिवादन रमणीय-हितकर भी हलाहल विष का काम करेगा ।

संयम-जीवन में निर्ग्रन्थ

❀ साध्वी डॉ. मुक्तिप्रभा

आत्मा के चारित्र गुण के विकास में बाधक बनने वाली ग्र'थियां आत्मोन्नति मे गति और प्रगति नही करने देती अत' इन बाधक ग्र'थियो को तोडने वाला ही निर्ग्र'न्थ कहलाता है ।

ग्र'थि अर्थात् गांठ । गांठ वस्त्र की होती है, डोरी की होती है, रस्सी की होती है, सांकल की होती है और मन की भी होती है । वस्त्र, डोरी इत्यादि की गांठ स्थूल है, पर मन की गांठ सूक्ष्म है, जो इन्द्रियातीत है । मन की गाठे अनेक प्रकार की है—जैसे अज्ञान की ग्र'थि, वैर की ग्र'थि, अहं की ग्र'थि, ममत्व की ग्र'थि, माया-कपट की ग्र'थि, लोभ-लालच की ग्र'थि, राग-द्वेष की ग्र थि इत्यादि अनेक प्रकार की ग्र'थियां मन में होती रहती है जो इतनी सूक्ष्म होती है कि जीव खोलने में असमथ हो जाता है और संसार परिभ्रमण का आवर्त वर्धमान होता रहता है ।

ये सारी ग्र'थियां निर्ग्र'न्थ संत—मुनि महात्माओं की साधना में बाधक होने से साधक अपनी आत्मोन्नति के लिए पराश्रित हो जाता है । पराश्रय स्वावलम्बी साधक के लिए सबसे बड़ी समस्या है, दुविधा है, कलंक है । इन दुविधाओं मे साधक जिस प्रवृत्ति में प्रवृत्तमान रहता है, वह सारी प्रवृत्ति बाधक रूप ही है। अर्थात् प्रवृत्ति ही पराश्रय है । "पर" अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध नही है । जो पदार्थ स्वयं नित्य नही उसका आश्रय नित्य कैसे हो सकता है ? अतः निर्ग्र'न्थ अनित्य के आश्रित नहीं होता पर पदार्थ का उपयोग मात्र स्वीकार करता है। पदार्थ के अभाव का महत्व नहीं है, पदार्थ के त्याग का महत्व है । पदार्थो की सम्पूर्ण उपलब्धि होने पर भी पदार्थ के प्रति जो ममत्व है उसके अभाव का महत्त्व है ।

अज्ञान, विपरीत ज्ञान, संशय, कदाग्रह की ग्र'थियां आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण करती रहती है । फलतः उन ग्र'थियों द्वारा साधक सम्यक् दर्शन को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है ।

विषय—कषायात्मक ग्र'थिया चारित्र गुण पर आवरण करती है फलस्वरूप विशुद्धि प्रगट होने नही देती ।

इन ग्र'थियों द्वारा साधक का आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक तीनों प्रकार से पतन होता रहता है । वह दु:ख, वैर, मत्सरभाव का बोझा ढोता रहता है ।

श्रमण के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। "आचारांग सूत्र" में कहा है कि—

"सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।"

साधक असत् प्रवृत्तियों से स्वयं को बचाता हुआ जागरूक अवस्था में सहज समाधिपूर्वक जीवन यात्रा सम्पन्न करे।

सहज समाधि का उपाय है—तीनों योगों को वश में करके शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियों मे संलग्न हो जाना। जो साधक प्रवृत्ति करते समय जाग्रत होता है, वह प्रवृत्ति मे प्रवृत्तमान होने पर भी निवृत्त रहता है जैसे—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयंसये,
जयं भुञ्जन्तो भासंतो, पाव कम्मं न बंधई।।"

निवृत्त साधक उठते, बैठते, सोते, खाते प्रत्येक प्रवृत्ति करने में जागृत होने के कारण पाप कर्मो से मुक्त रहता है, इसे सहज निवृत्ति कहा जाता है। सहज निवृत्ति अर्थात् समिति-गुप्ति। श्रमण अपनी योग्यता, क्षमता और परिस्थिति के अनुसार ही समिति-गुप्ति की साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है।

चित्त विशुद्धि ही विकास केन्द्र है। जिस बिन्दु पर एकाग्रता टिकी हुयी है। वही अशुभ प्रवृत्तियो का शमन और शुभ एव शुद्ध प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव करती है। शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियों के आचरण से, अशुभ और अशुद्ध प्रवृत्तियों के उपशम से समिति और गुप्ति का विधान किया गया है।

गुप्तियां योग की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती है और समितियां चारित्र की शुभ प्रवृत्तियों में साधक को विचरण कराती है। इन समिति गुप्तियों की प्रतिपालना श्रमणो के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। क्योकि श्रमण के महाव्रतों का रक्षण और पोषण इन्ही से होता है।

सामान्यतः मन को असद् एवं अशुभ विकल्पों से बचाना मनोगुप्ति है। वाणी-विवेक, वाणी-संयम और वाणी-विरोध ही वचनगुप्ति है। इसी प्रकार बाह्य प्रवृत्ति तथा इन्द्रियों के व्यापार में काययोग का निरोध कायगुप्ति है।

मन कभी खाली नही रहता, कुछ न कुछ प्रवृत्ति करना उसका स्वभाव है। बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रवृत्ति और निवृत्ति वह करता ही रहता है। अतः साधक समय-समय पर अशुभ प्रवृत्तियों से हटता रहे और शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों मे प्रवर्तमान होता रहे जिससे आत्म-परिणाम में विशुद्धियो का प्रकर्ष होता रहे और मलिनता विनष्ट होती रहे। यही साधक जीवन का चरम लक्ष है।

विकल्प जनित अशुद्धियों से साधक का मन विक्षिप्त होता है। विक्षिप्त मन राग-द्वेप, वैर–विरोध, मान-सम्मान इत्यादि मे गहरे संस्कार जमा करता रहता है, वे ही संस्कार ग्रंथियों का रूप धारण करते है—जैसे अमोनिया पर

जल की धाराएं बहायी जाती हैं तो वह वर्फ बन जाती है, पानी जम जाता है। मनोग्रंथियों की भी यही स्थिति है। आत्मतत्त्व मे जिन परिणामों का परिणमन होता है उसका प्रभाव चेतन पर पड़ता है, चेतन मे जो अध्यवसाय होते है वे ही शुभाशुभ के अनुरूप लेश्या, योग और बंध का रूप धारण करते है। इस प्रकार जो भी सवेदनाएं प्रवहमान होती हैं, वे सभी ग्रंथियों का रूप धारण करती रहती है और मन में गांठ जमती रहती है।

साधक मात्र के लिये ग्रंथियों का उपयोग जानना आवश्यक है। उसका लक्ष्य क्या है? उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है? लक्ष्य उसे कहते है जिसकी प्राप्ति अनियार्य हो। यह मानव मात्र का प्रश्न है कि वास्तविक जीवन क्या है? उस जीवन का निरीक्षण करना, परीक्षण करना, खोजना, पाना इत्यादि इस जीवन का परम पुरुपार्थ है। सामान्य जन की अपेक्षा साधक जीवन का यह जीवन अनिवार्य होता है। क्योंकि साधक अपनी साधना द्वारा पर पदार्थो से विमुख होता है और स्वान्त: मे सन्मुख होता जाता है। उसे मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियो में वुद्धि, इन्द्रियां, मन, पद, प्रतिष्ठा, सामर्थ्य, योग्यता इत्यादि परिस्थितियों से अपने आपकी असंग रखना अनिवार्य है। इस असंगता से ही वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है।

आचार्य हरिभद्र ने 'योग विन्दु' में अधिकारी साधकों की दो कोटियां वताई है—१ अचरमावर्त्ती और २—चरमावर्त्ती।

प्रथम कोटि के साधक की प्रवृत्ति भोगासक्त, संसाराभिमुख तथा विष अनुष्ठान रूप होती है, अत: ऐसा साधक साधना भी करता है तो उसकी वृत्ति क्षुद्र, भयभीत, ईर्पालु और कपटी होती है। इसमे आतरिक विशुद्धि का अभाव रहता है। जो भी अनुष्ठान वे करते है तथा अन्यों को करवाते है वे सारे लौकिक कामना की पूर्ति हेतु करवाते है जिसका आकर्पण-केन्द्र भी भोग का ही होता है। ऐसे साधक अध्यात्म सन्मुख कभी नही हो सकते।

दूसरी कोटि के साधक चरमावर्ती है। ऐसा साधक स्व-स्वभाव में ही स्थिर रहता है। जो स्व में स्थिर है उसे पर मे पराश्रित होने की आवश्यकता नही है, पर पदार्थ मात्र सहायक है। इस प्रकार की उसे वास्तविक अविचल आस्था अनिवार्य होती है।

दूसरी कोटि का साधक ही ग्रंथि-भेद की प्रक्रिया में समर्थ होता है वह राग-द्वेप-मोह आदि मनोविकार-ग्रंथियो से संघर्प करता है। वह अपने परिणाम को इतना विशुद्ध करता है कि आवेग और उत्तेजना की स्थिति मे वह सम-संवेग और निर्वेद के प्रवाह मे प्रवहमान हो जाय।

निर्ग्रन्थ की सफलता का प्रथम चरण है समभाव और शान्ति। समभाव

का अर्थ है अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में तन और मन को संतुलित बनाये रखना।

शान्ति का अभिप्राय है मानसिक संकल्पों-विकल्पों मे न उलझना। भौतिक सुख-भोग का संकल्प साधक को शान्ति से विमुख कर देता है।

शान्ति में सामर्थ्य और स्वाधीनता है, समता में सर्व दु:खों की निवृत्ति और अमरत्व है। इस दृष्टि से प्रत्येक श्रमण के लिए शान्ति, समता, स्वाधीनता और अमरत्व का अनुभव अनिवार्य है। शान्ति के अभाव मे समता का, समता के अभाव मे स्वाधीनता का, स्वाधीनता के अभाव में अमरत्व का प्रादुर्भाव नही होता। शान्ति सर्वतोमुखी विकास भूमि है। इस उर्वराभूमि मे अनावश्यक सकल्पों की निवृत्ति स्वत: हो जाती है और निर्विकल्प दशा की प्राप्ति हो जाती है।

संकल्प-विकल्प में आबद्ध मानव न तो अपने ही लिए उपयोगी होता है न समभाव और शान्ति का उपयोग कर सकता है। अत: श्रमण का द्वितीय चरण है संकल्प-विकल्प रहित निर्विकल्प अवस्था मे जितने समय टिका रहे, उतनी स्थिरता अनिवार्य है। यह मात्र शान्ति के प्रभाव से ही साध्य है।

शुभाशुभ संकल्पों के द्वंद्व से मुक्त होने का उपाय समभाव और शान्ति साधक का सहज स्वभाव है। जो स्वभाव है, विद्यमान है, उसी की अभिव्यक्ति होती है। पर विभाव दशा में अन्तरंग प्रवृत्ति भी ग्रंथियों का ही कारण बनती है। साधक का आचरण बाह्य या ऊपर ही ऊपर रहता है और राग-द्वेष की विभिन्न ग्रंथियां जड़ जमाकर बैठी हैं, वहां धर्म कैसे स्थान पा सकता है ? धर्म तो चेतना के ऊपरी स्तर तक ही रह जाता है, धार्मिक सिद्धान्तों का दोहराना मात्र रह जाता है।

अन्तर मे भरी राग-द्वेष की तरह-तरह की ग्रथियां भले ही ऊपर से सज्जनता का रूप धारण करती हों पर इससे मन विक्षिप्त, विषमता और अशांति रूप हो जाता है फलत: न तो वह व्यावहारिक जगत में सफल होता है और न आध्यात्मिक क्षेत्र मे। इस प्रकार असन्तुष्ट जीवन जीने वाला व्यक्ति समभाव और शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? वह अहं मे जीता है और उसकी तुष्टि न होने पर उसका व्यक्तित्व विखडित होने लगता है। उसे स्वयं अपने आप पर भी विश्वास नही रहता। वह आये दिन विभिन्न प्रकार के विरोधियो का चक्रव्यूह, अखाड़ा तैयार करता रहता है। राग और द्वेष का आधार स्वार्थबुद्धि पर निर्भर होता है। स्वार्थ अपना भी होता है और पराया भी होता है। स्वार्थ होने से अपने पर राग भी होता है और क्रोध भी होता है। जैसे अपने, स्वजन के प्रति आत्मीयता होने से वहा मेरी बात नकारात्मक नही हो सकती, अगर होती है तो उसका क्रोध रूप मे परिणमन हो जाता है। यह परिणमन रागात्मक ग्रंथि का होता है पर पराया तो पराया ही है। उसके प्रति आत्मीयता का अभाव है,

फिर भी वह टकराता है—वहां द्वेप की ग्रंथि बन जाती है। इस प्रकार अपने-पराये, राग-द्वेप, अहंकार-ममकार रूप आधार को समाप्त किये बिना ग्रंथि-भेद नही हो पाता।

वैज्ञानिकों ने आविष्कार तो प्रचुर मात्रा में किये है, सुख-सुविधाओ के साधन भी प्रचुर मात्रा में प्रादुर्भूत हुए है, किन्तु वास्तविकता मे उपहार स्वरूप मिली है उनको विभिन्न प्रकार की मनोग्रथियां/मनोवैज्ञानिकों ने इस विपय पर शोध करके निष्कर्ष निकाला है कि मानव इन ग्रंथियों का अन्तर-मानस मे प्रति-क्षण प्रादुर्भाव करता है और विशेप रूप में उसका संचय करता रहता है। फलतः इससे मत्सर भाव का विशेष प्रयोग देखा जाता है।

इस प्रकार व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रो में भी ये ग्रथियां अपना प्रभाव दिखाती रहती है।

सयमी श्रमण साधक के लिए इन ग्रंथियों का ग्रंथिभेद हितकर और श्रेयस्कर है। कोई भी श्रमण निर्ग्रन्थ तव कहलाता है जव वह ग्रंथि-भेद से ऊपर उठता है। ग्रंथि-भेद से निर्ग्रंथ की चेतना का प्रवाह सहज हो जाता है। किसी भी प्रकार की रुकावटे अव मार्ग में प्रवेश नही हो सकती। ऐसा साधक वहिरात्मदशा से अन्तरात्मदशा मे निरन्तर प्रवृत्तमान रहता है। विशुद्ध चित्त वृत्ति होने के कारण साधक क्रमश अप्रमत्तदशा मे अपनी साधना मे सलग्न रहता है।

इस प्रकार ग्रंथि-भेद से साधक निर्ग्रन्थ वनता है और निर्ग्रन्थ की सहज साधना से मुक्ति–पथ का पथिक वनता है।

भेद-विज्ञान

❀ श्री लोकेश जैन

महात्मा मसूर को जल्लाद जब सूली की ओर ले जाने लगे, तव उन्होंने कहा कि यह सूली नही, स्वर्ग की सीढी है। जब विरो-धियों ने उन पर पत्थर वरसाये तो वोले—"आप लोग मुझ पर फूल वरसा रहे है।" जव उनके दोनों हाथ काट डाले गये, तव वोले—"मेरे भीतरी हाथ कोई नही काट सकता, जिनसे मै अमरता के रस का प्याला पी रहा हूं।" जव उनके दोनो पांव काट डाले गये तव उन्होने कहा—"जिन पांवो से मैं इस पृथ्वी पर चलता हूं, उन्हे तो काट दिया गया है, परन्तु जिन पावो से मैं स्वर्ग की ओर वढ रहा हूं, उन्हे कोई नही काट सकता।" हाथो से वहने वाले खून को चेहरे पर लगाते हुए जड-चिन्तन के भेद के ज्ञाता म मसूर ने आश्चर्य मे पड़े लोगो से कहा—लोगो को हाथ-पांव से रहित मेरा चेहरा भद्दा न लगे, इसलिये मैं इसे लाल रग से रग रहा हूं।

—७०६, महावीर नगर, टोक रोड, जयपुर-३०२०१५

संयम : नींव की पहली ईंट

❀ आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिजी

संयम का जीवन मे बहुत ऊंचा स्थान है। धर्म के क्षमा, आर्जव, मार्दव, आदि सभी अंग संयम पूर्वक ही पालन किये जा सकते है। जैसे क्षमा में क्रोध का संयम किया जाता है, मार्दव में कठोर परिणामों का संयम किया जाता है, आर्जव में मायाचार का संयम निहित है वैसे ही सत्य में मिथ्या का नियमन आवश्यक है। सारांश यह है कि जैसे माला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र पिरोया होता है वैसे ही धर्म के सभी अंगो में संयम स्थित है। मन, वचन और काय के योग को संयम कहते है और कोई भी सत्कार्य त्रि-योग सभाले बिना नहीं होता। कार्य की सुचारुता तथा पूर्णता त्रि-योग पर निर्भर है और त्रि-योग का किसी पवित्र लक्ष्य पर एकीभाव ही संयम है। इसी को सांकेतिक अभिव्यक्ति देते हुए "इन्द्रियनिरोध: संयम.'—कहा गया है।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति बहुमुखी है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सभी इन्द्रियों के धर्म (स्वभाव) सहायक होते है तथापि क्रिया-सिद्धि के लिए उन्हे संयत तथा केन्द्रित रखना आवश्यक होता है। यदि कार्य करते समय इन्द्रिय-समूह इधर-उधर दौड़ता रहेगा, तो यह स्थिति ठीक वैसी ही होगी जेसी रथ मे जुते हुए विभिन्न दिशाओं मे दौड़ने वाले अश्वो से उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रथ मे बैठा हुआ यात्री कभी निरापद नही रह सकता। नीतिकारो ने तो यहां तक कहा है कि यदि पांचों इन्द्रियो मे से किसी एक इन्द्रिय में भी विकार हो जाए तो उस मनुष्य की बुद्धि-बल-शक्ति वैसे ही क्षीण हो जाती है जैसे छिद्र होने पर कलश में से पानी निकल जाता है। 'पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्र चेदेकमिन्द्रियम्, ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा हते: पात्रादिवोदकम्'—फिर जिन मनुष्यों की इन्द्रिय-क्षुधा इतनी बढ़ी हुई हो कि रात-दिन पाचो इन्द्रियों से भोगों का आस्वादन करते रहे उनमें विनाश के चिह्न दिखायी दे, पतन होने लगे तो क्या आश्चर्य ? इसी को लक्ष्य कर सयम की स्थूल परिभाषा करते हुए इन्द्रिय निरोध को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। संस्कृत भाषा, जिसका यह शब्द (संयम) है, बड़ी वैज्ञानिक भारती है। 'यभ्' धातु का अर्थ मैथुन या विषयेच्छा है और 'यम्' धातु का अर्थ मन या संयम है। 'भ' के पश्चात् 'म' वर्ण आता है। 'यभ' में जो फंस गया उसका उद्धार नही और जो 'यम' तक पहुंच गया, उसे यम का भय नही। अग्नि, अग्नि को जला नही सकती और यम को यम मार नही सकता। इसी आशय से वैदिकों ने कहा कि 'कालं कालेन पीडियन्'—काल को ऋषि काल से ही पीड़ित करते थे। जो स्वय संयमशील नहीं है, उन्हें ही यम का भय है। संयमी

व्यक्ति तो घोपणा करता है कि 'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन'—मैं कभी मृत्
लिए नही बना। संयम-पालन से इच्छा-मृत्यु होती है।

शास्त्रकारो ने कहा है कि 'व्रतसमितिकपाणाणां दण्डानां त...
पंचानाम्। धारणपालननिग्रहत्याग जया: सयमो भणितः। अर्थात् व्रतों का
समितियों का पालन, कपायो का निग्रह, दण्डों का त्याग तथा पांचो इन्द्रियो
जीतना उत्तम संयम कहा गया है। इस पर विचार किया जाए तो सम्पूर्ण
चर्या संयम के अन्तर्गत परिलक्षित होती है। मुनि के मूल गुणों की रक्षा स
से ही सम्भव है।

संयम का पालन अपने आध्यात्मिक कोष का संवर्धन है। जैसे सं
में लोग आर्थिक उपार्जन कर 'बैंक-बैलेंस' बढाते हैं, वैसे ही संयमी अपनी आ
को शुभोपयोग में लगाने वाले द्रव्य को परिवर्धित करते है। जो लोग अपने
बल, पराक्रम, बुद्धि तथा वीर्य को संसार मे लगाते है, वे मानो अपनी पूंजी
जुए मे हार रहे है। इन्द्रिय-विपयो ने रूप-राग की जो चौपड विछा रखी
उस पर उनके सद्गुण, सद्वित्त दांव पर लग रहे हैं; परन्तु आश्चर्य इस बात
का है कि विषय-द्यूत में अपनी वीर्य-रूपी उत्तम पूंजी को हार कर भी, गंवा
भी लोग दुःखी नही होते। साधारण जुए मे तो पराजित को दुःख होता है
जाता है; परन्तु जो संयमी है उनका धन सुरक्षित रहता है।

संयम से जो शक्ति प्राप्त होती है, सचय होता है वह मानव-जीवन
ऊंचा उठाता है। असंयम और सयम मे यही मुख्य भेद है। असंयम सीढ़ि
नीचे उतरने का मार्ग है और संयम ऊपर जाने का। 'उन्नतं मानसं यस्य
तस्य समुन्नतम्'—जिसका मन ऊंचा होता है उसका परिणाम शुभ होता है;
मन की उच्चता परिणामो पर निर्भर है। संसार के प्राणियों को संचय
परिग्रह की आदत है; परन्तु संयम-रूप सुपरिग्रह का संचय करने की ओर उ
ध्यान नहीं है। यदि हम संयम का सचय करने लगे तो आज के बहुत से अ
की दुष्ट अनुभूति से बच सकते हैं।

संयम के विरोधी गुणों का वर्गीकरण करें तो पता चलेगा
भोग, लोभ, व्यभिचार, अब्रह्मचर्य, मिथ्याभापण इत्यादि गतण: ऐसे दुर्व्यसन
जिन्होंने आज के मानव-जीवन को दबोच रखा है। संयम न रखने वाले
बहुत दुःखी हैं। यदि सयम धारण करलें तो, इन दुर्व्याधियों से मुक्त हो
हैं। अनावश्यक खाने-पहनने की वस्तुओं का संचय करने से मनुष्य पर आ
भार बढ़ता है और यही सारे अनर्थों की जड़ है। आज के मानव ने
आवश्यकताएं इतनी असंगत बना ली है कि यह अपने ही बुने जाल में फंस
है। उनसे त्राण का मार्ग सयम है। परिग्रह-परिमाण भी सयम का ही अं

जैसे सुरक्षित धन संकट के समय काम आता है, वैसे ही सयम मनुष्य-[illegible]वन की प्रगति में सदैव सहायता करता है। जिसने संयम को अपना मित्र [illegible]ना लिया है, उसके सभी मित्र बनने को तैयार रहते हैं; क्योंकि संयमी की [illegible]वश्यकताएं सीमित होती है, उसके साहचर्य से कोई परेशान नहीं होता।

संयम के विना जो सुखपूर्वक संसार से पार उतरना चाहता है, वह [illegible]ना नौका के समुद्र तैरने की अभिलाषा रखता है। संयम महान् तपस्या है, [illegible]हान् व्रत है और पुरुष के पौरुष की परीक्षा है। संयम-मणि को बलवान् ही [illegible]रण करते है, दुर्बलों के हाथ से उसे विषय-भोगरूप दस्यु छीन ले जाते है। [illegible]यम का नाम ही उत्तम चरित्र है। मनुष्य को मनःसंयम, वाक्संयम और काय-[illegible]यम रखना चाहिये। मनःसंयम से इन्द्रिय-निरोध होता है। वाक्-संयम से [illegible]थ्याभाषण दोष तथा कायसंयम से असन्मार्ग-गामिता की निवृत्ति होती है। [illegible]यम के बिना जप, तप, ध्यान, सामायिक व्यर्थ है। संयम-साधना से ही उत्तम [illegible]क्षसिद्धि प्राप्त होती है।

—श्री वीर निर्वाण विचार सेवा, इन्दौर के सौजन्य से

शांति का पाठ

❀ नीरू श्रीश्रीमाल

एक महात्मा से पूछा गया—आप इतनी उम्र तक असंग, सहनशील और शांत कैसे बने रहे ?

महात्मा ने कहा—जब मै ऊपर की ओर देखता हूं तब मन में आता है कि मुझे ऊपर की ओर जाना है, तब यहां पर किसी के कलुषित व्यवहार से खिन्न क्यों बनूं ? नीचे की ओर देखता हूं, तब सोचता हूं कि सोने, उठने, बैठने के लिए मुझे थोड़े स्थान की आवश्यकता है, तब क्यों संग्रही बनूं ? आस-पास देखता हूं तो विचार उठता है कि हजारो ऐसे व्यक्ति है जो मुझसे अधिक दुःखी है, व्यथित और व्यग्र है। इन्ही सब को देखकर मेरा मन शांत हो जाता है।

अष्ट प्रवचन माता—मुक्तिदाता

⚘ साध्वी डॉ. दिव्यप्र

"माँ" यह कितना मधुर शब्द है ! याद आती है कभी आपको अप माता की ! माँ का वात्सल्य कितना मधुर होता है । उसकी गोद में जाते वह अपना वात्सल्यमय हाथ फैलाती है, मस्तक पर हाथ रखकर सर्व कषायो मुक्त करती है, पीठ पर हाथ फिराकर सर्व पापों का क्षय करती है !!! अहा एक मीठा चुम्बन करके लोकाग्र की सिद्धावस्था का आनद प्रदान करती है माँ....माँ वह स्मित देकर दुःख मुक्त करती है। आँखों से आँखें मिलाकर आत्म दर्शन जगाती है ।

माँ, सर्व मुनियों की माँ—"**अट्ठपवयण माया**" अष्टप्रवचन माता ! उ एक ही चिन्ता है—मेरा वत्स कब मुक्ति का सम्राट बने ! मैं कब राजमाता ब जाऊँ ! हर पल, हर क्षण वह अपने बेटे की सुरक्षा में अपना सर्वस्व अर्पि करती है । कही मेरा लाल कोई पाप न कर डाले । मन से, वचन से, काय से....आहा ! सर्वकरण, सर्वयोग—सर्वत्र उपयोग, सर्वत्र सुरक्षा !

माँ धन्य है तेरे को ! यदि तू न रहती तो न जाने मेरा क्या होता कौन मेरी रक्षा करता ? कौन मुझे जिनवाणी का दुग्धपान कराता ? माँ माँ ! मैंने तेरे वात्सल्य को नही समझा है । वत्स हूं तेरा, पर निर्लज्ज हू मैने तुझे कद से नापा, रूप से देखा पर·······पर तेरा वात्सल्य नही समझा माफ कर दे—माफ तो माँ ही करती है । माँ ! मुक्ति दे दे । तेरे उपकारों व तेरा वत्स नही भूल सकता । अब तेरी पाँच इन्द्रियाँ रूप पाँचों महाव्रतों को मु में एक रूप कर दे, तेरी चार आजान बाहु और वात्सल्यमयी गर्दन रूप पाँच समितियों से मुझे आलिंगन दे दे । माँ—तेरे चरण द्वय और सम्पूर्ण मातृ स्वरू तीनो योगों मे मैं नत मस्तक हूं ! मेरी रक्षा कर माँ ! मुझे मुक्ति का दान दे तेरा वत्स अब तेरा विश्वासघात नही करेगा ।

मेरे अध्यात्म—जीवन के विकास में तेरी गरिमा अत्यन्त अलौकिक है सम्पूर्ण द्वादशांगी तुझमे ही समाविष्ट है ।[1] माँ ! तू जगदम्बा है और जिन भगवन् जगत पितामह[2] है । सयम के तथ्यों की वास्तविक अनुभूति पाकर माँ मैं धन्य हो गया ।

---

१. दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं —उत्तराध्ययन, अ. २४, गा.

२. जगणाहो, जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं —नदीसूत्र, गा.

"माँ" की सार्थक संज्ञा का विशद और विलक्षण रूप है—पांच समिति रूप पचांग और तीन गुप्ति रूप रूपत्रय। इसका पालन ही मॉ का अनुपम दर्शन और आत्मावलोकन है, इससे ही संयम की सफलता पाना है। उससे प्रकटते-झलकते तथ्यों का पालन करने वाला पावन हो जाता है।

अष्टप्रवचन माता का निखरता अनुपम रूप इस प्रकार है—

पांच समिति :

१– ईर्या समिति—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर में युगपरिमाण भूमि [चार हाथ प्रमाण] को एकाग्र चित्त से देखते हुए प्रशस्त पथ में यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है।

वस्तुत: श्रमण धर्म गुप्ति प्रधान धर्म है। उत्सर्ग मार्ग में काया का गोपन सवर प्रधान माना है, प्रथम ईर्यासमिति कायगुप्ति का अपवाद है।

प्रश्न होता है कि कायगुप्ति में काया का गोपन होता है तो फिर साधु को चलने की क्या आवश्यकता ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए पूज्यपाद तिलोक ऋषि जी म. सा. ने ईर्या के महत्त्वपूर्ण चार कारण प्रस्तुत किये है।[1]

१– गुरु वन्दन   २– विहार

३– आहार   ४– निहार

चलने की क्रिया जब शास्त्र विधानयुक्त होती है तब उसे ईर्या कहते हैं। निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशों के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है—

१– श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त रहना चाहिए, क्योंकि भ्रान्त अवस्था में चित्त अशान्त रहता है अत: चलते समय जीव रक्षा नही कर सकता।

२– श्रमण को अमूर्छित—आसक्ति त्यागकर चलना चाहिए, क्योंकि आसक्त व्यक्ति का मन किसी अभिलषित वस्तु में लगा रहता है, अत: वह जीव रक्षा में उपयोग नही लगा सकता।

३– श्रमण को मन्द गति से चलना चाहिए, क्योंकि शीघ्र गति से चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नहीं चल सकता।

---

१. मुनि चाले चिऊं कारणे, गुरु वन्दन अन्य गामेजी।
आहार निहारने कारणे ते जावे अन्य ठामेजी ॥

—अष्ट प्रवचन माता—ढाल १, पद—४

—तिलोक काव्य कल्पतरू—भाग ४, पृ. ४४७

४– श्रमण को चलते समय 'अनुद्विग्न'–प्रशान्त रहना चाहिए, क्योंकि–उद्विग्न अवस्था में व्यक्ति भयभीत रहता है अतः वह विवेकपूर्वक नही चल सकता।

५– श्रमण को 'अव्याक्षिप्तचित्त' से चलना चाहिए, क्योंकि—विक्षिप्त चित्त, चंचल चित्त वाला व्यक्ति मार्ग पर दृष्टि रखकर नही चल सकता।[१]

६– श्रमण को दौड़ते हुए नही चलना चाहिए, क्योंकि दौड़ने वाला जीवों को वचाता हुआ नहीं चल सकता।

श्रमण धीर और साहसी होता है अतः उसका दौडना व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा नही माना जाता, क्योकि अवीर या भयभीत व्यक्ति ही प्रायः दौड़ते है।

७– श्रमण को चलते समय वातें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जव मन वातचीत करने में लगा रहता है तव वह जीव रक्षा करने मे दत्तचित्त नही हो सकता।

८– श्रमण को चलते समय हंसना भी नहीं चाहिए, क्योंकि हंसते हुए मार्ग पर दृष्टि रखकर नहीं चल सकता। इसी प्रकार गाते हुए, खाते हुए या ऐसी ही कोई अन्य क्रिया करते हुए नहीं चलना चाहिए।[२]

९–श्रमण को गवाक्ष, गली, स्नानगृह आदि पर दृष्टि डालते हुए नहीं चलना चाहिए, क्योंकि गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने वाला रास्ते के जीव-जन्तुओं को नही देख सकता। गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने से श्रमण की साधुता के सम्वन्ध में शंका उत्पन्न होती है। अत श्रमण को मार्ग पर दृष्टि रखते हुए ही चलना चाहिए।[३]

१०– श्रमण को क्रुद्ध होकर नही चलना चाहिए, क्योंकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है, अत. वह विवेकपूर्वक नही चल सकता।[४]

११–श्रमण चलते समय अपने साथी–श्रमणादि को पहाड़ पर, समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे पर चरते हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अंगुली निर्देश करके या हाथ लम्वा करके न दिखावे। ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते हैं।

१२– श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड पर वने किले आदि की ओर संकेत करके न दिखावे, ऐसा करने से किले आदि के रक्षकों को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशका होती है।

---

१. दशवैकालिक अ. ५, उद्दे. १, गाथा १-२

२. दशवैकालिक, अ. ५, उद्दे. १, गाथा १४

३. दशवैकालिक, अ. ५, उद्दे. १, गाथा १५

४. दशवैकालिक, अ. ८, गाथा २५

१३– श्रमण को मनोहर शब्द सुनते हुए नहीं चलना चाहिए ।

१४–श्रमण को मनोहर रूप देखते हुए नहीं चलना चाहिए ।

१५–श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध में राग-द्वेष भरे संकल्प रखकर नहीं चलना चाहिए ।

१६–श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नहीं चलना चाहिए ।

१७–श्रमण को सुखद स्पर्श का सवेदन करते हुए नही चलना चाहिए ।

इस प्रकार प्रथम ईर्या समिति साधक आत्मा के लिए परम विशुद्धि का कारण है । परन्तु ईर्या की विशुद्धि के भी चार महत्त्वपूर्ण कारण आगम में निर्दिष्ट है—

१– आलम्बन २– काल ३– मार्ग और ४– यतना ।

आलम्बन–यहा आलम्बन का अर्थ सहारा, उद्देश्य और लक्ष्य है । साधक जीवन मे जितनी आवश्यक क्रियाएँ हैं उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की उपलब्धि है अतः ईर्या समिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं ।

२– काल—ईर्या समिति के काल के सम्बन्ध में दो विभाग है—दिन और रात । ईर्या समिति का पालन दिन में हो सकता है, रात्रि में नहीं । अतः साधक श्रमण-श्रमणियों को रात्रि मे नहीं चलना चाहिए ।

आगम के अनुसार वर्षाकाल के चार मास है—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक । इन चार मासों में श्रमण-श्रमणियों को ग्रामानुग्राम विहार नही करना चाहिए ।[१] किन्तु आगमोक्त पाच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जा सकते है । यथा—

१–अराजकता फैलने पर या सुरक्षा-व्यवस्था समीचीन न होने पर ।

२–दुष्काल होने पर या शिक्षा दुर्लभ होने पर ।

३–किसी के व्यथा पहुँचाने पर ।

४–बाढ आने पर ।

५–अनार्यो का उपद्रव होने पर ।[२]

---

१. जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियसी दूइज्जइ, दूइज्जय वा साइज्जइ ।

—निशीथ, उद्दे. १०, सू. ६४१

२. क– जो कप्पई निग्गथाण वा, निग्गथीण वा पढमपाउससि गामाणुगाम दुइज्जित्तए ।

ख– पचहिं ठाणेहि कप्पइ, त जहा—१. भयंसी वा, २. दुब्भिक्खसि वा, ३. पव्वहज्जे वा ण कोइ, ४ दग्रोघसि वा एज्जमाणसि, ५ महाय वा अणारिएसु ।

—स्थानाग, अ ५. उद्दे. २, सूत्र ४१२

३–मार्ग—माग दो प्रकार के हैं—द्रव्यमार्ग और भावमार्ग । स्थलमार्ग, जलमाग और नभमार्ग में चलना द्रव्यमार्ग है और अपनी चित्तवृत्ति में लगे हुए संस्कारों में प्रवृत्त रहना–चलना–विचरना ईर्या में भावमार्ग है ।

४–यतना—यतना का अर्थ है—प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार है—

१– द्रव्ययतना २– क्षेत्रयतना
३– कालयतना ४– भावयतना

१– द्रव्ययतना—दिन में आंखों से देखकर चलना । रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करके चलना ।

२– क्षेत्रयतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्रों को देखते हुए चलना ।

३– कालयतना—जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना ।

४– भावयतना—सदा उपयोग पूर्वक चलना । भावयतना से श्रमण के संयम की रक्षा होती है । संयम की रक्षा का अर्थ है—स्वयं श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियों की रक्षा । श्रमण के भाव, विचार-संयम से विचलित न हो, यही भावयतना है ।

२– भाषा समिति—मार्ग में चलते हुए मुनि मौन रहे। अत्यावश्यक होने पर जो मर्यादा पूर्वक बोला जाता है वह भाषा समिति है, । इस कारण दूसरी समिति का नाम भाषा समिति कहा जाता है । वचन गुप्ति उत्सर्ग है पर भाषा समिति उसका अपवाद है। मुनि मौनधारी, गुण-ज्ञान का संग्रह करने वाले, कुलीन और आत्मध्यान में लीन गुप्तिवान और उत्सर्ग युक्त होते है । इन सर्व दृष्टियों से वचन योग आश्रव स्वरूप है फिर भी पर के कारण, आत्महित के उपदेश हेतु अनुपम उपदेश निर्जरा का कारण बन जाता है । इसी कारण उत्सर्ग रूप वचन गुप्ति का भाषा समिति अपवाद है ।

अकारण साधु बोलता नही अतः बोलने के कारण पर विशेष स्वरूप भाषा का प्रयोग स्पष्ट करने हेतु इस समिति में भाषा के प्रकारो द्वारा उसका स्वरूप बताया है । भाषा के विविध प्रकार–स्वरूपों का वर्णन करते हुए सोलह दस और चार प्रकार की भाषाएँ बताई है ।

१– साधु द्वारा नही बोली जाने वाली १६ प्रकार की भाषाएँ निम्न है-

१– कर्कश	२– कठोर	३– छेदक	४– भेदक
५– पीड़ाकारी	६– हिंसाकारी	७– सावद्य	८– मिश्र
९– क्रोधकारी	१०– मानकारी	११– मायाकारी	१२– लोभकारी
१३– रागकारी	१४– द्वेषकारी	१५– विकथा	१६– मुहकथा

२– भाषा के दस दोष टालकर साधु को बोलना चाहिए—

१– कुबोल दोष	२– सहसाकार दोष
३– असदारोपरण दोष	४– निरपेक्ष दोष
५– संक्षेप दोष	६– क्लेश दोष
७– विकथा दोष	८– हास्य दोष
९– अशुद्ध दोष	१०– मुरणमुरण दोष

३– भाषा के चार प्रकार इस प्रकार है—

१– सत्यभाषा	२– असत्यभाषा
३– सत्यासत्यभाषा	४– असत्याऽमृषा [व्यवहार भाषा]

इनमें २ और ३ नम्बर स्पष्टत: साधु के लिए निषिद्ध है। एक और चार नम्बर की भाषा के प्रयोग का निषेध भी है और विधान भी है।

३– एषणा समिति—जिसने ईर्या समिति के गुरणगान किए है और जो भाषा का भेद स्वरूप जानता है, उसे यह समझना आसान है कि वेदनीय कर्म के उदय से जीव को भूख की सज्ञा या संवेदना जगती है। इस वेदनीय कर्म के उपशमन हेतु साधु को एषरणा समिति का स्वरूप भेद जानना चाहिए। एषरणा समिति अनशन तप उत्सर्ग का अपवाद है।

निज गुरण को ग्रहरण करने वाले आत्मा को अपना चैतन्य स्वरूप निश्चय से गत्यातर में अनाहारी है, फिर भी काया योग से युक्त होने से उसे व्यवहार से आहार के पुद्‌गल ग्रहरण करने पडते है। जड काया के साथ चैतन्य का यह कैसा नेह–प्रीति है। "इस आत्मा ने देह से प्रीति कर अनन्त पुद्‌गल स्कन्ध ग्रहरण किये फिर भी उसे तृप्ति क्यों नहीं होती ?" ऐसा सोचकर गुरणीजन संत आत्मा को वश मे कर पुद्‌गल स्कन्ध को ग्रहरण नहीं करते है। परन्तु काया को रखने में अशनादि–आहारादि ही काररण सम्बन्ध रूप है। आत्मतत्त्व अनन्त शुद्ध स्वरूप होने पर भी वह ज्ञान के बिना जाना नही जा सकता और आत्मा के उस ज्ञान स्वरूप को प्रकट करने में सूत्रो का स्वाध्याय ही परम उपाय रूप है और यह उपाय देह के बिना नही होता, अत: देह से ही काम लेना है यह सोचकर गुरण–ज्ञान आत्मा काया को आहार देकर उसकी सुरक्षा करते है।[1]

निरुपाय ऐसे मुनि को आहार लेना ही पड़ता है लेकिन उसकी भी विशेष विधि है—

साधु आहार तो करे लेकिन वह आहार ४७ दोष से रहित होना चाहिए और भ्रमर जैसे पुष्प को बिना किलामना उपजाए एक-एक फूल पर से रस पीता

1. अष्टप्रवचनमाता—ढाल ३, पद २-६

है वैसे साधु भ्रमरवत् भिक्षा ग्रहण करे और गृहीत भिक्षा भी रूक्ष होनी चाहिए रूक्ष आहार भी स्वाद लिए बिना और मूर्च्छा भाव से रहित ग्रहण करे। इत ही नही, कभी भिक्षा में आहार शीघ्र मिल जावे तो हर्ष न करे और न मि तो शोक भी न करे।

'आचारांग' सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध मे इसे पिडेषणा कहा है। इ प्रकार यहा पाणेषणा, शय्यैषणा, वस्त्रेपणा, सस्तारक एषणा, पायपुंछण एषण रजोहरण एषणा आदि एषणा के विविध प्रकार बताये है।

४– आदान भांड मात्र निक्षेपणा समिति—ईर्या समिति, भाषा समि और एषणा समिति का समाधिपूर्वक पालन करने वाले गुणवान् साधु को अ समितियों का पालन करने हेतु उपधि आदि की आवश्यकता रहेगी, क्योकि वि उपधि आहारादि किसमे ग्रहण किया जाय। इसी कारण ज्ञानी महापुरुषो भव्य जीवो को निर्वाण सुख प्राप्ति के परम उपाय स्वरूप आदान भांड मा निक्षेपणा समिति का भावपूर्वक कथन किया है।

पाच सवर की भावना युक्त मुनि प्रमाद का त्याग कर सर्व परिग्रह मुक्त हो एकान्त मोक्ष मार्ग की आराधना मे सलग्न रहता है अतः वह पर-भाव मुक्त होता है तो उसे किसी प्रकार के उपकरण की क्या आवश्यकता है? उ तो देह की ममता का त्याग कर [ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप] तीन रत्नो की सन्नि की सुरक्षा करनी होती है। यह जो कथन है वह उत्सर्ग स्वरूप है। अब जो अपवाद मार्ग का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है वह उपधि के उपयोग क स्वरूप होने पर भी विकथा प्रमादो आदि के निवारण रूप है।

साधु के प्रत्येक उपकरण के पीछे महत्त्वपूर्ण कारण रहे हुए है। प्रत्ये का विधान अपने रहस्य के साथ प्रस्तुत है। जिनवर ने उपदेश प्रदान करते हु इन सर्व रहस्यों को प्रधानता दी है—

१– रजोहरण—अहिसा पालन हेतु, याने हिसा का निरोध करने हे

२– पात्र—आहार ग्रहण हेतु।

३– मुहपत्ति—अहिसा पालन हेतु याने वायुकाय रूप जीवो की हिं प्रतिषेध हेतु।

४– वस्त्र—नग्न साधु को देखकर जगत के स्त्री-पुरुष साधु की दु करते है। अत. वस्त्र परिधान सयम-सुरक्षा मे सहायक वन सकता है।

इस प्रकार पुद्गल को ग्रहण करना और छोड देना ऐसा जिनवर प्र अपवाद मार्ग वहुत श्रेष्ठ है क्योकि पुद्गलो का ग्रहण करना सहज है। ग्रहण क समय ममत्व-त्याग और यतना मे विवेक तथा निरूपयोगिता के समय सर्वथा त्या यही इस व्यवहार समिति की विशेपता है।

साधु का निश्चल ध्येय कर्म से मुक्ति पाना है और उस हेतु उसे सर्व-उपधियों का त्याग कर मुक्ति से प्रीति बांधकर सर्व आचारों को जीतकर अरणगार बनना है। अतः संयमी-आत्मा को उपधि के प्रति ममत्व का त्याग कर श्रेणी पर आरूढ़ हो तत्त्व ज्ञान के परम रस में निमग्न होना चाहिए।

५- परिष्ठापनिका समिति—साधु अन्तर-बाह्य कोई भी उपधि का ग्रहण करेगा, अन्त में वह त्याज्य ही है अतः वीतराग ने मुक्ति के भाव सुख प्रधान मंगलधाम की प्राप्ति के उपायों में समिति प्रकरण में पाँचवी परिष्ठापनिका समिति का उपदेश दिया है। पूज्यपाद तिलोक ऋषि जी म. सा. ने इस समिति का नाम अभयव्रत भी दिया है।[१]

साधु को देह से ममत्व नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि देह से ममता बढ़ाने से चारों कषाय हमें प्रिय हो जाते है। कषायों के प्रिय हो जाने पर देह का ममत्व और स्नेह बढ़ता है और चंचलता भी बढ़ती है। अतः उत्सर्ग मार्ग पर चलने वाले शरीर की ममता का त्याग करते हैं। परन्तु अपवाद मार्ग पर चलने वाले ज्ञानादि हेतु काया का पोषण करते है। काया जहां है, वहां मल अवश्य है। आत्मा निर्मल है, शरीर तो मलयुक्त है। अतः काया-पोषण के साथ इस उत्सर्ग की प्रक्रिया भी यदि यतनापूर्वक की जाय तो साधक केवलज्ञान की स्थिति प्राप्त कर सकता है। निष्कर्ष में यतना ही कैवल्य की दायिनी है।

कल्पों से रहित जिनकल्पी ऋषि, मुनि वस्त्र, पात्र, आहार, शिक्षा आदि को कर्म-वर्धक और संयम-बाधक द्रव्य मानकर उन्हें भी दूर परठा देते है, मन के भीतर उत्पन्न कषाय रूप मैल का विसर्जन कर वे किसी भी प्रकार की उपधि से युक्त नही होते हैं।

अपवादमार्गी स्थविरकल्पी मुनि अपवाद मार्ग पर चलते हुए भी किस प्रकार मोक्ष ध्येय को पूर्ण कर सकते है, यह इस समिति में समझाया गया है।

स्थविरकल्पी साधु द्रव्य से दिन में परिष्ठापनिका भूमि मंडल को देखकर और रात को उसी दर्शित भूमि पर प्रस्रवणादि परठाते है परन्तु भाव से तो राग-द्वेष रूप भाव-मल का त्याग करते है।

परिष्ठापना हेतु 'उत्तराध्ययन सूत्र' मे दस लक्षण युक्त निम्न दस विधान बताये है—

१. जहां कोई आता नहीं और देखता भी नहीं।

---

१ पंचमी सुमति जाणो काइ तस नाम परठावणी मानो हो।
अभय व्रत वधावो जी, जयणासु परिठावो हो मुनिवर
समिति सदा सुखकारिणी रे..........॥

तिलोक काव्य कल्पतरू, भाग ४, पृ. ४५७

२. जहां पर परठाने योग्य पदार्थ परठने से किसी व्यक्ति को आ न पहुँचे ।
३. परठने की भूमि सम हो ।
४. पोलार रहित अर्थात् तृणादि से आच्छादित व दरारों से युक्त न
५. कुछ समय पहले ही अचित्त हुई हो ।
६. विस्तीर्ण हो (कम से कम एक हाथ लम्बी-चौड़ी) ।
७. वहुत गहराई (कम से कम चार अंगुल नीचे) तक अचित्त हो
८. ग्रामादि से कुछ दूर हो ।
९. मूषक, चीटियाँ आदि के विलों से रहित हो ।
१०. त्रस प्राणियों एवं बीजों से रहित हो ।[1]

तीन गुप्ति :

१. मनोगुप्ति—समिति श्रेष्ठं है साथ-साथ सरल भी है परन्तु गुप्ति अतीव दुष्कर है । उसके धारण करने वाले मुनि निज गुणों को प्रकट कर निज स्वरूप का ज्ञाता हो अष्टकर्म से रहित सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है ।

मन-वचन-काया रूप तीनों योगों में भी मनोयोग की गति अति तीव्र है। मन को स्थिर करना अति दुष्कर होने से तीन दण्ड में मनोदण्ड को ही बड़ा माना गया है । मन रहित (असंज्ञी) जीव क्रूर कर्म करता भी है तो वह मन रहित होने से प्रथम नरक से आगे (दूसरी, तीसरी आदि में) नहीं जाता है। संज्ञी जीव जिसकी अवगाहना मात्र अंगुल के असंख्यात भाग की हो, (वह देह से क्रूर कर्म न भी कर सकता हो तो भी मन से क्रूर कर्म कर) वह सातवी नरक में उत्पन्न हो सकता है । (असंज्ञी) मत्स्य की काया सहस्र योजन लम्बी-चौड़ी हो और क्रोड़ पूर्व स्थिति का उसका आयुष्य हो तो भी वह प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकता है । यही मन का गम्भीर रहस्य है । इसी कारण भव्यात्मा मुनि मनगुप्ति की आराधना कर मन की तीव्र गति को वश में करता है तो आत्मा (जन्म-मरण रूप) रोग से मुक्त होता है ।

योग के द्वारा ही पुद्गल संचय होता है और योग के द्वारा ही कर्मो के साथ आत्मा की सदा नवीन संधि होती है ।

इन्ही कारणों को जानकर मुनि ! तू निज आत्मगुण में लीन हो शीघ्र निर्विकल्पक स्थिति को प्राप्त कर । सविकल्पक गुण अपवाद मार्ग में साधु का अवश्य है परन्तु उत्सर्ग मार्ग का ज्ञाता हो जाने पर निर्विकल्पक मुनि को क्षण

---

१. उत्तराध्ययन, अ २४, गा. १७-१८

बार भी अपवाद के प्रति अंश मात्र भी रुचि नहीं होती। शुक्लध्यान के आलंबन को धार कर वह मुनि ध्यानलीन हो आत्म स्वरूप दर्शन में स्थिर हो जाता है।

२. वचन गुप्ति—आगम के अनुसार मनोयोग की अपेक्षा वचन योग की अधिकता बताई गई है। पन्नवणा[1] सूत्र में दो सौ उनचालीस (२३९) वें बोल में वचन योग के स्वरूप में कहा है कि भाषा का संठाण वज्र जैसा है।[2] त्रस प्राणी द्वारा बोली जाने वाली इस भाषा को ग्रहण करते समय शास्त्रोक्त आठ—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श में से चार विरुद्ध स्पर्शो को जीव फरसता है[3] और प्रगट करते समय आठों को फरसता है।

भाषा या ऋद्धियुक्त वचन ये नामकर्म के प्रभाव से ही है। ऐसे वचन-योग का गोपन वचन गुप्ति है।

भाषा वर्गणा के पुद्गलों के ग्रहण निसर्ग की[4] उपधि जो आत्मवीर्य को प्रेरित करती है, आत्मा उसे क्यों ग्रहण करती है, इसके उत्तर में कहा है—यह करने का कारण भी आत्मा को शुद्ध करना ही है। इस शुद्धि के साधन १२ प्रकार के तप है। इन साधनों के द्वारा काया का गोपन कर आत्मा कर्मो के घातिक वर्ग से मुक्त हो सकता है।

वचन गुप्ति का प्रारम्भ कौन-से गुण-स्थानक से होता है और कौन-से गुणस्थानक तक वह रहती है, इत्यादि समाधान हेतु कहा है—

वचन गुप्ति का उदय सम्यक्त्व (चौथे) गुणस्थानक से होता है और वह अयोगी (१४वे) गुणस्थान तक उपादान रूप स्थिर रहता है। अतः जिन मुनियों के मन मे चित्तशुद्धि पूर्वक गुप्ति में रुचि रमणता आती है उनके मन में समिति पंच रूप और गुप्ति निश्चय सम्यक्त्व रूप प्रतीत होती है।

३. कायगुप्ति—योगों में काया योग तीसरा योग है। इसका कंपन स्वभाव

---

१. भाषा पद—पद ११ वाँ सूत्र ८५८

२. पन्नवणा सूत्र—पद ११, सूत्र १५ की वृत्ति

३. पन्नवणा सूत्र—पद ११, सूत्र ८७७

४ विज्ञान ने इस बात को प्रायोगिक रूप प्रदान किया है। आज भी आकाशवाणी में प्रथम शब्दो के ग्रहण निसर्ग के समय ग्राफ के रूप मे वे तरंगो के रूप मे प्रकट होते दिखाई देते है। विशेष स्पष्टीकरण हेतु आगम मे इनका मोनोग्राफ इस प्रकार है—

ग्र ग्र ग्र ग्र ग्र ग्र ग्र ०

० नि नि नि नि नि नि नि
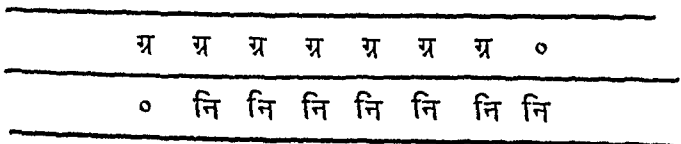
देखिये—पन्नवणा सूत्र, पद—११ सूत्र ८७९

है, इसे स्थिर करना अत्यन्त दुष्कर है। जिस प्रकार जब जोर से पवन चलत हो उस समय नाव को स्थिर करना मुश्किल है, वैसे ही कंपन स्वभाव के कार काया को स्थिर करना दुष्कर है।

कंपन के प्रकारों के बारे में गौतमस्वामी और भगवान महावीर का प्रस्तु सवाद द्रष्टव्य है—

गौतम—भन्ते ! एजना कपन कितने प्रकार की कही गयी है ?

इसके उत्तर में प्रभु कहते है—हे गौतम ! एजना पाँच प्रकार की क गई है। योग द्वारा आत्म-प्रदेशों का कंपन होना या पुद्गल द्रव्यों का चलना इसक नाम एजना है। इस प्रकार एजना कंपनादि रूप होती है। कंपनादि रूप य एजना द्रव्यादि के भेद से पाँच प्रकार की है।

जैसे—द्रव्यएजना—द्रव्यों की एजना नरकादि जीव संपृक्त पुद्गल द्रव का—शरीरों का कंपन।

क्षेत्रेजना—नरकादि क्षेत्रो में वर्तमान जीवो की अथवा जीव संपृक्त पुद्ग द्रव्यों की जो एजना कंपन है वह क्षेत्र एजना है।

कालेजना—नरकादि काल मे वर्तमान जीवों की अथवा जीव संपृक्त पुद्ग द्रव्यों की जो एजना है वह कालएजना है, ।

भावेजना—नरकादि भव में वर्तमान जीवों की अथवा जीव द्रव्य सपृ पुद्गलो की जो एजना है वह भावेजना है।[1]

मोक्ष प्राप्ति तक काया तो रहती ही है फिर यह कपन कहाँ तक रह है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है—

१४ वें गुणस्थानक में शैलेशी अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। 'भगवत सूत्र' मे गौतम स्वामी के यह पूछने पर कि क्या शैलेशी अवस्था प्राप्त होने प भी कंपन होता है ?

परमात्मा ने कहा—"नोइणट्ठे समट्ठे, नऽन्नत्थेणं परप्पयोगेणं"।[2]

पूर्व कर्मक्षय हेतु आत्मा प्रयास करता रहे पर जीवात्मा यदि नवीन क का वंधन करता ही रहे तो फिर मोक्ष कव हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्त में कहा है—

यदि देह को ही स्थिर कर दिया जाय तो नवीन कर्म वन्धन का कार ही नही वनता, क्योंकि काया के स्थिर करने पर भाषा अपने आप स्थिर हो

१. भगवती सूत्र, शतक—१७, उद्देशक—३, सु. २—४, पृ. ७८१

२. भगवती सूत्र, शतक—१७, उद्देशक—३, सु. १, पृ. ७०१

है और विषयों के रस-भोग अपने आप समाप्त हो जाते है। मन का योग भी न रहने से क्रिया के साथ कर्म भी रूक जाते है।

प्रस्तुत विवरण के बाद आत्मा ने यह स्वीकार तो किया कि काया को गुपित करना अत्यावश्यक है, यह श्रेष्ठ भी है, मोक्ष का कारण है परन्तु यह गुप्ति की कैसे जाय ?

अष्टप्रवचनमाता अपने वत्स की सुरक्षा के लिए समाधान देती है—

जीव का स्वरूप चैतन्य निराकार स्वरूप है, उसका स्वभाव सदा उपयोगी है। यह देह जड़ पुद्गल के द्वारा कर्म ग्रहण करता है। अतः यह निश्चय से ध्यान रखना कि इसे छोड़े बिना तुझे सुख की प्राप्ति नही होगी। इसके लिए तुझे तप के बारह प्रकारों को जानकर, संयम को १७ प्रकार से समझकर, दस प्रकार के मुनिधर्म का आलम्बन लेकर उसका मन-वचन-काया से पालन कर, २२ परिषह पर विजय प्राप्त करनी होगी। मुक्ति-प्राप्ति का यही एक उपाय है, ऐसा समझकर हे भव्यात्मा ! मन-वचन-काया को वश मे कर समिति के पांच प्रकार स्वरूप इस जघन्य ज्ञान आराधना द्वारा तू शीघ्र ही भव-जल ससार से पार हो जा।

इस प्रकार अष्टप्रवचन माता का आशीर्वाद प्राप्त करने वाला साधक शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है। ◻

अवसर आने पर तुम भी ऐसा ही करना

❀ श्री मनोज आंचलिया

एक बार गाधीजी रेल से कही जा रहे थे। तब तक वह महात्मा नही बने थे। उनके डिब्बे मे एक ऐसा व्यक्ति भी बैठा था जो बार-२ फर्श पर थूंक रहा था। बापू ने उससे कुछ नही कहा। कागज के टुकडे से थूंक को पोछ कर फर्श को साफ कर दिया। उस व्यक्ति ने यह सब देखा तो समझा कि यह सफाई-कर्मचारी मुझे नीचा दिखाना चाहता है। बस, उसने फिर थूंक दिया। गांधीजी ने पहले की तरह फिर पोछ दिया। अब तो वह व्यक्ति बार-२ थूंकने लगा लेकिन गांधीजी तनिक भी विचलित नही हुए। जैसे ही वह थूंकता वे बिना बोले फर्श को साफ कर देते। अन्त में स्टेशन आ गया। लोग गाधीजी की जयजय-कार करने लगे। यह देखकर उस व्यक्ति का पसीना छूटने लगा। उसने लपक कर गांधीजी के चरण पकड़ लिए। बार-२ क्षमा मागने लगा। बापू बोले—"क्षमा की कोई बात नही है। मैने अपना कर्तव्य पालन किया है। अवसर आने पर तुम भी ऐसा ही करना।"

—सुन्दर स्पोर्टस, चेटक सर्किल, उदयपुर

हो जायें सबसे पार

❀ महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभसागर म. सा.

जीवन का वहिरंग भौतिक साधनों से जुड़ा है और अन्तरग आध्यात्मिक साधनों से। इसलिये वहिरंग विज्ञान है और अन्तरंग अध्यात्म है। विज्ञान भौतिक प्रयोग है और अध्यात्म ध्यान योग है। विज्ञान का शास्त्र शुरू होता है पर से और अध्यात्म का शास्त्र शुरू होता है खुद से। अध्यात्म और विज्ञान मे फर्क तो है, पर वह जीवन के अन्तरंगीय और वहिरंगीय जितना ही। दोनों में प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा तो है, पर राम-रावण जैसा कोई प्रतिद्वन्द्वी-भाव नही है। यह तो वैसे ही है, जैसे विद्यालय में प्रतियोगिताए होती है। दस लड़के गीत गाते हैं कोई एक पुरस्कार पाता है। प्रथम वह जरूर आया, पर प्रथम आने से वाकी लड़के उससे दुश्मनी नही रखेगे।

जीवन का अन्तरंग और वहिरग, अध्यात्म और विज्ञान भी भिन्न-भिन्न तो है, पर दोनों ही जीवन के अग है, मानवीय मस्तिष्क की उपज है। इसलिए दोनों मे विरोध और द्वन्द्व नही है। व्यतिरिकी तो है, पर मित्र है परस्पर।

वैसे अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही विज्ञान है। अध्यात्मक का आत्म विज्ञान है और विज्ञान प्रकृति का। अध्यात्म अन्तरंग की धारा का प्रतिनिधि है और विज्ञान वहिरंग धारा का। विज्ञान चलता है अणु से लेकर खगोल-भूगोल आदि के प्रयोगों पर और अध्यात्म चलता है अन्तरग की गहराइयो पर, चेतना की शक्तियों पर। इसलिए वाहर को समझने के लिए विज्ञान सहयोगी है तो भीतर का समझने के लिए अध्यात्म। दोनो पूरकता लिए है।

विज्ञान में तथ्य को समझा जाता है और अध्यात्म मे ध्यान से तथ्य का अनुभव किया जाता है। विज्ञान अपने से वाहर की यात्रा है और अध्यात्म वाहर से भीतर की यात्रा है। विज्ञान वाहर की खोज करता है, अध्यात्म-ध्यान भीतर की खोज करता है। विज्ञान परकीय तथ्यो को उभारता है, अध्यात्म स्वकीय तथ्यो को उजागर करता है। वास्तव मे अध्यात्म शुद्धात्मा मे विशुद्धता को आधारभूत अनुष्ठान है।

'सूत्रकृतागसूत्र' में कहा है कि जैसे कछुआ अपने अगो को अपनी देह में समेट लेता है, वैसे ज्ञानी लोग पापो को अध्यात्म के द्वारा समेट लेते है।

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेणं समाहारे।।

अध्यात्म अर्थात् ध्यान। यह वह साधना है जो स्वयं पर लगे हुए पर

को, ऊपरी आवरणों को, अन्तर-स्रोत की चट्टानों को, घूंघट का हटा देती है। वह घूंघट किसी का भी हो सकता है। मन का भी हो सकता है, चिन्तन-वचन का भी हो सकता है, शरीर का भी हो सकता है। मन, वचन और शरीर के इन तीनों घूंघटों को हटाने के बाद ही आत्मा-परमात्मा के सौन्दर्य का दर्शन होता है अन्यथा कोई कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि वह घूंघट में है, किसी से आवृत्त है, तो उसका सौन्दर्य ढका हुआ ही रहेगा। आइंस्टीन जैसों ने किये होंगे आविष्कार पर आविष्कार, पर सारे के सारे परकीय पदार्थों का आविष्कार हुआ। दीपक तले तो अंधेरा ही रह गया। स्वयं का आविष्कार कहां हुआ ?

यदि हम केवल विज्ञान को महत्त्व देंगे, तो बड़ी भूल करेंगे। क्योंकि बहिरंग ही सब कुछ नहीं है। जैसे अन्तरंग से सभी को जुड़ा रहना पड़ता है, वैसे ही अध्यात्म से जुड़ा रहना पड़ेगा। जैसा अन्तरंग होगा, वैसा ही बहिरंग होगा। बहिरंग के अनुसार अन्तरंग नही हो सकता। जैसा बीज, वैसा फल, जैसा अंडा वैसी मुर्गी। अन्तरंग शुद्ध है, तो बहिरंग भी शुद्ध होगा। जो भीतर से अशुद्ध है, वह बाहर से भी अशुद्ध होगा। पर बाहर से अशुद्ध ही हो यह कोई जरूरी नही है। बगुला बाहर से शुद्ध, किन्तु भीतर से अशुद्ध रहता है। इसीलिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि "मुख में राम, बगल में छुरी।" बाहर कुछ भीतर कुछ, कथनी कुछ करनी कुछ—दोनो में अन्तर, जमीन-आसमान जितना अन्तर।

आज का युग विज्ञान-प्रभावित युग है। आदमी बहिर्मुखी होता जा रहा है। जो लोग आत्ममुखता की चर्चाएं करते है गहराई से देखे तो लगेगा कि उनके जीवन मे भी बहिर्मुखता है। बहिर्मुखता प्रधान हो जाने के कारण आत्ममुखता गौण होती जा रही है। यदि कोई आत्म-मुखी होने के लिए प्रयास भी करता है, तो बाहरी वातावरण उसे वैसा करने मे अवरोध खड़ा कर देता है। वहिर्मुखता या बहिरंग से मेरा मतलब केवल बाहरी सुख-वैभव आदि से नही है, अपितु हमारा शरीर भी, हमारा वचन भी, हमारा मन भी बहिरंग ही है। और सत्य तो यह है कि ये ही सबसे अधिक बहिरंगीय पहलू है, जिनसे आदमी जुड़ा रहता है और आकाश में फूल खिलाता रहता है। ये मन, वचन, शरीर ही हमें अपने से, आत्मा से बाहर ले जाते है। मरीचिका के दर्शन से जल पाने के लिए हमारे भीतरी हरिण को सारे संसार के वन मे दौड़ाते हैं। मन, वचन, काया के योग से अयोग होना ही ध्यान का लक्ष्य है।

मन, वचन और शरीर ये ही तो अन्तरात्मा की मूर्ति को ढके है, आवृत्त किये हुए है। ध्यान इसे अनावरित करता है, आवरणों को हटाता है, पर्दो को हटाता है। ध्यान की प्रक्रिया वास्तव मे आत्मा के स्व-भाव को ढूंढना है। यह शरीर है, शरीर के भीतर वचन है, उसके भीतर मन है और इन तीनों के पार है आत्मा। तीनो के पार तो है मगर सम्बन्ध तीनों से जुडा है, क्योंकि आत्मा

शरीरव्यापी है। पर लोग हैं ऐसे, जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठते है अ
कायाव्यास हो जाता है, कार्योत्सर्ग की भावना मन से निकल जाती है। इस
लिए मन, वचन, शरीर वास्तव मे बाधाएं है और हमें ध्यान द्वारा इन पर्दों को
काटना है। हमें समझना है, पर्तोंदर पर्तों को, जिनसे आत्म-स्रोत रूंधा पड़ा है।

शरीर स्थूलतम हैं। वचन शरीर से सूक्ष्म शरीर है और मन, वचन
से सूक्ष्म शरीर है। तीनों ही पदार्थ है, तीनों ही अणुसमूह हैं। ये तीनों पार
माणविक, पौद्गलिक, भौतिक संरचनाएं हैं। मजे की बात यही है कि इन तीनों
मे मन सबसे सूक्ष्म है। पर वही इन तीनों मे प्रधान है। शरीर और वचन दोनों
का राजा मन ही है, मन के ही काबू मे है ये दोनों। मन जहां कहता है, शरीर
वही रुक जाता है। जिसके मन ने कहा चलो धर्मस्थल मे, वे वहा पहुंच गये।
जिसके मन ने कहा, वहां जाने से कोई लाभ नही है, चलो दुकान मे। तो
आदमी दुकान चला जाता है। शरीर की सारी चेष्टाएं मन के आदेश से होती
है। वचन बेचारा है। मन ने चाहा कि मैं जैसा हूं, वैसा ही वचन हो, तो
वचन को वैसा ही होना पड़ता है। मन ने चाहा, कि मैं जैसा हूं वैसा वचन
अगर मुंह से न निकला, तो इसमें मेरी बेइज्जती होगी, मेरी हानि होगी तो बिचारे
वचन को मन की चाह के अनुकूल होना पडता है।

इसीलिए जो मन मे है वही वचन मे होगा। जो हमारे वचन में है
वही शरीर मे घटित होगा। मन तो बीज रूप है, वचन अंकुरण है और शरीर
फसल है। फसल मे प्राप्त होने वाले अनाज ही उसका अभिव्यक्त रूप है।

यद्यपि बहिर्दृष्टि से शरीर प्रथम है किन्तु अन्तरदृष्टि से मन प्रथम है।
पर योजित तो हम होते ही है, चाहे बाहर से हो या भीतर से। हम योजित
होते ही हैं, यानी हमारी आत्मा योजित होती है, हमारा अस्तित्व योजित होता
है। जैसे भूख लगने पर हम कहते है—मुझे भूख लगी है। अब आप सोचिये
कि भूख किसे लगती है? भूख का सम्बन्ध इस पेट से है, शरीर से है, किन्तु
हम कहते है मुझे भूख लगी है। तो हमने शरीर से जुड़ने वाली चीज को आत्मा
से जोड़ लिया। इसीलिए क्योंकि शरीर के साथ तादात्म्य है। इसी तरह क्रोध
उठा। क्रोध विचारो में आया, किन्तु हम कहेगे मुझे क्रोध आया। यह विचार
के साथ आत्मा का तादात्म्य है। वासना जगी। वासना मन मे जगती है, पर
कहते हैं—मैं कामोत्तेजित हूं। हमने मन के साथ 'मैं' को जोडा, आत्मा न
जोड़ा, पर के साथ स्वयं को जोडा।

यद्यपि मन, वचन, शरीर ये तीन नाम हे, किन्तु तीनों अलग-अलग नह
हे। तीनों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। तीनो एक दूसरे के पूरक हैं
अन्योन्याश्रित हैं। बीज, अंकुर और फसल कोई अलग-अलग स्वरूप नही है
तीनों का अपना-अपना स्वरूप होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े-पनपे हैं। कार

ाभी मूलतः परमाणु हैं । आत्मा इन तीनों से स्वतन्त्र है । उसका अपना स्वरूप
है । आत्मा तो निरभ्र आकाश है । मन, वचन, काया के योग के बादल ही उसे
ढके है । अगर ध्यान का, अध्यात्म का सूर्य उग गया, तो आकाश निरभ्र होते
देर न लगेगी ।

जो लोग सत्य के गवेषक/अन्वेषक है, आत्मा मे प्रवेश करना चाहते है, सत्य की खोज करना चाहते हैं, उन्हें शरीर, वचन और मन की गलियों से गुजरना होगा । ये गलियां कोई सामान्य नही है । अंधियारे से भरी हुई और कांटों से सजी हुई हैं । इसीलिए साधक की शोध-यात्रा/शोभा-यात्रा ऐसे-ऐसे रास्तों से गुजरती है जो बीहड़ है । पर आत्मा की किरण इसी शरीर में से फूटेगी । जो लोग अपने शरीर को ही सर्वस्व समझ बैठे है, उन्हें उस किरण की झलक नहीं मिल सकती ।

बहुधा होता यही है कि या तो व्यक्ति ध्यान करता नहीं है और कर भी लेता है तो शरीर का ही ध्यान करता है—शारीरिक ध्यान, इसे ही कहते हैं हठयोग । वास्तविक साधना हठयोग से सिद्ध नही होती । हठयोग के द्वारा शरीर को काबू में किया जाता है । योगासन भी इसी की देन है । बाहुबली खड़े रहे ध्यान में, पर उनका ध्यान हठयोग से जुड़ा था । अहम् एवं कुण्ठा की दुर्वह ग्रन्थि उनके अन्तरतम में अटकी थी । वे अहंकार के मदमाते हाथी पर बैठे थे, तो ध्यान फल कैसे दे पायेगा ? घोर तप करने के बावजूद सत्य को उपलब्ध न कर पाये । जैसे ही अहम् टूटा कि सत्य से साक्षात्कार हो गया । वास्तव में ध्यान तो सत्य की खोज है, हठयोग नही ।

प्रसन्नचन्द्र भी तो हठयोग की मुद्रा में खड़े थे, साधु का वेश, योगासन की मुद्रा, पर मन में जो भावों के गिरते-बढते आयाम थे, उसी के कारण नरक-स्वर्ग गति के झूले में झूलते रहे । शरीर तो सधा, पर शरीर से सधने से यह कोई जरूरी थोड़े ही है कि विचारों की आंधी शान्त हो जाये । शरीर से हटे, तो विचारो में जाकर उलझ गये । जैसे ही उपशम-गिरि पर चढ़े कि सिद्ध-बुद्ध बन गये ।

हठयोग जरूरी तो है, पर वह साधना का अन्तिम रूप नहीं है । चूंकि साधना का पहला सोपान शरीर है और व्यक्ति इससे वहुत अधिक जुड़ा है, अतः शरीर की साधना भी बहुत जरूरी है । पर उसे साधने के लिए लोग ऐसे-ऐसे तरीके अपना बैठते हैं, जिससे शरीर तो शायद सध जाए, पर मन न सधे । शरीर को मैथुन से दूर कर लिया पर मन में विषय-वासना की आंधी उठ सकती है । इसीलिए मैंने कहा कि मन ही प्रधान है । यदि मन मे वासना ही नही है तो शरीर द्वारा वासना की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? शरीर तो स्वयमेव सध गया ।

जितेन्द्रियता और सेवा

❀ स्वामी शरणानन्द

अपना निर्माण करने, अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने के लिए इन्द्रिय-लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ-चिन्तन से भगवत्-चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन की ओर एवं असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त आवश्यक है। कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नही कर लेता, अपनी बनायी हुई पराधीनताओ का त्याग करके स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक चिन्तन और चेष्टाओ से रहित नही होता, अपने को सहृदय और उदार नहीं बना लेता, सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता तब तक वह अपने को सुन्दर नही बना सकता—यह निर्विवाद सत्य है।

इन्द्रिय-लोलुपता अविवेक-सिद्ध है। यदि मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से अपने को असंग करले तो बहुत ही सुगमता पूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त हो सकती है, अर्थात् भोग से भोक्ता का मूल्य बढ जाता है, जिसके बढते ही भोग की रुचि तत्त्व की जिज्ञासा में, अथवा प्रेमास्पद की प्रियता मे परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं से असग होना अनिवार्य है। असगता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु निज विवेक के आदर से ही साध्य है, कारण कि समस्त अभ्यास शरीर के तादात्म्य से ही किये जाते हैं। करने की रुचि ने ही देहाभिमान को पोषित किया है और देहाभिमान से ही सुख मे प्रलोभन तथा दु.ख का भय उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह नही है कि प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न करे। करने के फलस्वरूप कुछ पाने का जो प्रलोभन है उसी से प्राणी मे देहाभिमान पोषित होता है, जिसके होते ही उत्पन्न हुई वस्तुओ मे सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता भासती है, जो इन्द्रिय-लोलुपता की भूमि है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि विवेकपूर्वक तीनों शरीरो से असंग होने पर ही वास्तविक जितेन्द्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

देहाभिमान रहते हुए बलपूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त करने का प्रयास विषयाशक्ति के नाश मे समर्थ नही होता, अपितु तप-पूर्वक अल्प काल के लिए विषयासक्ति दब जाती है, नष्ट नही होती। इस कारण विषयासक्ति का नाश एकमात्र विचार से ही सम्भव है। विचार-रूपी सूर्य का उदय होते ही विषयासक्ति रूपी अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से तप और त्याग दोनों ही के द्वारा जितेन्द्रियता सिद्ध होती है। तप से शक्ति का सम्पादन होता है और

याग से निर्वासना आती है, जिससे सर्वांश में समस्त आसक्तियों का अन्त हो जाता है, जो वास्तविक जितेन्द्रियता है।

इन्द्रिय-लोलुपता परिवर्तनशील सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बडा अन्तर यह है कि सुख का भोगी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अधीन हो जाता है, अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता मे बदल जाती है। इतना ही नहीं, उसमें शक्तिहीनता, हृदयहीनता और परिच्छिन्नता आदि अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती है। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता-स्वाधीनता में, हृदयहीनता सहृदयता में, परिच्छिन्नता मे और निर्बलता सबलता मे बदल जाती है, क्योकि हित हमे 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित का अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'है' की ओर अग्रसर होता है, अर्थात् वह दृश्य से विमुख होकर सर्व के प्रकाशक मे प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर विषय इन्द्रियों मे, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि उसमे लीन हो जाती है जो सबसे अतीत है। इस प्रकार बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है, फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन से अभिन्न हो जाती है—बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता का अन्त हो जाता है, क्योकि इन्द्रिय-जय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होने लगता है।

पर जब तक स्वार्थ-भाव निर्मूल नही हो जाता तब तक जितेन्द्रियता की उत्कट लालसा जाग्रत नही होती, जिसके बिना हुए मानव सत्पथ पर अग्रसर नही हो सकता। इस दृष्टि से स्वार्थ-भाव का अन्त करना अनिवार्य है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सुखासक्ति का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र सेवा से ही साध्य है। सेवा की अभिव्यक्ति दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही निहित है। सेवा के बिना सुखासक्ति निर्मूल नही होती, कारण कि सुख का सद्व्यय सेवा द्वारा ही सम्भव है। सेवा-भाव उदित होते ही प्राणिमात्र से एकता हो जाती है, जिसके होते ही दुःखियो को देख सेवक का हृदय करुणा से परिपूर्ण होता है और फिर सेवक प्राप्त सुख आदरपूर्वक दुःखियो को भेंट कर देता है। ऐसा करते ही सुख की दासता शेष नही रहती, यही विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नही है। इन्द्रिय-दृष्टि से भिन्नता प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार शरीर और शरीर के अवयवों मे एकता है उसी प्रकार समस्त विश्व के साथ एकता स्वतःसिद्ध है। एकता दुःखियो को देखने पर करुणा और सुखियो को देखने पर प्रसन्नता प्रदान करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्नता निष्कामता से अभिन्न करती है। भोग की रुचि का नाश होते ही योग और निष्कामता आते ही असंगता स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य और असंगता से स्वा-

धीनता स्वत. प्राप्त होती है । इस दृष्टि से सेवा-भाव बड़े ही महत्त्व की वस्तु है । इतना ही नही, सेवा सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है, अथवा यो कहे कि सेवक का अस्तित्व सेवा से भिन्न और कुछ नही रहता । सेवा सेव्य का स्व-भाव और सेवक का जीवन है । सेवा से सेव्य को रस मिलता है और जगत् का हित होता है । सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र सेवा में ही निहित है । सेवा से जीवन जगत् के लिए, अपने लिए एवं सेव्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। सेवा-भाव जाग्रत होते ही प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय स्वतः होने लगता है, जो जगत् के लिए उपयोगी है । सेवा से प्राप्त वस्तु आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना शेप नही रहती । सेवा से पराधीनता स्वाधीनता मे, जड़ता चिन्मयता मे एवं मृत्यु अमरत्व मे विलीन हो जाती इस दृष्टि से सेवा अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है । सेवा सेव्य में आत्म जाग्रत करती है । आत्मीयता मे ही अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता निहित जिससे सेव्य को रस मिलता है । अतएव सेवा सेव्य के लिए भी उपयोगी होती है । मानव जिसमे अविचल आस्था स्वीकार करता है वही उसका सेव और उसी के नाते सेवा की जाती है । सेवा भौतिकवादियों को विश्व अध्यात्मवादियो को आत्मरति एवं भक्तो को प्रभु-प्रेम प्रदान करने मे समर्थ प्रेम का आरम्भ किसी के प्रति हो, अन्त मे वह विभु हो जाता है, कारण दर्शन अनेक होने पर भी वास्तविक जीवन एक है । उससे अभिन्नता मानव-की सेवा द्वारा हो सकती है ।

卐

- ☐ जो अपने मुख और जिह्वा पर संयम रखता है, वह अपनी आत्मा को सतापों से बचाता है । —बाइबिल
- ☐ संयम में पहला कदम है विचारों का संमम । —महात्मा गाधी
- ☐ सौन्दर्य शोभा पाता है शील से और शील शोभा पाता है संयम से । —कवि नान्हालाल
- ☐ जो अपने ऊपर शासन नही करेगा, वह हमेशा दूसरो का गुलाम रहेगा । —महाकवि गेटे
- ☐ जिसका मन और वाणी सदा शुद्ध और संयत रहती है, वह वेदान्त शास्त्र के सब फलो को प्राप्त कर सकता है । —महर्षि मनु
- ☐ संयमी पुरुष सदा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म-भोग लिप्सा और लोभ का परित्याग करे । —भगवान महावीर

व्रत की जरूरत

❀ महात्मा गांधी

जीवन को गढ़ने के लिये व्रत कितने जरूरी है, इस पर यहा सोचना
ुनासिब लगता है ।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह बलवान भी है, जो कहता है—"अमुक
यमों का पालन करना ठीक है, लेकिन उनके बारे में व्रत लेने की जरूरत नहीं
। इतना ही नहीं, वह मन की कमजोरी बताता है और नुकसान करने वाला भी
सकता है और व्रत लेने के बाद ऐसा नियम अड़चन रूप लगे या पाप रूप
ो तो भी उससे चिपके रहना पड़े, यह तो सहन नहीं हो सकता" वे । कहते है—
ासाल के तौर पर शराब न पीना अच्छा है । इसलिए शराब नहीं पीनी चाहिये ।
किन कभी पी ली गयी तो क्या हुआ ? दवा के तौर पर तो उसे पीना ही
ाहिये । इसलिये उसे न पीने का व्रत लेना तो गले में फंदा डालने के बराबर
। और जैसा शराब के बारे में है, वैसा और चीजों के बारे में भी है । भले ही
म झूठ भी क्यों न बोलें ?

मुझे इन दलीलों में कोई वजूद मालूम नहीं होता । व्रत का अर्थ है—
डिग निश्चय । अड़चनों को पार करने के लिए ही तो व्रतों की आवश्यकता
। अड़चन बरदाश्त करते हुए भी जो टूटता नही, वही अडिग निश्चयी माना
ायेगा । ऐसे निश्चय के बगैर मनुष्य लगातार ऊपर चढ़ ही नहीं सकता, ऐसी
वाही सारी दुनिया का अनुभव देता है । जो आचरण पापरूप हो, उसके निश्चय
ो व्रत नहीं कहा जायेगा । यह राक्षसी-शैतानी वृत्ति है । और जो निश्चय पहले
ुण्यरूप लगा हो और आखिर में पापरूप साबित हो, उसे छोड़ने का धर्म जरूरी
ो जाता है, लेकिन ऐसी चीज के बारे में कोई व्रत नहीं लेता और न लेना
ाहिये । सब कोई जिसे धर्म मानते है, लेकिन जिसे आचरने की हमें आदत
ाही पड़ी है, उसके लिए व्रत लेना चाहिये ।

ऊपर की मिसाल में तो पाप का सिर्फ आभास ही हो सकता है । सच
कहने से किसी को नुकसान पहुंचेगा तो ? ऐसा विचार सत्यवादी करने नही
बैठेगा । सत्य से इस जगत् में किसी का नुकसान नही होता, न होने वाला है
ऐसा विश्वास वह रखे । उसी तरह शराब पीने के बारे में या तो उस व्रत मे
दवा के तौर पर शराब लेने की छूट रखनी चाहिये या छूट न रखी हो तो व्रत
लेने के पीछे शरीर का खतरा उठाने का निश्चय होना चाहिये । दवा के तौर
पर भी शराब न पीने से देह छूट जाय तो भी क्या हुआ ? शराब पीने से देह
रहेगी ही, ऐसा पट्टा कौन लिखवा सकता है ? और उस क्षण देह टिकी पर

दूसरे ही क्षण किसी और कारण से छूट गई तो उसकी जिम्मेवारी किसके
होगी ? इससे उल्टा देह छूट जाय तो भी शराब न पीने की मिसाल का श
की लत में फंसे हुए लोगो पर चमत्कारी असर होगा, यह दुनिया का कि
बड़ा फायदा है ? देह छूटे या रहे, मुझे तो अपना धर्म पालना ही है—ऐसा
शानदार निश्चय करने वाला मनुष्य ही किसी समय ईश्वर की झांकी
सकता है ।

व्रत लेना कमजोरी की निशानी नही है, बल्कि बल की निशानी
अमुक बात करना ठीक हो तो फिर उसे करना ही है, इसका नाम है व्रत।
ताकत है, फिर उसे व्रत न कहकर किसी और नाम से पहचानें तो उसमे
हर्ज नहीं । लेकिन "जहा तक हो सकेगा करूंगा" ऐसा कहने वाला अपनी क
जोरी का या अभिमान का दर्शन कराता है, भले वह खुद उसे नम्रता क
उसमें नम्रता की गंध भी नहीं है । "जहां तक हो सकेगा" ऐसा वचन
निश्चयों मे जहर जैसा है , यह मैंने तो अपने जीवन में और दूसरे बहुतो
जीवन मे देखा है । "जहा तक हो सकेगा वहां तक" करने के मानी है प
ही अड़चन आने पर गिर जाना । "जहां तक हो सकेगा वहा तक सच्चाई
पालन करूंगा" इस वाक्य का कोई अर्थ नही है । व्यापार में "हो सका तो
तारीख को फला रकम चुकाने की" किसी चिट्ठी का कही भी चेक या हुं
रूप मे स्वीकार नही होगा । उसी तरह जहा तक हो सके वहां तक सत्य
पालन करने वाले की हुंडी ईश्वर की दुकान मे नही भुनाई जा सकती ।

ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है । उसके कायदे मे
एक अणु, एक जर्रा भी हटे तो वह ईश्वर न रह जाय । सूरज बडा व्रतधा
इसलिए जगत का काल तैयार होता है और शुद्ध पंचांग (जंत्री) बनाये
सकते हैं । सूर्य ने ऐसी साख जमाई है कि वह हमेशा उगा है और हमेशा उ
रहेगा और इसीलिए हम अपने को सलामत मानते है । तमाम व्यापार
आधार एक टेक पर रहता है । व्यापारी एक-दूसरे से बधे हुए न रहें तो व्या
चले ही नही । यों व्रत सर्वव्यापक, सब जगह फैली हुई चीज दिखाई देता है,
जहां अपना जीवन गढ़ने का सवाल हो, ईश्वर के दर्शन का प्रश्न हो, वहा
के बगैर कैसे चल सकता है ? इसलिए व्रत की जरूरत के बारे में हमारे
में कभी शक पैदा ही न होना चाहिये ।

समभाव में स्थित होना ही संयम है

❀ श्री गणेश ललवानी

"आपकी अग्नि क्या है ! अग्नि कुण्ड क्या है ? दर्वि क्या है ? अग्नि प्रज्वलन की करीष क्या है ? आप का यज्ञ-काष्ठ क्या है ? शान्ति मंत्र क्या है ? और आप किस प्रकार होम के द्वारा अग्नि में हवन करते है ?"

ब्राह्मणों के इन प्रश्नों के उत्तर में मुनि हरिकेशी बल कहते हैं—"हमारी तपस्या ही अग्नि है, प्राणी है अग्निकुण्ड, मन, वचन, काया का योग दर्वि, शरीर करीष, कर्म काष्ठ व संयमाचरण शान्तिमत्र है । ऋषियों के योग्य श्रेष्ठ होम के द्वारा हम हवन करते हैं ।"

इसका तात्पर्य यह है कि प्राणीमात्र अग्निकुण्ड है एवं मन, वचन, काया के शुभ व्यापार रूप घृत से शरीर रूप करीष के द्वारा तपस्या रूप अग्नि को हम प्रज्वलित कर अष्ट कर्म रूप ईंधन को भस्मसात करते हैं । इससे आत्मा निर्मल हो जाती है और (सतरह प्रकार[1] के) संयम द्वारा शान्ति को प्राप्त करती है । हम ऋषिगण इस प्रकार के प्रशस्त यज्ञ का अनुष्ठान करते है ।

संयम हमारा शान्ति मंत्र है । सयम धारण कर हम शान्ति प्राप्त करते है । सयम को धर्म भी कहा गया है—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
अर्थात् धर्म उत्कृष्ट, मंगल है । अहिंसा, संयम व तप वह धर्म है ।

धर्म क्या है ? 'तत्वार्थ सूत्र' में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—

'वत्थु स्वभावो धम्मः' ।

वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है । जल का स्वभाव शीतलता है, अन्य द्रव्य के संस्पर्श मे आकर ही वह उष्ण होता है । इसी भांति जीव का स्वभाव अहिसा, सयम व तप है । जीवो मे जो अन्य भाव देखा जाता है, वह हिसा, असंयम और अ-तप का परिणाम है । अतः जीवों का धर्म होता है, अहिसा, संयम व तप में प्रतिष्ठित होना ।

---

१. हिसा झूठ, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच आश्रवो का परित्याग, इन्द्रियों के पांचों विषय यथा—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श मे आसक्त न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायो का त्याग करना, मन, वचन काया की अशुभ वृत्तियों का दमन करना, यही सतरह प्रकार का संयम है ।

हिंसा से हम खण्डित होते है। एक दूसरे से बिछुड़ते हैं। यह धर्म नहीं है। धर्म वहां है, जहां परस्पर हम जुड़ते हैं, एकत्व में प्रतिष्ठित होते हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि कहते हैं—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधो वैर त्यागः" अर्थात् अहिंसा प्रतिष्ठित होने से वैर छूट जाता है। जब हम एक हैं, एक रूप हैं तब वैर किससे किसके साथ ? जब विभेद ही नहीं है तब वैर कैसा ?

असंयम से हम समभाव से च्युत होते हैं, संयम से समभाव से जुडते हैं। समभाव में स्थित होना संयम है।

अ-तप से हम मोह के गर्त में गिरते हैं यानि जीवन-प्रवाह में। तप से जीवन से कट कर स्वभाव को प्राप्त करते हैं। अहंकार छूट जाता है, मात्र छन्द रहता है।

योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसीलिए संयम को धारणा, ध्यान व समाधि का परिणाम बताया है। 'विभूति पाद' के प्रथम चार सूत्रों का निरूपण करते हुए वे कहते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा :

अर्थात् शरीर के बाहर या भीतर कहो भी किसी एक देश के चित्त को ठहराना धारणा है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् :

अर्थात् जहां चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि :

जब ध्यान मे केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयम :

किसी एक ही ध्येय में तीनों का होना संयम है।

संयम के विषय में हमने बहुत सी गलत धारणाएं बना ली है। हम समझते हैं कि महाव्रत ग्रहण करने मात्र से ही हम संयमी हो जाते हैं या फिर कृच्छ साधना संयम है। पर यथार्थ में है वैसा नही। संयम में चित्त ध्येयाकार हो जाता है और व्यक्ति-स्वरूप (ego) का अभाव-सा हो जाता है। तब ध्येय से भिन्न अन्य उपलब्धि नही होती है। 'सम' यानि ध्येय ब्रह्म या आत्मा मे वह रमण करता है और 'यम' यानि जीव सत्ता गौण हो जाती है।

तभी तो 'गीता' में कहा गया है।

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥ २/६९

अर्थात् संयमी वहां जाग्रत रहता है जो समस्त प्राणियों के लिए निशा है और जिसमें समस्त प्राणी जाग्रत रहते हैं, वह संयमी के लिए रात्रि है ।

'ऋसिभासिया' में भी अर्हत् वर्धमान भी यही कहते हैं—

पंच जागरओ सूत्ता पंच सुत्तस्स जागरा । २९/१

जिसकी पांच इन्द्रियां जाग्रत है, वह सुप्त है, जिसकी पांच इन्द्रियां सुप्त है, वह जाग्रत है ।

जैन भवन, पी २५ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००७

□

शौर्य संयम में है

❀ **श्री देवीचन्द भंडारी**

नेपोलियन युवावस्था में जिस जगह शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उसके पास में ही एक परिवार रहता था । उस परिवार की एक महिला ने नेपोलियन पर मोहित होकर उसे अपने रूप जाल में फंसाने का प्रयत्न किया । उसने नेपोलियन को कई प्रेम-पत्र भी लिखे परन्तु नेपोलियन शान्त रहा उसने कोई उत्तर नही दिया ।

बाद मे नेपोलियन सेनापति बना । वह अपनी सेना के साथ जब तुर्किस्तान की ओर जा रहा था तो उसने फिर उसी स्थान पर अपनी छावनी डाली । उस स्त्री को पता लगा कि नेपोलियन आया है तो वह नेपोलियन से मिलने के लिए आई परन्तु उसे पहचान नही पाई । नेपोलियन उसे पहचान कर कहने लगा:—

'तुम सुन्दरी हो पर संयमी नही । इसलिए यौवन का शील हनन करने वाली हो । मै सयमी हूं, यौवन के शौर्य का संग्रह करके मै वीर योद्धा बनना चाहता था जो मै आज बन गया हूं । इसलिए उस समय तुम पर ध्यान ही नही दिया । युवावस्था में संयम रक्षा कर शौर्य का संग्रह करना ही मानव का प्रथम कार्य है ।

संयम एक जीवन-शक्ति है । संयमी न होने से वाहरी व भीतरी सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । संयम ही जीवन है, असंयम ही मृत्यु है ।

—स्वाध्याय चितन केन्द्र, डी—४७, देव नगर जयपुर-३०२०१५

जो समो सव्भूववेसु, थावरेसु तसेसुवा ।
तस्स सामाइगं ठांई, इदिं केवलिसासणे ।।

आत्मा को आत्मा की स्वभावदशा का ज्ञान होते ही विषमता जाती रहती है । अनादि मिथ्या मान्यता से आत्मा स्वय के बारे में ही भ्रान्त दशा में पड़ा रहता है । मोहादिवशात् स्व को स्व और पर को पर रूप जान नही पाता है । पर में स्व की कल्पना करता है । पर ही स्व रूप भासित होता है । शरीर, कुटुम्ब, धनसम्पदा, पद-प्रतिष्ठा को स्व और स्व रूप ही मानता है । इसी कारण वाह्य पर राग करता है । इन्हे अपना मानता है । इन्हें क्षति पहुंचाने वाले पर द्वेष करता है । क्रोध करता है । हिंसादि पर उतारु हो जाता है । क्लेश पाता है । कर्मबंध करता है । उनके परिपाक पर पुनः रागादि रूप परिणमन कर पुनः नवीन कर्मबंध करता है और ऐसे दुष्चक्र मे अनादि से फंसा हुवा है ।

जिस क्षण स्व का ज्ञान हो जाता है । स्व स्वभाव का ज्ञान हो जाता है, भ्रांति टूट जाती है । स्व-पर का भेद स्पष्ट हो जाता है । तब समभाव आ जाता है । सब जीवो के प्रति, सब भावो के प्रति अखंड एकरस वीतराग भाव आ जाता है । लोक मे स्थित समस्त त्रस और स्थावर जीवो को समभाव से देखता है । अपने समान जानता है । सिद्ध समान जानता है । पर्याय से दृष्टि हटकर शुद्ध आत्मद्रव्य दृष्टि मे आ जाता है । तब न माता-पिता दिखते है, न भाई-बहन-पत्नी-पुत्रादि, न एकेन्द्रिय यावत् पचेन्द्रिय दिखते हैं, न देव-नारक, तिर्यच-मनुष्य अपितु उनके साथ रही हुई अजर-अमर अविनाशी चैतन्य स्वरूपी अखंड आत्मा दृष्टिगोचर होती है । भेद-पर्याय दृष्टि में पड़ता है । इसी कारण रागद्वेषादि परिणाम होते हैं । द्रव्य दृष्टि होते ही सब जीवो के प्रति सब भावों के प्रति समभाव आ जाता है । केवली के शासन में वही स्थायी सामायिक है ।

समभावो सामाइयं, तण कंचण सत्तुमित्तविसओत्ति ।
निरभिसंगमचित्तं, उचियपवित्तिपहाणं च ।।

समभाव ही सामायिक है । तृण हो या कंचन, शत्रु हो या मित्र, उसका चित्त निरभिश्वंग हो, उचित प्रवृत्तिप्रधान हो जाता है । जब दृष्टि द्रव्य की ओर, शुद्ध द्रव्य की ओर हो जाती है तब तृण और कचन समान दिखते हैं । दोनो ही पुद्गल परमाणुओं के पिंड दिखते हैं—सडन, गलन, विध्वंसनरूप पुद्गल । फिर न तृण के प्रति तुच्छ भाव और न कांचन के प्रति लालसा भाव । दोनों ही विनाशीका आत्म द्रव्य से पूर्णत. भिन्न । फिर न कोई शत्रु, न कोई मित्र । अपितु सर्वत्र, सभी आत्मा ही आत्माएं दिखाई देती है । शत्रु भी मित्र लगता है । कर्मों का ऋण चुकाने मे सहायक लगता है । धन्य हैं और धन्य हो गए गज-सुकुमाल मुनि जिन्होंने ऐसा मानकर परमपद पा लिया ।

सामायिक मे चित्त अचित्तप्रवृत्तिप्रधान और निरभिश्वंग हो जाता है ।

फिर कोई कितने ही उपसर्ग दे, कितने ही परीषह आजाएं, विषमभाव नही आते, क्रोधादि परिणाम नहीं होते । फिर चाहे एक ही रात में २०-२० परीषह आ जाएं, चाहे कोई कान मे कीले ठोके, चाहे कोई डंक मारे, चाहे कोई शरीर का मांस नोचे, सामायिक नही टूटती, विषमता लेशमात्र भी नही आती । अडोल, अकंप आत्म ध्यान में, समभाव में लीन रहते है । ऐसा कैसे सभव है ? हमें तो कोई जरासी गाली देने आ जाए, क्रोधावेश में आ जाते हैं, हानि पहुंचाने आ जाए हिंसादि पर उतर आते हैं, हमारे जीवन मे यह विषम भाव क्यों ? उन आत्माओं के ऐसी सामायिक क्यों हुई, हमारी ऐसी क्यों नही होती ? कारण ? कारण है अज्ञान दशा । उन महान् आत्माओं की दृष्टि शुद्ध आत्म द्रव्य पर थी । पर्याय से दृष्टि हट गई थी ।

प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह ।
हवे दृष्टि थई आतममां, गयो देह थी नेह ।।

देह तो उनके भी थी परन्तु आत्म दृष्टि हो जाने से देह से नेह नष्ट हो गया । धधकते अंगारों से सिर जल रहा है पर ध्यान कहां है ? सिर पर ? सड़न, गलन रूप पुद्गल परमाणुओं के पिड शरीर पर ? नही । इसलिए समता आ गई । परम वीतरागता आ गई । स्वभाव दशा प्रकट हो गई । केवलज्ञान, केवलदर्शन हो गया । धन्य है ऐसी सम-स्वभाव दशा में प्रवर्तने वाली आत्माएं । धिक्कार है हमे । जरासा विपरीत, चेतन या अचेतन, निमित्त पाकर भारी विषमदशा मे आने वालों को । वह दिन धन्य होगा जब हम भी उन महान् आत्माओं की ज्ञान दशा, चारित्रदशा के निमित्त से उनका अवलोकन और चिंतवन कर अपने सहज स्वरूप को जानकर, मानकर स्वरूप सहज समभाव में स्थित हो जाएंगे ।

—जारोली भवन, नीमच (म. प्र.)

☐

☐ मनुष्य प्रातःकाल उठकर पानी से स्नान करता है । उससे जीवन में कुछ स्फूर्ति आती है । मगर उसी समय सद् विचारों से मानसिक स्नान कर लिया जाय तो चिर स्थायी जीवन विकास की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है ।

☐ अतीत अवस्था का स्मरण, वर्तमान का अनुभव, भविष्य का चित्रण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन में हमेशा सफलता का अनुभव करता है ।

☐ समता-दर्शन केवल मस्तिष्क रूप से न होकर आन्तरिक अनुभूतियों में प्रस्फुटित होना चाहिए । —आचार्य नानेश

शांति तो है हमारे अन्दर

❀ श्री सुन्दरलाल बी. मल्हारा

प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। वह आनन्द से रहना चाहता है, वह निश्चिन्तता और सुरक्षितता चाहता है, पंछियो की तरह स्वतंत्रता से उड़ान भरना चाहता है, गाना चाहता है, सरिता-सा उमड़ता-घुमड़ता बहना चाहता है ताकि वह क्षण-क्षण स्वतंत्रता को अनुभव कर सके, गरिमा से, शान से जी सके।

वस्तुतः उसकी शान्ति की खोज की यात्रा उतनी ही पुरानी है, जितना कि वह स्वयं। वह शान्ति से रह सके, इसके लिये उसने आवास बनाये, वह शांति से जी सके, इसके लिये उसने धान्य उगाये, वस्त्र बनाये। इसी शांति के लिये हजारो वैज्ञानिक आगे आये। उन्होने मानवी जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिये हजारों-हजारों आविष्कार किये।

परन्तु शांति की यह खोज क्या पूरी हुई ? बड़े-बड़े विचारकों ने बडे-२ ग्रन्थ लिखे, काव्य-महाकाव्य लिखे, सौन्दर्य शास्त्र लिखे। ग्रन्थो के ढेर लग गये, पर शान्ति की खोज पूरी नही हुई। फिर व्यक्ति ने वैचारिक मंथन करना शुरु किया, दर्शन का जन्म हुआ। दर्शन शास्त्र बने। सम्प्रदायों ने जन्म लिया, पर फिर भी मानव को शांति नहीं मिली।

फिर इन्सान ने मन्दिर बनाये, गिरजाघर बनाये, प्रार्थना मन्दिर बनाये, गुरुद्वारे बनाये, मठ और देवालय बनाये। पूजा-पाठ प्रारम्भ हुए, प्रार्थना-अर्चना शुरु हुई, व्रत-उपवास होने लगे, भक्ति की धाराएं बहने लगीं, कथाए-प्रवचन होने लगे। फिर भी शानि की खोज चलती ही रही। शांति के लिये मानव भटकता ही रहा।

आज मानव के पास धन है दौलत है, आलीशान घर है, भरपूर खाने और पहनने को है, उसके पास दूर-संचार के एक से बढ़कर एक साधन है, मनोरंजन के बेतहाशा उपकरण हैं। सुरक्षा के लिये अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों के ढेर लगे है। उसकी पहुंच आज चांद-सितारों तक है। वह आज समूचे भौतिक विश्व का सम्राट बना बैठा है।

पर फिर भी क्या उसकी शांति की खोज पूरी हो पायी ? क्या वह सही अर्थों मे स्वतन्त्र और सुरक्षित हो सका ? क्या उसका मन निर्द्वन्द्व और क्या वह सचमुच आनन्दित और गरिमाशाली हो सका ? क्या वह पक्षी की भांति स्वतन्त्रता से उड़ान भर सका? पुष्प की भाँति प्रातःकालीन मलयज का जी भरकर आस्वाद ले अपनी समग्रता से मुस्करा सका ? क्या वह सरिता-सा बह सका ?

ऐसा लगता है हजारों-हजारों वर्षो की शांति की खोज अभी तक भी यशस्वी नही हो पायी है। शांति के लिये आज भी वह भटक रहा है। वह दुःखी है, परेशान है, अशांत और भयभीत है। सुरक्षा के हजारों साधनों के बावजूद भी वह आज भयंकर रूप से असुरक्षित है। इतनी समृद्धि और इतने-इतने वैज्ञानिक अविष्कारों के बावजूद भी वह आज निराश और असहाय बना हुआ है। क्या यह सच नहीं है ? क्या हम अपने ही जीवन में इसका अनुभव नही कर रहै है ?

ऐसा क्यो ? मनुष्य की यह इतनी लम्बी यात्रा सफल क्यो न हो पायी? क्यों आज इतनी अभूतपूर्व समृद्धि के होते हुए भी मानव इतना दुःखी और परेशान है ? लगता है कि कोई गहरी भूल हो गयी है। वह भूल कौनसी है ? वह भूल है स्वयं को उपेक्षित रखने की, अपने अंतर को भूल जाने की। दूसरे शब्दों में अपने आपके बारे में, अपनी ही आत्मा के बारे में अज्ञात रहने की।

वस्तुतः बाहरी ससृद्धि से भी अन्दर की समृद्धि ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। यदि वृक्ष की जड़ें स्वस्थ है तो वह बाहर लहलहाएगा ही। ठीक इसी तरह यदि व्यक्ति का अंतर स्वस्थ है, स्वच्छ है तो वह बाहर की समृद्धि का, उसके सौन्दर्य का गहरायी से अनुभव कर सकेगा। उसे सही अर्थ दे सकेगा। तब शक्ति सृजन में लगेगी, विनाश में नहीं। तब विज्ञान मानवता के लिये सही अर्थो में वरदान सिद्ध होगा, अभिशाप नहीं।

लेकिन हम तो बाहरी यात्रा को ही सब कुछ समझ बैठे। यह ऐसा ही हुआ जैसा एक मालिक अपने जलते हुए मकान से धन-सम्पत्ति तो बचा लेता है पर अपने इकलौते पुत्र को बाहर निकालना भूल जाता है। वस्तुतः बाहरी समृद्धि की ही तरह आंतरिक समृद्धि भी उतनी ही बल्कि उससे भी ज्यादा जरूरी है। यदि हमारी चेतना जागृत है, वह मुक्त और स्वस्थ है तो हम बाहरी समृद्धि का सही रूप मे मूल्यांकन कर सकेंगे। हमारी विकसित चेतना हमें सत्य, शिव और सौन्दर्य का साक्षात्कार करा सकेगी। इसी सुसम्पन्न आत्मा में ही प्रेम, आनन्द और शांति के फूल खिलते है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह आंतरिक समृद्धि कैसे उपलब्ध हो ? भौतिक समृद्धि के लिये बाहर की तो आंतरिक समृद्धि के लिये अन्दर की यात्रा करनी होती है। यह अंतर की यात्रा क्या है ? इस यात्रा का अर्थ है—अपने आपको जानना, समझना, अपने अंतर की परतो को एक-एक कर उघाड़ते चले जाना, उन्हें समझते चले जाना। जिन-जिन मानवों ने इस शांति को प्राप्त की है, उन्हें यह सब करना ही पड़ा है। यदि नीव ही कमजोर है तो उस पर मजबूत इमारत भला कैसे बनेगी ? इस अन्तर की यात्रा को चाहे आप ध्यान कह दीजिए, चाहे आत्म-रमण या सामायिक।

यह यात्रा क्यो जरूरी है ? यह इसलिये कि हमारे अंतर में बहुत कुछ कूडा-कचरा, वासना, हिंसा, द्वेष, क्रूरता, पक्षपात, आग्रह, दुराग्रह, मान्यता, धारणा, अहंकार, मान, अपमान आदि का कचरा सैकड़ो हजारों वर्षो से भरा पड़ा है । उसने हमारी चेतना को उसी तरह ढक रखा है, जैसे हीरे को गुदडी ने या सूरज को बादलो ने । यह ढकी बुझी-बुझी सी चेतना भला हमें किस प्रकार बाहरी जगत को उसके वास्तविक रूप में देखने मे मदद कर सकेगी ।

अत. शांति के लिये आवश्यक है अपने अंतर को सारे कूडे-कचरे से मुक्त करना । और यह तभी सम्भव है जब हम उसकी खोज-खबर ले, उसे समझें, उसमें प्रवेश करें और अंतत: उससे मुक्त हो जांय । दूसरे शब्दों में हमारा अंतर स्वच्छ हो जाए । इस अंतर के स्वच्छ होने के साथ ही चेतना मुक्त हो जाती है । यही मुक्त चेतना हमे शांति और आनन्द के स्रोत तक ले जा सकती है ।

यह ध्यान की प्रक्रिया ऐसी ही है, जैसे कि एक नन्ही सी कली का विकसित होते–होते पूर्ण फूल बन जाना और फिर उसका बिखर जाना, समाप्त हो जाना । यदि हम अपने विचारो को, संस्कारो, आग्रहों, अहंकारो को प्रतिदिन थोड़ा समय निकालकर समभाव से देखें, उन्हे समझें, उनमे प्रवेश करे तो हमें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होगा कि वे स्वयं ही अपनी मौत मर रहे है, जैसे कि फूल अंततः झर जाता है । इस कूड़े-कचरे के विसर्जन के साथ ही हमारा अन्तर आलोकित हो उठता है ।

इस प्रकार जब ध्यान की कुदाली से हम हमारे अन्तर की परतें खोदते ही चले जाएगे तो एक दिन अचानक हम देखेंगे कि हमारे सामने आंतरिक समृद्धि के द्वार खुले है और शांति–चिरन्तन शाति हमारी राह देख रही है ।

—६४, जिला पेठ, जी.पी.ओ. के सामने, जलगाव-४२५००१

- प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है । अगर इसका विष तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जायेगा ।

- ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है । इसी से जीवन की सारी रौनक है । आधुनिकता के भुलावे मे आकर इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की महत्ता को तिलांजलि देना है ।

- आवेश दिल की कमजोरी का सूचक है । आवेश में आकर किया जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण होता है । अतः सत्यान्वेषक को आवेश से दूर रहना चाहिए ।

—आचार्य नानेश

संयम की अवधारणा

❀ डॉ॰ महेन्द्रसागर प्रचंडिया

आचार्य कार्तिकेय ने 'बारस अनुपेक्खा' नामक कृति में धर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुए लिखा कि 'वत्थु सहावो धम्मो ।' वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । धर्म के दश लक्षण कहे गए हैं- क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य । धर्म का चर्यापरक एक लक्षण विशेष संयम है । 'धवल' नामक ग्रंथराज में संयम की परिभाषा करते हुए स्पष्ट किया है—'संयमन' संयमः अर्थात् संयमन को संयम कहते है । संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से मुक्त कर आत्मोन्मुखी करना या होना वस्तुतः संयम है ।

धर्म की चर्चा जिस क्षेत्र में सम्पन्न होती है वहा साधको के बीच मे तीन शब्दों के प्रयोग प्रचलित हैं यम, नियम और संयम । यहां इन शब्दों को बड़ी सावधानी के साथ समझना आवश्यक है ।

यम और नियम शब्द क्रिया परक है और कर्म का सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय-व्यापार पर आधृत है । इन्द्रिया पाच कही गई है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और श्रवण । कर्म करने की एक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में मन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है । इन्द्रिय और आत्मा को मिलाने वाला एक माध्यम है—मन । मन का व्यापार दो प्रकार से होता है—जब वह इन्द्रियो के साथ सक्रिय होता है तो उसे द्रव्य मन-इन्द्रिय कहते हैं और जब वह आत्मा की मूल शक्ति के रूप मे है तब भाव–मन की संज्ञा प्राप्त करता है ।

ससार का संसरण मन-इन्द्रियों के सक्रिय व्यापार पर निर्भर करता है । इन्द्रियो को जब यम और नियम-तंत्र मे प्रशासित किया जाता है तब इन्द्रिय-मन विशेष रूप से सक्रिय रहता है । यह विधि-विधान के अधीन इन्द्रिय-व्यापार को संचालन करने की योजना को असफल करने की प्रेरणा प्रदान करता है । इन्द्रिय व्यापारों के निग्रह को यम कहते है और विधि-विधान के अनुकूल नियंत्रण को नियम कहते है । यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि वह संकल्प जिसका सदा निर्वाह किया जाता है, वस्तुतः नियम कहलाता है । यम और नियम का सम्बन्ध जब मन-इन्द्रिय के साथ सक्रिय होता है तब संसार का व्यापार वर्द्धमान होता है । और यम-नियम पूर्वक जब संयम का सम्बन्ध भाव-मन के साथ होता है, तब आध्यात्मिक अभ्युदय होता है ।

मन की मांग वस्तुतः असंयम है । और जब मन की मांग मिट जाती है तब संयम के द्वार खुल जाते है । इच्छा का जब निरोध होता है तब तप के

संस्कार वनते हैं, परिपक्व होते हैं । तप वस्तुतः संयम को जगाने का
करता है ।

किसी भी साधक को सयमी वनने के लिए जो मार्ग चुनना होता
उमे वस्तुतः दो भागों में विभक्त किया जाता है, यथा—

(१) प्राणी-संयम
(२) इन्द्रिय-संयम

छह काय के जीवो के घात तथा घातक भावों के त्याग को वस्तु
प्राणी सयम कहा जाता है, जवकि पचेन्द्रियो के व्यापारों और मन के सहयोग
त्याग को इन्द्रिय-सयम की संज्ञा प्रदान की गई है ।

विचार कीजिए सयम-प्राणी और इन्द्रिय—शव्द शास्त्रीय परिवेश
चर्चित किया गया है । हमारी दैनिक चर्या (Routine) मे इसका प्रयोग
उपयोग किस मात्रा मे किया जा रहा है, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है ? आज
आम आदमी सुरक्षा चाहता है । वह आज के वौद्धिक प्रदूषण में घुटन
असुरक्षा अनुभव करता है । मुझे लगता है पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदमी
तुलना मे अधिक असुरक्षित अनुभव नही करता है । संसार के अनेक मुखी साध
सविधानो का सहयोग पाकर वह सुरक्षित होना चाहता है । मेरे विचार मे सं
से वडी और शाश्वत दूसरी और कोई सुरक्षा है नही । असंयम से आज
आदमी गम्भीर रूप से रूग्ण है । कीटाणुओं से रोग इतना अधिक सक्रामक
होता, जितना भयंकर रूप वह असंयम से धारण कर लेता है । आज आ
असंयम से अधिक चुटैल हो रहा है, उतना शास्त्रों से नही । पुलिस की अ
आज का आदमी असयम के द्वारा अधिक वंदी वन रहा है । असंयम के
जितनी अधिक असमय मे ही मौतें हो रही है, उतनी यथार्थ और स्वाभा
मृत्यु से आदमी नहीं मर रहा है ।

इन्द्रियो के व्यवहार से भी आज का आदमी परिचित नही है । इस
प्रयोग-प्रसग में वह असमर्थता अनुभव करता है । नेत्र इन्द्रिय है उसका उप
है–रूप दर्शन । अव रूप का ही जव हमें अववोध नहीं है, तव रूप-दर्शन
निर्णय करना वस्तुतः दुरुह हो जाता है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के प्रयं
उपयोग का प्रश्न है । फिर प्राणी–सयम का प्रश्न तो और अधिक सूक्ष्म
जटिल हैं । हमे पहले इन्द्रियो के प्रयोग-उपयोग पक्ष को ठीक-ठीक जानना
पहिचानना होगा ।

सामान्यतः आज का आदमी स्व और पर का भेद नहीं समझता ।
भासता है कि 'पर' की प्राप्ति में सुख है । उसे न तो 'स्व' का वोध है
इससे भी आगे का चरण है 'स्व' के अस्तित्व को नकारना । 'पर' को
विना उसका त्याग करना अथवा उसके प्रयोग-उपयोग मे सयम रखना, कर्म

सार्थकता नहीं है ऐसी स्थिति में जिस यम अथवा नियम का पालन किया जाता है उससे शारीरिक शासन तो हो सकता है किन्तु आन्तरिक अनुशासन जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'पर' और 'स्व' का बोध हो तो संयम–त्याग का प्रयोग सार्थक, सम्भव हो सकता है। मुझे लगता है कि बोध होने पर बुराई–दुहराई नहीं जाती।

एक जीवंत घटना–संदर्भ का स्मरण हुआ है। एक जनपद के सीमान्त पर एक माद है जिसमें एक सिंहनी अपने नवजात शिशुओं का पोषण करती है। एकायक एक बृहद् जुलूस का निकलना होता है। बाजे बजते हैं—जयनाद होते हैं। कोलाहल को सुनकर सिंह–शावक माद से बाहर निकलते है और जुलूस के वैभव को, उत्साह को देखकर भयभीत हो जाते हैं। वे त्वरित अन्दर अपनी मां के पास आ जाते हैं और जुलूस का वृत्त-बोध कराते हैं। यह सुनकर मां यथार्थ जानने के लिए माद से बाहर आती हैं। वह जुलूस को ध्यान पूर्वक देखती है और निश्चित होकर अपनी माद में लौट जाती है। शावकों के अन्यत्र भाग चलने के प्रस्ताव को निरस्त करती हुई वह उन्हें यह कहकर आश्वस्त करती है कि यह जुलूस आदमियों का है। वे भाषा-विवाद, वे प्रान्तवाद, वे जातिवाद तथा वे सत्तावाद के लिए परस्पर लड़ेंगे, जुझेंगे। परस्पर में घात-प्रतिघात करेंगे उन्हें हमारे ऊपर आक्रमण करने का अवसर ही कहां मिलेगा? यह सुनकर सिंह-शावक तमाशा देखने लगे।

आज आदमी आदमी की हिंसा करने में अधिक संलग्न है। पहले पहले वह अपनी जीवन रक्षा और विभुक्षा के लिए पशु-पक्षियों का वध करता था किन्तु आज इस हिंस्र-प्रवृत्ति का इतना विकास हुआ है कि वह परस्पर में ही वध करने पर उतारू है।

उसके खाने में संयम नहीं, उसकी वाणी में संयम नही, उसकी दृष्टि में संयम नही, उसके सुनने में संयम नहीं। पहले अनर्थ और अश्लील संदर्भो के आने पर आदमी का चित्त विरक्त हो जाता था किन्तु आज के आदमी को ऐसा करने मे कोई परहेज, संकोच नहीं रह गया है।

आज का आदमी दो प्रकार की जीवन दौड़ दौड़ रहा है। आरम्भ में वह धन की दौड़ में दौड़ता है और जब उसे अनुभव हो पाता है कि यह दौड़ निरी, निरर्थक रही है तो वह धर्म की दौड़ प्रारम्भ कर देता है। इस दौड़ में उसे कोई लाभ नही हो पाता। ऊपरी क्रिया-कलाप सम्पन्न हो पाते है–यथार्थ की अनुभूति करने मे वह पूर्णतः वियुक्त रहता है। यम, नियम का ऐन्द्रिय-व्यापार सम्पादन करने में वह लीन रहता है, संयम का स्वभाव जगाने में वह प्रायः असमर्थ रहता है। विचार करें, जब नियम प्रधान बनता है और संयम गौण होता है तब धर्म का दिवाकर निस्तेज हो जाता है और जब संयम का रूप प्रधान

होता है और गौण होता है नियम का रूप, तब वस्तुतः धर्म का सूर्य तेजस्वी हो उठता है ।

आत्मिक गुणों को जगाने के लिए हमें धार्मिक बनना चाहिए । ऐसी स्थिति में, नियम छूट जाते है और संयम मुखर हो उठेगा । जहां क्रिया में नियंत्रण अथवा विरोध नहीं होता वहां चर्या मूलतः निरोध मुखी होती है। निरोध के वातायन से संयम के स्वर खुलते है । तब यह कहना सार्थक होता है कि 'संयम खलु जीवनं' अर्थात् संयम ही जीवन है ।

३६४ सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ (उ. प्र.)

□

नैसर्गिक चिकित्सक

❀ श्री विवेक भारती

श्री विहीन निस्तेज चेहरा लिए
क्यों जीने को विवश हो मित्र
तन ही नही तुम्हारा तो,
मन भी बीमार लग रहा है ।
आधुनिक चिकित्सा-व्यवस्था से
निराश भी हो चले हो शायद
तो आओ, मै तुम्हें
दो सर्वोत्तम चिकित्सकों से
मिलवा देता हूं ।
जो आपके अपने है,
है अहर्निश सेवा देने में सक्षम भी ।
ये हैं परिश्रम और संयम ।
परिश्रम की चिकित्सा प्रक्रिया से
जठराग्नि हो उठेगी तेज,
भूख खुलकर लगेगी,
अच्छा खाओगे, पचाओगे
रक्त-मज्जा ठीक बनेगी अपने आप ।
और संयम
रोकता रहेगा भोग की अति से,
करवाओ अपनी चिकित्सा आप,
इन निजी चिकित्सकों से ही
स्वस्थ-जीवन मित्र,
पा जाओगे अनायास ही ।

—बी. ११६, विजयपथ, तिलक नगर, जयपुर-३०२००४

जीवन का संग्रह : संयम का सेतु

❀ डॉ. विश्वास पाटील

हमारे यहां एक बहुत पुरानी कहानी प्रचलित है। एक बार ब्रह्माजी की शरण में देवता गए और आशीर्वादपूर्वक उपदेश की याचना की। मनुष्य तथा असुरों ने भी देवताओं का ही अनुगमन किया। ब्रह्माजी ने तीनों को एक ही अक्षर का उपदेश दिया—वह अक्षर था 'द'। इस अक्षर को हरेक ने अपने-अपने स्तर पर, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समझा। देवताओं ने **'द'** का अर्थ **दमन'** माना, मनुष्यों ने **'दान'** तथा असुरों ने **'दया'** अर्थ को स्वीकारा। दूसरे शब्दों में यह क्रमशः 'संयम', 'अ-परिग्रह' तथा 'अहिंसा' तत्त्व कहे जा सकते हैं। इन तीनों शब्दों के मूल में 'संयम' की वृत्ति है।

संयम धर्मप्रासाद के नींव की पहली ईंट है। धर्मप्रासाद कोई विशिष्ट धर्म का नहीं, मानव धर्म का। संयम शब्द की व्याकरणिक चर्चा चिकित्सा करते हुए परमश्रद्धेय प्रवर्तक मुनि श्री महेन्द्रकुमार 'कमलजी' ने कहा है—"वह (वैयाकरणी) संयम शब्द को पूर्णतः भारती (सरस्वती) मानकर आगे बढ़ा। 'यम्' को उसने कहा कि धातु है। 'यम्' धातु का अर्थ है विषयेच्छा! 'यम्' धातु का उसने अर्थ किया दमन-संयम-निरोध। उसका तर्क है 'भ' वर्ण के बाद 'म' वर्ण आता है। यम में जो फंस गया उसका त्राण असंभव हो जाता है। जो साधक 'भ' वर्ण को उलांघकर यम (संयम) तक पहुंच गया उसे 'यम' अर्थात् मृत्यु का भय नहीं रह जाता। यम अर्थात् भोगेच्छा की आग है। आग आग को नहीं जला सकती। यम अर्थात् मृत्यु, यम अर्थात् संयम को नहीं मार सकता।"

भारत याने संयम की मिट्टी के कणों से बना हुआ देहपिण्ड। भारतीय मनीषा ने संयम का बहुत सविस्तार चिन्तन किया है। हमारे धर्मग्रन्थ और विद्वान् लोग इस प्रश्न के सम्बन्ध में बहुत गहराई में उतरे है।

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे, चौथे और छठे अध्याय में निषेध रूप से और सर्वत्र ही संयम की गाथा पढ़ने को मिलती है। गीता का कहना है कि साधक को इन्द्रियां वश में करनी चाहिए क्योंकि उसी की बुद्धि स्थिर होती है (२/६१)।

समस्त इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता दिखलाने के लिए 'सर्वाणि' विशेषण प्रयुक्त है क्योंकि वश में न की हुई एक इन्द्रिय भी मनुष्य के मन-बुद्धि को विचलित करके साधना में विघ्न उपस्थित कर देती है। (२/६७) अतः परमात्मा की प्राप्ति चाहने वाले पुरुष को सम्पूर्ण इन्द्रियों को ही भलीभांति वश में करना चाहिए।

इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ मन को वश में करने की तपस्या पर भी गीताकार ने जोर दिया है। मन और इन्द्रियों को संयमित कर बुद्धि को परमात्मरूप मे स्थिर करने की वात गीता मे मिलती है क्योंकि मनसहित इन्द्रियो पर संयम होने पर ही साधक की वुद्धि स्थिर रह सकती है, अन्यथा नही ! मन और इन्द्रियों के संयम के प्रति लापरवाह साधक की हानि का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के वासठवें श्लोक से अड़सठवे श्लोक तक यों किया गया है।

विपयों का चिन्तन करने वाले पुरुप की उन विषयो मे आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विपयो की कामना उत्पन्न होती है, और कामना मे विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है। मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति मे भ्रम हो जाने से वुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और वुद्धि का नाश हो जाने से पुरुप अपनी स्थिति से गिर जाता है परन्तु अपने अधीन किए हुए अन्त:करण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेप से रहित इन्द्रियो द्वारा विपयो मे विचरण करता हुआ अन्त:करण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।........जिस पुरुप की इन्द्रियां इन्द्रियो के विपयों से सव प्रकार निग्रह की गई है, उसी की वुद्धि स्थिर है।

गीता मे आगे कहा गया है कि जिसका अन्त.करण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रिया भलीभांति जीती हुई है और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी मुक्त अर्थात् भगवत् प्राप्त है। (६/८) इसी अध्याय में गीताकार कहते है कि जिसका मन वश में नही है, ऐसे पुरुप द्वारा योग दुष्प्राप्य है (६/३६)

भगवान वुद्ध ने अपने उपदेशों मे सयम की दीक्षा दी है। आरण्यक अर्थात् जंगलवासी भिक्षु के लिए नियम वताते हुए उन्होंने कहा है—"आरण्यक भिक्षु को भोजन के पूर्व या पश्चात् गृहस्थ कुलो में फेरे नही देते रहना चाहिए। उसे अचपल, अवकवादी, कल्याणमित्र, भोजन में परिमाणी, जागरण मे तत्पर, आरब्ध वीर्य अर्थात् उद्योगी, होश रखने वाला, एकाग्रचित्त, प्रज्ञावान तथा इन्द्रियों में गुप्तद्वार अर्थात् संयमी होना चाहिए।" (मज्झिम निकाय—गुलिस्तानि-सूत्र-२/२/९) आगे चलकर कीटागिरि—सुत्त मे कहते है, "भिक्षुओं, जो न प्राप्तचित्त हैं, अनुपम योगक्षेम अर्थात् निर्वाण के इच्छुक हो विचरते है। भिक्षुओ, वैसे ही भिक्षुओ को मैं 'प्रमादरहित हो करो' कहता हूं। सो किस हेतु ? शायद वह आयुष्मान् अनुकूल शयन-आसन को सेवन करते, कल्याण मित्रो अर्थात् सु-मित्रों के सेवन करते, इन्द्रियो का संयम करते....विहार करते रहो।" (मज्जिम निकाय-कीटागिरि-सुत्त २/२/१०)

अंगुलिमाल की सुप्रसिद्ध कथा मे संयम की चर्चा आती है। चलते रहने वाले भगवान वुद्ध को 'मैं स्थित हूं।' यह वचन कहते जव अगुलिमाल पाता

है तब उसकी प्रश्नोचित जिज्ञासा का भगवान उत्तर देते हैं "अंगुलिमाल ! सारे प्राणियों के प्रति दंड छोड़ने से मैं सर्वदा स्थित हूं । तू प्राणियों में असंयमी है, इसलिए में स्थित हूं और तू अ-स्थित है ।" (मज्झिय निकाय—अंगुलिमाल सुत्त २/४/६)

शास्त्रकारों के इन वचनों का मन:पूर्वक अध्ययन करने पर यह बात ध्यान में आती है कि मनुष्य के भीतर शक्ति का अनंत, अक्षय स्रोत है । इस शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है । मन की मांगो को मनुष्य जैसे-जैसे अस्वीकार करते जाएंगे, वैसे-वैसे संकल्प शक्ति का विकास होना है, यही संयम है । संयमी को सभी संभव है ।

शुभाशुभ निमित्त कर्म के उदय मे परिवर्तन कर देते है किन्तु मन का संकल्प उनसे बड़ा निमित्त है । संयम की शक्ति के विकसित होने पर विजातीय द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता । संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नही होता । **'दशवैकालिक'** में कहा गया है—'काले कालं समायरे'—सब काम ठीक समय पर करो । **सूत्रकृतांग** में लिखा गया है—खाने के समय खाओ, सोने के समय सोओ । सब काम निश्चित समय पर करो ।

संयम जीवन का आंतरिक विकास सूत्र है । संयम जीवन का पर्यायी रूप है—'सयम, खलु जीवनम् !' संयम अर्थात् स्वीकृत साधना का पालन । साधक संकल्प को स्वेच्छा से स्वीकारता है । वह हर क्षण जाग्रत होता है । साधक इस अवस्था मे सम्पूर्ण अप्रमत्त रहने के अभ्यास को विकसित करता है, फिर भी प्रमादवश कभी स्खलन न हो जाए, इसलिए साधक को आचार्य उपदेश देते है कि वह निरतिचार साधना का अभ्यास करे । इस साधना के लिए अनुशासन और विनय की महती आवश्यकता है ।

भगवान महावीर ने अतीत मे सयम का सूत्र दिया था—वह सूत्र भविष्योन्मुखी है । इसी को जीवनाधार मानकर महावीर चलते रहे और अन्यों को भी इस सूत्र का उपदेश दिया । संयम की आवश्यकता को अधोरोपित करते हुए महावीर ने कहा था—खाद्य का संयम करो, वाहन का संयम करो, यातायात का संयम करो, उपभोग-परिभोग का संयम करो ।"

संयम के कारण विकसनशील राष्ट्र विकासशील वन सकता है । विकासशील राष्ट्रों की समस्या है अभाव, गरीबी, अनैतिकता और विषमता ! संयम के विना निर्यात वढ़ाना, आर्थिक उत्पादन और ऊर्जा के नित नए स्रोतों का विकास जैसे तमाम उपाय निरर्थक हो जाते हैं ।

विकसित राष्ट्रो की समस्या है अपराध, अशाति, आतंक और हिंसा ! जहां अभाव और गरीबी या शून्यता और रिक्तता नही है धन और साधनों की—वहां के जनजीवन के केन्द्र मे है भोग । भोग दूर का लड्डू है, उसे नही खाने वाला

ललचाता है और खाने वाला पछताता है । भोग आरम्भ में कुछ हद तक तृप्ति देता है किन्तु एक वस्तु के आत्यंतिक भोग के पश्चात् उसका आकर्षण कम हो जाता है, तृप्ति की मात्रा घट जाती है । अतृप्त मनुष्य फिर तृप्ति के नए साधन खोजने मे लग जाता है ।

आज सम्पन्न राष्ट्रों में कुछ ऐसा ही घटित हो रहा है । भोग का उपभोग और उपभोग करते रहने पर जो अतृप्ति उभरती है उसकी चिकित्सा न होने पर आदमी पागल और अशांत हो जाता है, अपराधी वन बैठता है। हमारे पूर्वज साधको ने वहुत तपस्यापूर्वक सयम का सूत्र दिया था । तृप्ति की आकांक्षा और अतृप्ति से समाधान का सही उपाय बताया था ।

आज हमें जिस शक्ति की आवश्यकता है वह संयम पर ही आधृत हो सकती है । शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है । शांति का आधार व्यवस्था है । व्यवस्था सह-अस्तित्व से उभरती है । समन्वय के कारण सह-अस्तित्व की भावना जागती है । समन्वय का आधार है, सत्य। सत्य अभय से उपजता है । अभय का आधार है अहिंसा, अहिंसा का मूल है अपरिग्रह और अपरिग्रह की नीव में संयम है । यह संयम, शांति, सद्भावना और सह-अस्तित्व का मूलाधार है ।

आज आग्रहपूर्ण नीति का त्याग कर तटस्थ नीति को स्वीकारना चाहिए। अनाक्रमण और उसके समर्थन की घोषणा करते हुए आत्मविश्वास और पारस्परिक सौहार्दभाव का विकास करना चाहिए । इसी से मानवीय एकता की दिशा में मानवता के कदम वढ़ेंगे और मनुष्य के जीवन प्रवाह को संयम के सेतु से जोड़ने पर ही हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों-साधकों का यह स्वप्न हम यथार्थ की धरती पर देख सकेंगे ।

—३४–व, कृष्णाम्वरी, सरस्वती कॉलोनी, शहादा (धुलिया) ४२५४०९

उत्क्रांति : संयम के द्वार से

❀ श्री राजीव प्रचंडिया

आज 'होडबाजी' का जमाना है । यह होड़-प्रक्रिया जीवन में क्रांति ो ला सकती है, उत्क्राति नही । क्रांति और उत्क्रान्ति में बहुत बड़ा अन्तर है । क्रान्ति का अर्थ है 'परिवर्तन' । जो है उसमे बदलाव । परिवर्तन जीवन में रस घोलता है । जैसे किसी जलाशय का पानी भरा रहे तो उसमें दुर्गन्ध आने लगती है । उसका पानी मर-सा जाता है । वह न स्वयं अपने लिए ही उपयोगी और ा दूसरो के लिए ही उपादेय वन पाता है । इसलिए उसका बदलना आवश्यक रहता है । विचार करें, यदि भरा जाने वाला पानी गन्दा, कीचड़ से सना हो तो क्या वह लाभकारी होगा ? नया पानी चाहिए, वह भी स्वच्छ । नवीनीकरण यदि होता है तो वह ऊर्ध्व को ले जाने वाला, संज्जीवनी से संम्पृक्त होना चाहिए यह सत्य है कि आज हर समाज–राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है कि जीवन में परिवर्तन लाया जाए लेकिन यह परिवर्तन कैसा होना चाहिए और उसका माध्यम क्या है ? कोई भी कदम उठाने से पूर्व इस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है । बिना विचारे कोई भी कार्य गति तो ला सकता है, किन्तु वह गति निस्सार होगी ।

'संयम' के माध्यम से यदि जीवन मे परिवर्तन लाया जाय तो जीवन उन्नत तो बनेगा ही, उसमें उथल-पुथल का अभाव होता जाएगा । भीतर जो हाहाकार की अथवा 'लाओ-लाओ', 'भरो–भरो' जैसी मधुर लगने वाली ध्वनि-लहरें हर क्षण उठती रहती है, वे सव समाप्त हो जाएंगी, फिर जो परिवर्तन–उत्क्रान्ति होगी, वह समाज को एक नया आयाम देगी । यह सही है, एक ही पथ पर चलते-२ जीवन ऊब से भर जाता है । ऊबाऊपन समाप्त हो, इसके लिए संयम की अनेक पगडडिया है, उनमे से किसी को भी पकड़ लिया जाए तो मरे हुए से जीवन में 'जीवन' आ सकता है । ये सारी की सारी पगडडिया आनन्द–दायी है । एक पगडंडी, जो 'सकलप' के अन्तिम छोर तक जाती है, एक 'नियम-निवास' का मार्ग दिखाती है, एक 'विरत-महल' तक व्यक्ति को पहुंचाती है । ऐसी ही न जानें कितनी पगडंडियां है, वस, आवश्यकता है, उस पर निश्चल भाव से चलने की ।

'सयम–प्रकरण' में दो बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण है—एक 'इच्छा' और दूसरी 'कांक्षा' । इच्छा में वस्तु/पदार्थ के प्रति लालसा बनी रहती है जवकि 'कांक्षा' में भावो का उद्रेक समाया रहता है । सयम इच्छाओ का 'स्वनियन्त्रक' है । इच्छाओं का फैलाव आकाश के समान अनन्त है, उसकी सीमा असीम है । वास्तव

में इच्छाएं 'अरक्षा' और संयम 'रक्षा' की ओर ले जाती है। प्रश्न है रक्षा किसकी ? विचार करे, 'रक्षा' उसकी जो प्रकाशक है, दिशा-दर्शक है, समस्त इन्द्रियां जिससे चलित होती है अर्थात् आत्मतत्त्व। जीवन का प्रवाह संयम है और रुकावट असयम। विकास है वहा, जहां संयम है। असंयम से तो पदार्थ वैभव वढ सकता है, आत्म-वैभव कदापि नही। स्थिति ऐसी ही हो जाती है जैसे 'पारस-पत्थर' को छोड़ उससे विनिर्मित स्वर्ण-पदार्थों की चाह रखना। संयम 'पारस-पत्थर' को पैदा करता है जिससे तमाम स्वर्ण प्राप्त होते है। यह विवेक तो हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम स्वर्ण को प्राप्त करें या स्वर्ण निर्माणक को। वास्तव में यह पत्थर कहीं और नहीं हमारे स्वय के भीतर है संयम के द्वारा उसे खोजना होता है। जैसे अंधकार में से प्रकाश ढूंढना होता है और इस ढूंढन-प्रक्रिया में जो अवयव, जो श्रम, जिस रूप में करना होता है वैसे ही इस अविनश्वर पारसमणि की साधना की जाती है।

आज हमारे जीवन मे 'तनाव' हावी होते जा रहे है। जिसे देखो वही तनावों से घिरा है। स्वाभाविकता कृत्रिमता मे, नम्रता अहकारिता में, वत्सलता कटुता मे तथा दया-प्रेम, द्वेष और घृणा मे अभिसिंचित हो रहे है। इन सबकी मुक्ति का एक ही उपाय है—संयम-साधना। संयम तो जीवन का वह द्वार है जिसमे संचयवृत्ति रूपी झाड़-झंखार नही होते और ना ही कषायजन्य विकार इसमे आलस्य, तन्द्रा-निद्रा, मोह-वासनादि कुप्रभाव अपना प्रभाव नही छोड़ पाते अपितु प्रभाव छोड़ने की टोह मे निरन्तर प्रयत्नशील रहते है। वास्तव मे संयम साधना मे सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण अर्थात् व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप से प्रवर्तना अथवा विशुद्धात्मध्यान मे प्रवर्तना की जाती है। संयम में साधक वाह्य जगत् से अन्तर्जगत अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करता है अर्थात् कषायों को काटता हुआ स्वभाव को जगाता है। विभावों से स्वभाव तक ले जाने का यह परिवर्तन जीवन में क्रांति नही, उत्क्रांति लाता है।

—एडवोकेट, ३६४, सर्वोदयनगर आगरारोड़, अलीगढ़ (उ.प्र.)

संयम ही जीवन है !

❀ श्री धनपतसिंह मेहता

मानव जीवन के आचार पक्ष पर चिन्तन करने से एक बात स्पष्टतः भरकर सामने आती है और वह यह कि जीवन के परिष्कृत एवं शुद्ध-सात्विक न का मूलाधार संयम है । धर्म एवं आचार ग्रन्थों में इस बात का विशद विवे-न है कि अगर हम अपने जीवन को भव्य एवं सुन्दर बनाना चाहते है, अगर म चाहते है कि मानव जीवन गौरवपूर्ण एवं गरिमामय हो, उदात्त एवं आकर्षक तो हमें जीवन के हर क्षण में संयम की शरण लेनी होगी, समग्र जीवन को नसा-वाचा-कर्मणा संयमित करना होगा । हर पल संयम की साधना करते हुए ीवन के समस्त कषाय-कल्मषों से मुक्ति पानी होगी । इन्द्रिय-सुख की मृगतृष्णा छुटकारा पाकर जीवन को आध्यात्मिक मोड़ देना होगा । यह जीवन की वित्रता की, नैतिकता की मांग है, आत्म-साधना का उद्घोष है ।

संयम शब्द बड़ा अर्थ भरा है । जीवन में यम-नियम का पालन करते ए उस पर कठोर अंकुश लगाना ही संयम है । मस्त हाथी को विचलित एवं थभ्रष्ट होने से रोकने के लिए जिस प्रकार महावत का अंकुश निरन्तर आव-श्यक है, उसी प्रकार इन्द्रिय-सुख के वेगवान प्रवाह में बहकर सर्वनाश से बचने े जीवन में एकमात्र उपाय संयम ही है । जीवन के उत्कर्ष एवं अभ्युदय का, सके संस्कार एवं श्रेय का और कोई मार्ग नहीं । केवल संयम का सहारा लेकर ी हम उदात्त आदर्शों एवं शाश्वत सनातन जीवन मूल्यों से सम्पन्न मनुष्य जीवन-ापन कर सकते है । वही जीवन भव्य, वही श्रेष्ठ एवं अभिनन्दनीय है और सलिए वही सार्थक एवं श्रेयस्कर है ।

मानव जीवन में इन्द्रिय-सुख का बड़ा आकर्षण है । उसके मायावी परि-श में अहर्निश आबद्ध मनुष्य मकड़ी की तरह जीवन भर सुख-सुविधाओं का ाल बुनता रहता है और अन्ततः उसी में फंसकर प्राण त्याग देता है । मानव ीवन की यह कैसी विडम्बना है कि वह आत्म-साधना से विमुख होकर इन्द्रिय-ाधना करते-करते जानबूझकर अपने सर्वनाश को आमंत्रण देता है ।

कुरुक्षेत्र के मैदान में मोहाभिभूत अर्जुन जब कर्मयोगी कृष्ण से प्रश्न रता है कि--"प्रभु, स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य की पहचान क्या है ?" तो उत्तर कृष्ण उसका विशद विवेचन करते हुए जो कुछ कहते है उसके कुछ शब्द बड़े ार्मिक हैं । वे कहते है—"हे पार्थ, यत्नयुक्त सुधी की भी इन्द्रियां यों प्रमत्त हों, न को हर लेती है अपने बल से हठात्, उन्हें संयम से रोकें, मुझी में रत, मुक्त , इन्द्रियां जिसने जीती, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा" निस्सन्देह जिसने इन्द्रियों पर

विजय प्राप्त कर ली हैं, उन पर नियंत्रण कर लिया है वही स्थिर बुद्धि हो
होकर अपने हिताहित का निर्णय कर सकता है। इसके विपरीत इन्द्रियों के आधि-
पत्य को स्वीकार करने वाले, उनके समक्ष घुटने टेकने वाले व्यक्ति की बुद्धि चला-
मान होती है। उसमें विचार-विचलन होने से उसके कर्म भी लड़खडा जाते हैं।
स्थिर बुद्धि के अभाव में वह कोई उचित निर्णय लेने में सर्वथा असमर्थ रहता है।
इस स्थापना से जीवन में संयम का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

इस संदर्भ में एक भ्रान्ति से सजग रहने की नितान्त आवश्यकता है।
इन्द्रिय-निग्रह एव इन्द्रिय-दमन मे वड़ा अन्तर है। संयम की साधना के लिए
इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है जो व्रत, तपश्चर्या, सतत जागरुकता एवं वैचारिक दृढ़ता
से ही संभव है। संकल्पवान व्यक्ति ही कर सकता है जिसकी जीवन के नैतिक
मूल्यों में प्रवल आस्था है और जो आत्मा के निर्मल, दिव्यस्वरूप को पहचानने
का पक्षधर है। विश्वविख्यात मनोविज्ञानी फ्रायड, यंग एवं एडलर का कथन है
कि मनुष्य जीवन में उद्दाम वासनाओं का वड़ा आतंक है और मनुष्य उसका
क्रीतदास है। उनका दमन भयावह है। दमित इच्छाएं और वासनाए अवचेतन
मन (unconcious mind) में चली जाती हैं। वहाँ वे भले ही कुछ समय के
लिए शान्त हो जायें, पर समय आने पर वे तूफानी वेग से आक्रमण कर मनुष्य
को धराशायी कर देती हैं। इसीलिए धर्म-ग्रन्थों में इन्द्रिय-निग्रह पर वल दिया
गया है। आवश्यकता है इच्छाओं और वासनाओं को आध्यात्मिक मोड़ देने
उनके उन्नयन एवं उदात्तीकरण (sublimation) की जिससे उनकी ऊर्जा का
सत्कार्यों में उपयोग हो सके।

संयम के आलोक में हम आज के जीवन पर दृष्टिपात करें। चारों ओर
विकृति ही विकृति नजर आएगी। आहार, विहार, आचार-विचार एवं व्यवहार
सव मे सयम का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इतना ही क्यों पारिवारिक, सामा-
जिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में इसी के अभाव में इतनी कटुता, इतना
तनाव, इतना विग्रह परिलक्षित होता है? कोई किसी का नही। कही स्नेह नहीं
सद्भाव नहीं, अपनापन नही, सहिष्णुता नही, सेवा एवं समर्पण का भाव नहीं
सव एक दूसरे की जड खोदने मे लगे हुए हैं। भीड़ में मनुष्य अकेलेपन का
वेगानेपन का, परायेपन का अनुभव करता है। लगता है जैसे इन्सानी जीवन
आज चौराहे पर खड़ा, दिशा विहीन, पथभ्रष्ट, जाए तो जाए कहाँ? कोई सीधा
सरल राजमार्ग नही। चारों ओर खाई-खड्ड है, जहां कदम-कदम पर गिरने का
खतरा है। सारा मार्ग कंटकाकीर्ण है, जहां सर्वत्र चुभन ही चुभन है।

आइये, जीवन एवं जगत के दीर्घव्यापी आयाम पर चिन्तन करें। किसी
क्षेत्र को लें—पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक,
सांस्कृतिक, प्रभृति। सर्वत्र क्लेश है, पीड़ा है, दैन्य है, परिताप-उत्ताप है। जीवन
का संतुलन जैसे विगड़ चुका है। मानव-मूल्य तिरोहित हो रहे हैं। जीवन

घायल, हारा-थका भू-लुंठित होकर कराह रहा है, सिसक रहा है। जीवन का अभीष्ट सुख, शाति, आनन्द, शीतलता केवल स्वप्न बन कर रह गये हैं। आदमी का, दिन-रात का प्रबल एवं अथक पुरुषार्थ इस दृष्टि से निरर्थक सिद्ध हो रहा है। वह कोल्हू के बैल की तरह, मशीन के पुर्जे की तरह घूम रहा है, अविराम गति से। वह चाहता हैं उसे सुख मिले, शांति मिले, आनन्द मिले। पर मिलता है दुःख, अशांति, पीड़ा। लगता है जैसे जिन्दगी मे जहर घुल गया है। उसकी मिठास समाप्त हो गई है। अब तो सब कुछ कड़ुवा-कड़ुवा लगता है। इसका कारण क्या ? विपुल साधन-सुविधाओं के होते हुए भी आदमी के जीवन में छटपटाहट क्यों ? वह क्यों दुःखी और सन्तप्त है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसके जीवन मे संयम का सर्वथा अभाव है। इसीलिए जीवन-वीणा का 'सरगम' बिगड चुका है, वह बेसुरा हो गया है। भोग की आंधी में, उसकी उद्दाम लालसा में मनुष्य जैसे पागल हो गया है। इसी कारण जीवन के पावन आदर्शो से विमुख होकर उसने छल-कपट, शोषण और उत्पीडन का आश्रय लिया है। मनुष्य, मनुष्य के खून का प्यासा हो रहा है, मनुष्य मनुष्य के अस्तित्व को मिटा देना चाहता है, मनुष्य मनुष्य के बीच अलगाव की दुर्भेद्य दीवारें खडी हो गई है। उसमें पाशविक वृत्तियां जोर मार रही है। उसका जीवन स्वार्थ एवं छल-प्रपंच से प्रेरित है। उसे केवल अपनी चिन्ता है। औरो का कल्याण, उनकी सुख-सुविधा उसके लिए अर्थहीन है। केवल स्वार्थ का उसके जीवन में महत्त्व है, परमार्थ गौण है, निरर्थक है। संयम के अभाव मे जीवन में सर्वनाश का महा-नाटक चल रहा है। तब उसके घातक प्रभाव से आदमी बचे तो कैसे ?

'जीओ और जीने दो' का उद्घोष हमारी अत्यधिक मूल्यवान सांस्कृतिक वेरासत है एव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हमारी दुर्लभ धरोहर है। उसकी गाज रक्षा कैसे हो ? जीवन का ताना-बाना कैसे बुनें कि हम सब सुख से, शाति से जीवन-यापन कर सकें ? उसका एक मात्र उपाय संयमित जीना है। संयम से ही सहिष्णुता आएगी, सयम से ही अपरिग्रह का भाव जागेगा, संयम से ही सम्पूर्ण जीवन की रुझान, अहिसा-प्रेम एवं करुणामय होगी, संयम से ही जीवन में श्री-सुषमा आएगी, संयम से ही जीवन का कालुष्य-कालिमा मिटकर उसमें निखार परिष्कार आएगा। साराश यह है कि सयम से जीवन का रूप-स्वरूप ही बदल जायेगा और उसके फलस्वरूप जीवन में सुख, शाति एवं आनन्द की रिमझिम वर्षा होगी। संयम मानव जीवन मे रीढ़ की हड्डी की तरह है, वह जीवन का एक मात्र सुदृढ मूलाधार है जिस पर जीवन की सारी गौरव-गरिमा टिकी हुई है। अतः यदि हम सार्थक जीवन जीना चाहते है, उसे सुन्दर, भव्य एवं आकर्षक बनाना चाहते है, उसमे सुख, शाति एवं आनन्द की बासन्ती बहार लाना चाहते हैं तो हमें सयम का राजमार्ग अपनाना होगा। मानवोचित श्रेष्ठ जीवन जीने का और कोई विकल्प नही।

—चौपासनी रोड, जोधपुर (राजस्थान)

संयम : साधना का ऊर्जस्वल पहलू

❀ डॉ. दिव्या भट्ट

आदिम युग से मानव निरन्तर प्रगति—पथ पर अग्रसित होता आ रहा है। जीवन को क्रमशः संयमित करते हुए यह प्राणिक मन एक रूप से दूसरे अधिक व्यवस्थित रूप तक निरन्तर गतिशील है। मानव को प्रगति के इस सर्वोत्तम रूप तक पहुंचाने का श्रेय मन को है। मन ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, कर्त्ता है, स्रष्टा है या यदि ऐसा कहें तो भी अतिशयोक्ति न होगी कि मन ही विश्व का अनिवार्य कार्यवाहक है। इसीलिए तो कहा गया है कि—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

कर्म की श्रेष्ठता के लिए कर्म की प्रेरणा भी श्रेष्ठ होनी चाहिए। जीवन के प्रत्येक व्यावहारिक सन्दर्भो एवं क्रिया-कलापो का संतुलित एवं संयमित रूप से क्रियान्वयन ही जीवन है। जैन धर्म ने जीवन के इन व्यावहारिक संदर्भों को नवीन आयाम दिए है। उसने संयम, तप, व्रत, अहिसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता को प्रस्थापित किया है। जैन धर्म ने लोगों को समता, वैराग्य, उपशमन, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कपाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह, संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, निर्वल एवं विपन्न के प्रति दया भाव और विपरीत वृत्ति मैत्र वाले मनुष्य के प्रति मध्यस्थ भाव रखने को अनुप्रेरित किया है। इसी प्रकार जैन धर्म के आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, स्याद्वाद आदि सभी सिद्धांत जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों से जुडे हुए है।

कर्मो का क्रियान्वयन मन की गतिशीलता और दशा पर आधारित होता है। मन स्वभावतः चंचल है। अर्जुन ने भी मन की इस चंचलता का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण से कहा है कि इसे वश में करना बडा दुष्कर कार्य है। इसके प्रत्युत्तर मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि वास्तव में यह एक दुष्कर कार्य है किंतु—

अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।

मन की सबसे बड़ी सबलता यह है कि वह समझबूझकर हमें भुलावे में रखे रहता है, और मन की यह सबलता वास्तव में सबसे बड़ा दौर्बल्य है। इस दुर्बलता का निवारण निरन्तर मन को संयमित करने के प्रयत्न या अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। मन को वश मे न कर पाने के कारण ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे असामजस्य है। सामंजस्य की स्थापना तभी सम्भव है जब हमारे द्वारा

क्रियान्वित प्रत्येक कार्य हमारे व्यवहार के संयमन का परिचय देता हो तो इस सन्दर्भ में एक दृष्टांत प्रस्तुत है—

एक गुरु ने अपने शिष्यों को आश्रम में पूर्ण रूप से शिक्षित कर उन्हें एक साधु पुरुष के साथ भ्रमण हेतु भेजा। शिष्यगण साधु पुरुष के प्रत्येक व्यव-हार में कहीं न कहीं त्रुटि देख रहे थे। उन्हें साधु पुरुष की सहिष्णुता में अति का भास हो रहा था, किंतु वे मौन थे। अचानक अनजाने में ही साधु-पुरुष का पैर कुत्ते की पूंछ पर पड गया। तब वे कुत्ते के पास ही बैठ गए और उसकी पूंछ सहलाने लगे तथा उससे क्षमायाचना करने लगे। शिष्यों से न रहा गया और उन्होंने कह ही दिया कि पूज्यवर! आपसे तो अनजाने में भूल से कुत्ते की पूछ पर पैर रखा गया था, इसमें ऐसी कौनसी बड़ी भूल है जो आप क्षमा-याचना कर रहे है। तब साधुपुरुष ने कहा,'जीवन में हम इसी तरह बड़ी से बड़ी गल्ती को भी अनजानेपन का नकाब पहनाकर आगे बढ़ते जाते हैं और परिणाम-स्वरूप जीवन के हर क्षेत्र मे असामंजस्य बढ़ता जाता है। इस प्रकार बड़े ही धैर्य और संयमपूर्वक जब हम अपनी छोटी-छोटी भूलों को स्वीकार करने का अभ्यास रखेगे तभी सफलता हमारे कदम चूमेगी और जीवन के हर क्षेत्र में सामंजस्य की स्थापना होगी।'

जीवन में भूलों को स्वीकार करते चलना आसान कार्य नहीं है, क्योंकि मनुष्य की संवेदना का परिवृत्त सीमित है। वह अपने स्व के परिसीमित फैलाव में ही प्रेममय व्यवहार करने का आदि है। जैन धर्म मे 'स्व' के इस विस्तार हेतु 'व्रत' का विधान है। 'व्रत' का अर्थ है—आचरण में सत्य का निष्ठापूर्वक अनुसरण एवं मिथ्याचरण न करने की प्रतिज्ञा। मनसा, वाचा, कर्मणा से सत्य-निष्ठ रह सकने के लिए प्रतिज्ञा आवश्यक है क्योंकि मन की भटकन हमें अडिग नहीं रहने देती। व्रत का बंधन मन की भटकन को समाप्त करता है। व्रत वैसे तो भारतीय संस्कृति में धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग रहा है किंतु जैन धर्म में इसका उद्देश्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में भी इन्द्रिय-दमन की शक्ति प्राप्त कर आत्मा को उस सीमा तक शुद्ध एव मुक्त करना है जहां आत्मा स्व का विस्तार सर्वत्र देखने में समर्थ होती है इसी ...त्र को श्री मैथिलीशरण गुप्त ने निम्न काव्य पंक्तियों में बद्ध किया है—

"आत्मघातिनी न हूंगी जानो उपवास इसे,
चारों ओर चित्त के कूड़ा–करकट जब होता है,
तब जठराग्नि की सहायता से उसको
दग्ध कर आत्मशुद्धि पाता उपवासी है,
साधारण अग्नि में ज्यों सोना शुद्ध होता है।'

मनुष्य प्रवृत्तिशील है । जैन-धर्म के अनुसार प्रवृत्ति के तीन-द्वार है मन, वचन और काया । इनका सत्प्रयोग करना और दुष्प्रयोग न करना शुभाचरण के अन्तर्गत आता है । यह केवल अध्यात्म-सिद्धि के लिए ही आव श्यक नही है वरन् मानवीय जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भो मे इसका सर्वाधि महत्त्व है । 'तीर्थंकर भगवान् महावीर' के रचयिता भी दशांग धर्म का निरूप करते हुए कहते है—

धर्म क्षमा मार्दव आर्जव, सत शुचि संयम तप,
त्यागाकिंचन ब्रह्मचर्य मग, जग जाता ढप ।

संप्रति इस शुभाचरण मे वाधक एवं मन की चंचलता का प्रमुख का है तृष्णा । सुख-प्राप्ति की तृष्णा का नाश ही अक्षय सुख है । ययाति ने तृ को 'प्राणान्तक रोग' कहा है । तृष्णा ही मन की चचलता का कारण है अत 'तां तृष्णां त्यजतः सुखम्" कामनाओं की दमनपूर्ति से एवं स्वर्ग के सुख कल्पना जो सुख प्रदान करती है, वह तृष्णा के क्षय से प्राप्त सुख की मात्रा अत्यल्प है—

यच्च काम सुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडषीं कलाम् ॥

ऐन्द्रिक प्रतिक्रियाएं निरन्तर भवर निर्माण करती रहती है और इसमे असहाय सा हो उलझता जाता है । जैन धर्म मे इन अनिष्टकारी पदा को व्रत एव सयम द्वारा दूर करने का सिद्धात रखा गया है । समस्त चित्तवृत्ति को एकाग्र करके तथा समस्त इन्द्रियों को वशीभूत करके ज्ञान के आलोक मे अन्तर आत्मा द्वारा अवगाहन किया जाता है, तव उसे परमतत्त्व का साक्षात होता है—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तमितेनान्तरात्मनः
यत्क्षणं पश्यतो भाति ततत्वं परमात्मनः ।

सयम व्यावहारिक जीवन मे भी सफलता का चरम सोपान है । श्रीर से जव विभीषण पूछते है कि हे भगवन् ! आपके पास रावण से युद्ध करने न तो रथ है और न कवच । तव श्रीराम उत्तर देते हुए कहते हैं कि वि जिस रथ से होती है वह रथ दूसरा ही है और विजय रथ का उल्लेख करते कहते है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।
वल विवेक दम परहित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे ॥

शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिए है, सत्य और शील (सदाचार) उस मजवूत ध्वजा और पताका है । वल, विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होन और परोपकार ये चार उसके घोड़े है जो क्षमा, दया और समतारूपी रस्सी

रथ में जुते हुए है । इस प्रकार जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भो में ये ही गुण सफलता के द्योतक है ।

इस प्रकार व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में सफलता के चरम सोपान संयम एवं व्रत है । वास्तव में जैन धर्म ने मनुष्य मे नैतिक मूल्यों का अभिसिंचन मनः प्रवृत्तियों के आतरिक बदलाव द्वारा किया है और मनुष्य की संकीर्ण संवेदना, जो स्व के परिवृत्त में सीमित थी, उसे विस्तृत दृष्टि प्रदान कर व्रत और संयम जैसे अमूल्य रत्न प्रदान किए है ।

—प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, शहादा महाविद्यालय, शहादा (धुलिया)

सर्पिणी और काल

❀ आचार्य श्री नानेश

जब सर्पिणी के बच्चे पैदा होने का समय आता है तो वह अपने शरीर की कुंडली लगाकर, उस घेरे के बीच मे बच्चे देती है । उसी समय उसे जोर से भूख लगती है । तब वह घेरे में रहे हुए बच्चों को खा जाती है, परन्तु संयोग से जो बच्चा घेरे से अलग हो जाता है , वह बच जाता है । ऐसी ही दशा इस काल रूपी सर्पिणी की है । इसके गोल चक्कर मे जो फंसे हुए है, उनमे से कोई बिरला ही बच सकता है ।

जिस प्रकार सर्पिणी का कोई बच्चा, उस कुंडली के आकार वाले घेरे से कूद जाय, अलग हो जाय, तो बच सकता है । इसी प्रकार काल रूपी सर्पिणी के द्वारा जो ससारी प्राणियो के जन्म-मरण का चक्कर चल रहा है, उस चक्कर से जो प्राणी कूद पड़ते है, अर्थात् श्रुत चारित्र धर्म को अंगीकार कर साधना के पथ पर बढ जाते है, वे काल-चक्र रूपी सर्पिणी से सर्वथा, सर्वदा के लिए हटकर परम मुक्त स्थान को प्राप्त कर लेते है ।

कहानी–

सुमन हो, सुमन बनी रहो

❀ श्रीमती डॉ. शांता भानावत

प्रात.काल टन-टन कर घड़ी ने सात बजाये। पृथ्वी ने अपनी अंधेरी कालो चादर हटा ली थी। सूर्य ने अपनी स्वर्णिम किरणों का जाल पृथ्वी पर फैलाना प्रारम्भ कर दिया था। सुमन अपनी ऊनींदी आंखें मलती-मलती कमरे से लगी छत पर टहल रही थी। सोच रही थी पप्पू और गुड्डी को स्कूल जाना है। अरे, सात बज रही है। अभी बाबूजी के कमरे में चाय भी नहीं पहुंची। इन्हीं विचारों की उधेड़बुन में उसने अपने पाव कमरे की देहली पर रक्खा ही था कि एक कर्कश आवाज उसके कानों में पड़ी—अरे! क्यों खाते हो मेरे प्राण! इस घर में मैं नौकरानी बन कर नही आई हूं। बाबूजी के कमरे में चाय नहीं पहुंची तो मैं क्या करूं? जगाओ न अपनी लाड़ली बहन को। वो दे अपने बाप को चाय। मैं बच्चों को तैयार करूं, नहलाऊं-धुलाऊं, उनके लिए नाश्ता तैयार करूं, क्या-क्या करूं?

यह स्वर भाभी का था। आवाज सुन सुमन के पैर कुछ क्षण के लिए जहां थे वही जम गये। उसके कान चौकन्ने थे। फिर आवाज आई एक जोर का चाटा लगने की। रोने की आवाज से सुमन को लगा—यह आवाज तो गुड्डी की है। गुड्डी जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर रोती हुई कह रही थी मैं सुमन भुआ के हाथों से नहाऊंगी। भुआ तैयार करेगी मुझे। भुआ-भुआ आओ। मम्मी मारती है। गुड्डी का रोना अभी बंद भी नहीं हुआ था कि सुमन ने सामने देखा भाभी पप्पू को घसीट कर ला रही है। उनकी त्यौरियां चढ़ी हुई हैं। मुंह फूला हुआ है।

क्रोध में रणचण्डी बनी भाभी का वीभत्स रूप देख सुमन कमरे में से ही बोली—भाभी! भगवान के नाम-स्मरण की मंगल बेला मे इतना क्रोध क्यों कर रही हो? मैं अभी आधे घंटे में सारा काम निपटा दूंगी। आप परेशान मत होओ।

सुमन के स्वरों में तो अमृत का सा मिठास था। पर भाभी में तो क्रोध का नाग फुफकार कर रहा था। नणद का यह कहना कि गुस्सा मत करो यह बात उसे छोटे मुंह बड़ी बात लगी। उसने सुमन से साफ-साफ कह दिया—सुमन तुम मुझसे छोटी हो। छोटे मुंह बड़ी बात न करो। गुस्सा न करूं तो क्या करूं? इस उम्र में कितनी जिम्मेदारी है मेरे पर—अरे, तुम्हारी मां भी

ुमको छोड़ कर चली गई मेरी छाती पर । तुम्हारी कितनी बड़ी जिम्मेदारी ेरे पर । ब्याह-शादी करना हंसी खेल है क्या आज के जमाने में ? तुम्हारे ाबूजी को देखो—जबसे तुम्हारी मां मरी है तब से वे किसी काम-धन्धे के हाथ हीं लगाते । बताओ बैठे-बैठे खाने से तो भरी तिजोरियां भी खाली हो जाती । फिर कम्बख्त बच्चे ऐसे कि मेरी बात ही नहीं सुनते । जब देखो भुआ—ुआ, दादा-दादी की रट लगाये रहते हैं । ऐसी परिस्थितियों में गुस्सा नहीं करूं ो क्या करूं ? फूट गये करम मेरे तो । जाने कैसे मनहूस घर में आ गई मै ो । मां—बाप के घर में तो खूब राज किया, आठ बजे सोकर उठती, चाय-नाश्ता, हाना-धोना, खाना-पीना, कॉलेज, क्लब,पार्टी, घूमना, फिरना, मौज-शौक । और हां काम काम काम ।

भाभी के मुंह से वाक्य के तीर बिना किसी नियंत्रण के छूटते जा रहे । सुमन बिना कुछ प्रतिक्रिया किये कमरे से रसोई घर में पहुंची । बाबूजी के लये जल्दी से चाय बनाई । बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजा । तभी उसे लगा—ैया उठकर अभी अपने कमरे से बाहर नहीं आये है । उसने मन ही मन सोचा ाज की ये सारी बातें मै भैया को बताऊंगी । तभी उसे भैया सुरेश सामने ड़े दिखाई दिये । वे कह रहे थे—सुमन ! आजकल तुम बहुत देर से उठने ग गई हो । जल्दी उठा करो । तुम देर से उठती हो तो तुम्हारी भाभी को ुस्सा आता है, उसे टेंशन हो जाता है फिर बेचारी पर जिम्मेदारी भी कितनी । रे, तुम्हारी शादी की चिन्ता में उसे रात-रात भर नीद नही आती । बाबूजी ा रात भर खांसना, उनके इलाज का खर्चा, ऊपर से बढ़ती हुई मंहगाई । ाप रे बाप ! हमारी भी कोई जिन्दगी है ।

सुमन के मन-मस्तिष्क में विचारों का तूफान उमड़-घुमड़ रहा था पर बान को उसने मुंह में बन्द कर लिया था । वह कह देना चाहती थी—मेरी ादी का भार तुम पर कौनसा पड़ने वाला है । मां ने अपना सारा जेवर भाभी ो ही तो दिया था और कहा था—आधा जेवर सुमन के लिये है । बाबूजी ने ्या की पढ़ाई-लिखाई पर कितना पैसा खर्च किया था । अपनी सारी तनखा लाहबाद भैया को ही भेजते थे । मां से कहते—फालतू खर्चा मत करो, अपना रेश पढ़-लिख कर काबिल बन जायेगा तब उसके पैसे से खरीद लेना सामान । फर बाबूजी की पेंशन, ग्रेच्युटी, पी.एफ. सब कुछ तो है ।

भाभी और भैया की लोभ-प्रवृत्ति दिन पर दिन बढती जा रही थी । ुमन इस बात को बराबर महसूस करती थी । कोई महिना ऐसा नही जाता जससे वह पाच सौ सातसौ की नई साड़ी नही खरीदती हो । गुड्डी की नई फ्राक, प्पू के नया सूट और भैया के नित नई डिजाइन के पेंट, शर्ट । बाबूजी ने मां े जाने के बाद एक भी नया कपड़ा नहीं सिलवाया था । पुराने कुर्ते पजामे फटने लग गये थे । कई बार सुमन ने भैया-भाभी को बाबूजी के लिये कपड़े

मन का संयम

❀ श्री मदनसिंह कूमट

विद्वानों के मत से सयममय जीवन अनुकरणीय है तथा असंयमित जीवन त्याज्य है। क्यों ? कभी भी कोई वस्तु या सिद्धान्त उपयोगी कब व्यक्त किया जाता है और अनुपयोगी कब व्यक्त किया जाता है ? अनुभवों एवं प्रयोगों से जो स्थितियां जनहित की अनुभव की जाती है, उन्हें उपयोगी एवं अनुकरणीय व्यक्त किया जाता है और जो कृत्य अहितकारी होते है व जिनसे परिवार, समाज व जनसमूह मे कलह या विघटन या अस्तित्व के विपरीत स्थितियां उभरती हो, उन्हें अनुपयोगी व्यक्त कर त्याग करने की प्रेरणा दी जाती है।

मन, वचन एव कर्म ये तीन योग जीवन के संचालन में प्रमुखता रखते है। इन तीनों मे मन का योग प्रमुख है। यह कहा जाता है कि यदि मन वश मे हो जाता है तो मनुष्य अपने को बहुत सुखी महसूस करता है। मन चंचल होने पर अनेक दुखो की उत्पत्ति कही गई है। मन की गति विचित्र है, यह बिना पैरों एवं पखों के ही कई स्थानों का भ्रमण कर आता है व उड़ान भर लेता है। शरीर यहां रहते हुए भी वह अपनी गति कई स्थानों पर कर लेता है, इसके कारण ही इन्द्रियो मे चचलता आती है और वाणी एव शरीर मे भी चचलता दृष्टिगत होती है। कहते है कि मन एक बलिष्ट घोड़े की तरह है। यदि इसे काबू करके इसकी सवारी की जावे तो यह लक्ष्य की ओर पहुंचाने मे सहयोगी होता है और यदि बेकाबू स्थिति में सवारी होती है तो इस पर बैठने वाले की दुर्दशा ही होती है। किसी कवि ने इनका स्थिति को यों भी व्यक्त किया है—

मन लोभी, मन लालची, मन है बड़ा चकोर।
मन के मते न चालिये, मन पलक-पलक में और।।

यदि मन नियमित नही है तो फिर उसकी सवारी खतरनाक ही सिद्ध होती है। अनियमित मन वाला स्वयं के जीवन को तो क्लेशमय बनाता ही है, वह अपने अडौस-पड़ौस और समाज को भी प्रभावित करता है तथा इस प्रकार खतरे का चिह्न बन जाता है। कषायो की वृद्धि मन के कारण ही होती है। मन मे लोभ जागृत होता है तो उसकी पूर्ति के लिये मनुष्य इष्ट-अनिष्ट सोचे बिना ही इसकी पूर्ति मे लग जाता है, वह व्यवस्था को भी बिगाड़ कर अपने लालच की पूर्ति करने का प्रयास करता है। लोभ के वशीभूत हो कपट करने को उद्यत हो जाता है। इस प्रकार जब मन एक कषाय में प्रवृत्त होता है तो उसे दूसरी कपाय का भी आश्रय लेना पडता है। दोनो कषायो के कारण तीसरी कषाय मान का भी उभार होता है और उसके संरक्षण के लिये क्रोध कर चौथी कषाय को भी धारण करता है। इस प्रकार लोभ एक कषाय है जहां से उसने प्रारम्भ किया

और माया का सहारा ले उसकी पूर्ति करने पर मन जाग्रत हुआ और उसी के लिये वह क्रोध भी करने लगता है। यह स्थिति मन के असंयमित होने पर ही होती है।

यह देखा गया है कि यदि अग्नि, जल, वायु ये भी सीमा से बाहर हों तो खतरनाक बन सकते है। अग्नि चूल्हे तक सीमित है या जिस सीमा तक उसकी आवश्यकता है, वहां तक सीमित है तो उसकी शक्ति कई प्रकार से लाभकारी है और ऐसी स्थिति में वह स्तुत्य है। यदि सीमा छोड़ कर वही अग्नि आगे बढ़ती है तो विनाश का दृश्य उपस्थित कर देती है, चारों ओर हाहाकार मच जाता है और उसके शमन के लिये जल व अन्य पदार्थ जो इसे शान्त कर सकें, का उपयोग किया जाता है। ऐसी ही जल और वायु की भी स्थिति है। जब तक ये संयम में हैं, अपनी आन में हैं, तब तक तो वे जीवनदायी हैं, उनसे जीवन को विकास की राह मिलती है और यदि इसके विपरीत वे सीमा से बाहर हो जाये तो प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देते है, प्राणदायी के स्थान पर ये प्राणविनाशक बन जाते है।

अग्नि, जल, वायु जो एकेन्द्रिय जीव की स्थिति के है, वे यदि असंयमित हों तो प्रलय हो जाता है। एक इन्द्रिय के असंयमित होने पर विनाश की स्थिति के और भी अनेक उदाहरण विद्वानों ने दिये हैं। स्पर्शेन्द्रिय के संयमित नहीं होने से हाथी अपनी जान खो बैठता है, घ्राणेन्दिय की असंयमित स्थिति में भंवरा अपने प्राण गंवा देता है, रसना इन्द्रिय के वशीभूत होने से मछली मृत्यु की ग्राहक बन जाती है तो श्रोत्रेन्दिय के वशीभूत मृग अपने प्राण खो देता है एवं चक्षुइन्द्रिय के संयमित नही रहने से पतंगा अपने को अग्नि के हवाले कर देता है। एक-एक इन्द्रिय के अधीन होने पर प्राणी अपने लिये मरण का वरण कर लेते हैं तो पांचों इन्द्रियां यदि असंयमित हुई तो निश्चय ही शीघ्र विनाश है। और यदि पंचेंन्द्रिय जीव मन वाला मनुष्य सकल रूप में असंयमित हो जावे तो स्थिति अकल्पनीय ही होगी। सामाजिक व्यवस्था में ऐसी अकल्पनीय स्थिति उत्पन्न न हो, इसी के लिये ऋषियों-मुनियों ने चिन्तन के साथ धर्म को जीवन का अंग बनाने का उपदेश दिया, इसी के माध्यम से सुखमय जीवन जीने का मार्ग प्रतिपादित किया। मन, वाणी, कर्म के संयमित होने में विकास की स्थिति व्यक्त की।

मन के संयम से वाणी एवं कर्म को संयमित किया जा सकता है। 'ज्ञानार्णव' के एक श्लोक में व्यक्त किया गया है कि यदि एक मन को संयमित कर लिया जावे तो समस्त अभ्युदय सध जावेगे। यह अनुभव सिद्ध बात है कि जितने भी योगीश्वर है और जिन्होंने तत्त्व निश्चय को प्राप्त किया है, उन्होंने मनोरोध का आलंबन लिया है—

एक एव मनोरोधः, सर्वाभ्युदय साधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता, योगिनस्त्त्व निश्चयम्॥

सी. १३/१५ एजेन्सी डाकघर के सामने, जोधपुर

समता एवं सम्यक्त्व दर्शन

❀ श्री रणजीतसिंह कूमट

समता को जैन दर्शन मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । समता को धर्म का मूल और मोक्ष-मार्ग का साधन माना है । साथ ही समता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे हुआ है और इसके कई पर्यायवाची शब्द काम मे आये हैं जिनसे कुछ भ्रम भी उत्पन्न होता है कि समता का सही अर्थ क्या है? सम्यक्त्व, संतुष्टि, समदृष्टि, सतुलन, समानता, सयम आदि कई शब्द है जो समता के पर्यायवाची के रूप मे काम मे लिये गये हैं ।

अव प्रश्न यह है कि इन शब्दों का सही अर्थ क्या है ? क्या ये शब्द वास्तव मे पर्यायवाची है या इनमे अर्थभेद है ? इनका वास्तविक अर्थ क्या है और किस प्रकार ये आध्यात्मिक व व्यावहारिक जीवन में प्रासगिक है और किस प्रकार सुखी जीवन विताने मे मदद करते है ।

समता का अर्थ सम्यक्त्व से किया जाता है । सम्यक् शब्द का अर्थ "पूर्ण" से लिया है । सम्यक् का अर्थ यह भी ले सकते है जो एकान्त दृष्टिकोण नही रखता । जो चीज एकान्त दृष्टिकोण से देखी जाती है वह पूर्ण नही है । इसीलिये अनेकान्त को जैन दर्शन में केन्द्र स्थान मिला है । सत्य के अनेक रूप होते हैं और सब दृष्टिकोणो से सत्य को देखकर समझ पाने की शक्ति को सम्यक् ज्ञान कहा है । जो चीज जैसे है, उसको वैसी ही जानना सम्यक्दर्शन है । हम अपनी दृष्टि को सकीर्ण न कर व्यापक वनाये, एकान्त की वजाय अनेकान्त का दर्शन करे । और सत्य के अनेक रूपो को पहचाने, यही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन है । यही सम्यक्त्व या समता है । इसके विपरीत व्यवहार में व कई आचार्यो के कथनों मे यह उल्लेख आया है कि जो जिनवाणी पर विश्वास करे व सद्गुरु, सुदेव का आराधन करे वे सम्यक्त्वी है और शेप मिथ्यात्वी हैं । जव यह प्रश्न उठता है कि सुगुरु कौन ? कोई तथाकथित वस्त्रधारी को सुगुरु बताता है तो कोई अन्य को । यह परिभाषा सम्यक्त्व की भावना से दूर ही नहीं नितान्त विपरीत है । जितने झगडे इस प्रकार के विवेचन से हुए है, उतने अन्य किसी वात से नही हुए । सम्यक्त्व का सीधा व सच्चा अर्थ सत्य की स्वीकृति है और सत्य अनेक पक्षीय होता है । अतः सव पक्षों को जानना, समझना व आदर देना ही सत्य से साक्षात्कार है । यही अनेकान्त है जो महावीर के सदेश का अभिन्न अग है ।

सम्यक्त्व "सत्य" के दर्शन मे है । 'समण सुत्त' मे आचार्य कुन्दकुन्द का यह पद आया है—

"णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ।।

भाति-भाति के जीव (है), भांति-भांति का (उनका) कर्म है तथा भिन्न भिन्न प्रकार की (उनकी) योग्यता होती है, इसलिये स्व-पर मत से वचन-कलह को (तुम) दूर हटाओ ।

जव हम सम्यक् दृष्टि बनेंगे तो सब अन्य मत व धारणाओं के प्रति उदार दृष्टि बनेगी, उनके पक्ष को समझने की शक्ति आवेगी । यही हमारे में समता लायेगी । सब के प्रति आदर की दृष्टि याने सम-दृष्टि ।

आचार्य उमास्वाति ने जब यह उद्घोष किया "सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः," तब उनका सम्यग्दर्शन व ज्ञान से तात्पर्य, नव तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष । या संक्षेप में दो तत्त्व जीव व अजीव में श्रद्धा व उनकी जानकारी से था । जीव और अजीव की आपसी क्रिया एवं प्रतिक्रिया से यह संसार है और उनकी प्रतिक्रिया के स्वरूप को जानना व श्रद्धा करना सम्यक्त्व है । जिसने इस ससार-रचना के मूल को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जानकारी के बाद अपने पुरुषार्थ से इस चक्र से निकल जाता है । जब तक वह मूल स्वरूप को न समझकर वस्तु-जाल मे दिग्भ्रमित हो घूमता है, तब तक वह संसार-चक्र मे आवर्तन करता है । इस दृष्टि से सम्यक्त्व का अर्थ आत्मा व इससे जुडे कर्म एवं वस्तु स्वरूप को जानना व उसमें श्रद्धा करना है ।

जीवादी सद्दहणं सम्मतं जिणवरेंहि पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पाणं हवई सम्मतं ।। (दर्शन पाहुड)

अर्थात् व्यवहार से जीव आदि (तत्वों) से श्रद्धा सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है), निश्चय से आत्मा ही सम्यक्त्व होती है । (ऐसा) अरहंतो द्वारा कहा या (है) ।

संतोष : समता का अर्थ जव सतोष से लेते है तो बाहरी वस्तुओं धन-रिग्रह आदि के सग्रह मे सतोष से किया जाता है । जब तक धन-सग्रह से सतोष हीं होगा, अध्यात्म की ओर व्यक्ति प्रवृत्त हो ही नही सकता । जव तक व्यक्ति न के पीछे भागेगा, धन उसे और अधिक भगायेगा । अपनी परछाई को पकड़ने ी तरह परछाई के पीछे भागता रहेगा । इस भाग-दौड़ मे अपने जीवन का हस्य कभी नही समझ पायेगा । क्यों, उसने जन्म लिया, क्या उनके जीवन का द्देश्य है ? क्या धन एकत्र करना ही उसका उद्देश्य है ? यदि हां, तो क्या वह न धन को अपने साथ ले जायेगा ? यदि नहीं तो धन किस लिये ? जब यह न पूछेगा तभी वह मोड लेगा और जीवन के सही अर्थ समझने की कोशिश रेगा । जिस दिन यह सही दृष्टि आयेगी उसी दिन समता आयेगी ।

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलास समा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।।

अर्थात् लोभी मनुष्य के लिये कदाचित् कैलाश (पर्वत) के समान सोने-दी के असंख्य पर्वत भी हो जाये, किन्तु उनके द्वारा (उसकी) कुछ (भी) प्त नही (होती है) क्योंकि इच्छा आकाश के समान अन्त रहित होती है । ेलिये कवि ने कहा—

गोधन, गजधन रत्नधन, कंचन खान सुखान ।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान ।।

कभी-कभी, संतोष का अर्थ यह होता है, जो है उसमें संतोष करें। इसमें एक खतरा अवश्य है । इससे मेहनत न करने व तकदीर पर भरोसा करने व भाग्यवादी बनने का डर है । पूर्व कर्म-फल समझकर अन्याय को सहना या भविष्य में विश्वास कर कर्म या मेहनत न करें, यह संतोष का अर्थ नहीं है। कर्म तो करना है परन्तु इसके फल के प्रति व्यग्रता नहीं हो, तब ही शांति व समता बनी रह सकती है । कर्म न करना क्योंकि फल मिलेगा या नहीं मिलेगा अथवा फल जो होगा भाग्यानुसार मिलेगा यह वृत्ति वांछनीय नही है और न ही संतोष या समता का सही अर्थ है । समता का सही अर्थ है कि फल कुछ भी हो, मन समता मे रहे या अविचलित रहे ।

कई बच्चे परीक्षा मे फेल होते है और आत्महत्या कर बैठते है । अपने कड़ी मेहनत पर भी सफलता न मिलने पर निराशा होनी स्वाभाविक है परन्तु फल के पीछे जितना चिपकाव होता है, उतना ही गहरा धक्का लगता है । यदि कर्म में गहरा विश्वास है और फल के प्रति इतना चिपकाव नही है तो असफलता को भी संतोष भाव या समता से सहन किया जा सकता है । हर हार को अगली जीत का अवसर माना जा सकता हैं ।

समता दृष्टि :

समता का एक और अर्थ है समभाव या समदृष्टि । जो खराब व्यक्ति निदक या दुष्ट, उसके प्रति भी और जो प्रशंसक या मित्र है उसके प्रति भी प्रेम या करुणा भाव होना । इस प्रकार का समभाव होने पर दुष्ट या निंदक से समतावान घबरायेगा नही या उनके प्रति द्वेप भाव नही लावेगा । इसी प्रकार जो प्रशंसा करता है उसके प्रति राग भाव नही आयेगा । ऐसी साम्य भावना जिसमें आ गई है वह कठिन परिस्थिति से भी दु:खी नहीं होता और अनुकूल परिस्थिति मे अपने आपको खो नही देता । सब शत्रु-मित्र पर समभाव होना समता का सार है । ऐसी स्थिति मे पहुंचने के लिये अहम् के प्रति जो गहरा चिपकाव है उससे मुक्ति पाना आवश्यक है ।

हमारी आत्मा का वास्तविक शत्रु और मित्र और कोई नहीं है, शत्रु और मित्र हम स्वयं है । जो भी हमारी निन्दा करता है उससे आहत इसलिये होते हैं कि हमारे अहं पर आघात होता है, प्रशंसा से इसलिये खुश होते हैं कि अहं का पोपण होता है । यह अहं ही हमारे दृष्टिकोण को बदलता है और हमें किसी को शत्रु व किसी को मित्र के रूप मे देखने के लिये मजबूर करता है । जितना अहं से चिपकाव उतनी ही हमारी समता से दूरी है ।

जिसने शत्रु और मित्र को समभाव से देखना प्रारंभ कर दिया, व

ातराग हो गया, वही भगवान हो गया । इसीलिये कहा—'समदृष्टि है नाम
म्हारो ।' भगवान जो होगा समदृष्टि ही होगा । वह किसी के प्रति खुश या
न्य के प्रति नाराज नहीं हो सकता । वीतराग स्थिति अन्तिम स्थिति है । राग
ौर द्वेष से ऊपर उठकर समभाव में स्थित हो जाना समता की चरम स्थिति है ।

ावहारिक दृष्टिकोण–संतुलन :

वीतराग स्थिति प्राप्त हो उसके पूर्व समता का रूप संतुलन में है ।
ारे जीवन में कितना संतुलन है, इसी से समता की कोटि या श्रेणी निर्धारित
ी । जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में "समता शुद्ध हृदय का भाव है और विषमता
लन हृदय का ।" शुद्ध हृदय की स्फुर्णाये है - क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शील,
, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य अर्थात् दशलक्षण धर्म । मलिन हृदय की स्फूर्णायें
–कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ । इन दो विपरीत धुरियों के बीच मन
ाण करता है । जब विषमता में होता है तो कषाय प्रवृत्ति विशेष बलवती होती
और जब समता में होता है तो शुद्ध हृदय के भाव अर्थात् क्षमा बलवती होती
। जिसने कषायो पर विजय पा ली वह हमेशा शुद्ध भाव मे रहेगा और वह
मता की अन्तिम श्रेणी में होगा अर्थात् वीतराग होगा । इसके विपरीत जिसमें
मा आदि का कोई अंश नही है, वह घोर कषाय की स्थिति में होगा और
षमता में ही पूरा जीवन बितायेगा । परन्तु संसारी जीवन में न तो कोई हमेशा
मता मे रहता है और न कोई हमेशा विषमता में । वह कुछ समय या कुछ
शों में समता में हैं और कुछ अंशों में विषमता में ।

व्यक्ति इन दो धुरियों के बीच संतुलन बनाने की कोशिश करता है और
अधिक संतुलित होता है वह उतना ही सुखी महसूस करता है और जो विष-
ता की और अधिक झुका होता है, वह अधिक दुःखी रहता है । अपने आवेशों
Passions) क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्ञाओं (Instincts) यथा—आहार,
य, मैथुन, पर जब व्यक्ति नियंत्रण या संयम तथा शुभ भावों अर्थात् मैत्री,
नुकम्पा, समन्वय आदि का फैलाव करता है तब जीवन में चरित्र प्रकट होता
जीवन समता में होता है । समता में जितना समय बीता वह सुखी जीवन
र जितना विषमता में वह दुःखी जीवन । हम अपने व्यावहारिक जीवन में
नुभव कर सकते हैं कि जो अति क्रोध, अति मान या अति लोभ में जीवन
ताते है वे कितने दुःखी होते है परन्तु जो संयमित रूप से जीते है वे कितने
खी होते है । इसीलिये कहा है "धम्मो मंगल मुक्किठं, अहिसा संजमो तवो"
र्थात् मगल और मुक्ति का धर्म अहिसा, संयम और तप है । यह दशवैकालिक
त्र की गाथा है । केन उपनिषद् की इस गाथा पर ध्यान दे—

"तस्य तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्"

अर्थात् संयम, तप और कर्म इस अनन्त ज्ञान का आधार है और सब वेद इसके अंग है और सत्य इसका घर है ।

अनन्त ज्ञान या ब्रह्म या अनन्त सुख जिसकी खोज में जाना इस आत्म का चरम लक्ष्य है, उस ज्ञान का मूल आधार संयम, तप और कर्म है तथ जिसने इस सत्य को जान लिया वह सब बुराइयों से दूर होकर अनन्त स्वर्ग मे अपने आपको प्रतिष्ठित कर लेते है । दशवैकालिक और केन उपनिषद् की इ दो गाथाओं में कितना साम्य है, यह स्पष्ट है । संयम का अर्थ है—अहम् प नियन्त्रण या स्वयं पर विजय (Self Conquest) । हम अपने आवेगों पर औ संज्ञाओं पर जो नियन्त्रण करते हैं वह संयम है और जो त्याग करते हैं वह त है । इससे उदित होता है कर्म, अनुकम्पा, सेवा, अहिंसा और सत्कर्म । अत संयम, तप और सेवा में रमण ही समता है ।

सामाजिक संदर्भ :

समता का आज के विषम सामाजिक सदर्भ में एक और गूढ अर्थ और वह है—समानता (Equity) व न्याय (Justice) । ये सिद्धान्त आज हम संविधान के मुख्य अंग है । सविधान की घोषणा है कि—विना किसी जा लिंग, धर्म व वर्ण के भेदभाव के, सबको समानता का हक होगा और सब आर्थिक, सामाजिक, कानूनी न्याय का भी हक होगा । इस उद्घोषित समान और न्याय की आज कितनी वास्तविकता है, इसकी चर्चा करना यहां आवश्यक न परन्तु समाज के उद्भव एवं विकास के लिये यह समानता और न्याय अत्यंत आवश्य है, इसमे कोई दो मत नहीं हो सकते । भगवान् महावीर ने इस सामाजिक सं में समता की उद्घोषणा की और कहा—जाति से कोई ऊंचा या नीचा नही है जाति से ब्राह्मण नही वल्कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है । भगव महावीर ने गुलामी, पशु-संहार, जाति-भेद, आदि ज्वलंत समस्याओं पर सी प्रहार कर सामाजिक समानता के मूल्यों की स्थापना की । आर्थिक विषमता तक रहेगी, सामाजिक समानता स्थापित हो ही नही सकती इसीलिये अपरिग्रह सिद्धान्त को सर्वोच्च महत्त्व देते हुए महावीर ने कहा कि अपनी इच्छाओं धन-संग्रह की लालसा पर सीमा लगाओ और एक सीमा से अधिक धन समाज के विकास में लगाओ, दान दो । दान के महत्त्व को उजागर करते छोटे और गरीब व्यक्तियों द्वारा अपनी कमाई के तुच्छ हिस्से के दान को कर सौनैया के दान से ऊपर बताया । अपरिग्रह की भावना जब तक समाज के स सदस्यों मे व्याप्त नही होती आर्थिक समानता का आधार नही बनता । जब आर्थिक समानता नही तब तक सामाजिक व आर्थिक न्याय की कल्पना एक वना मात्र है ।

वैचारिक स्वतत्रता भी समाज की समानता का आधार है । इस दृ कोण से समानता और समन्वय के लिये अनेकांत मूल आधार बनता है । व

किसी के विचारों से सहमत हो या नहीं परन्तु दूसरे के विचारों में निहित सत्य को जानने की उदार भावना प्रत्येक में होनी चाहिये । इससे सहिष्णुता की भावना जगेगी और दूसरे व्यक्ति के विचारों के प्रति जब साम्य और आदर भाव होगा तो व्यवहार मे भी समानता स्थापित होगी । यदि असहिष्णुता और कटुता है एकांगी विचारधारा पर चलने की प्रथा है तो न केवल वैचारिक स्तर पर भेद-भाव और कटुता होगी वरन् व्यवहार में हिंसा और वैमनस्य होगा । विचारों में अनेकान्त दृष्टिकोण व्याप्त होने पर व्यवहार में अहिंसा स्वत: ही प्रकट होगी । वास्तव में विचारों में अति कटुता, गहन रोष और असह्यता होने पर ही व्यवहार में हिंसा प्रकट होती है और यदि यह कटुता और रोष वैचारिक स्तर से निकल जाये तो हिंसा गायब हो जाती है । अतः जिस 'अहिंसा परमो धर्मः' की उद्घोषणा भगवान् महावीर ने की उसका वैचारिक आधार अनेकान्त है और सामाजिक आधार अपरिग्रह । जब तक ये आधारभूत शर्तें पूरी नही होती जीवन मे वास्त-विक अहिंसा स्थापित नहीं हो सकती । चीटी न मारने या पानी छान कर पीने की अहिंसा स्थापित हो सकती है परन्तु वास्तविक अहिंसा जो करुणा, सेवा, सहानुभूति, सहिष्णुता और समभाव में समाहित है, वह बिना अनेकान्त और अपरिग्रह के स्थापित नही हो सकती । सामाजिक समनता और समानता के बिना व्यक्तिगत समता सम्यक्त्व या सन्तुलन प्राप्त हो ही नही सकता । कोई व्यक्ति चाहे कि सारा समाज कितना ही दु:खी रहे वह अपने सुख मे मस्त रहे तो यह कभी संभव नही । कोई आग में रहकर आग का ताप प्राप्त न करे, यह असंभव है । उक्त व्यक्ति स्वयं के मोक्ष की कामना करने से पूर्व सबके सुख और कल्याण की कामना करे व उन्हे सुखी करने का प्रयास करे तब ही स्वयं सुख प्राप्त कर सकता है ।

इस संदर्भ में महर्षि अरविन्द ने लिखा है—

The salvation we seek must be purely internal and Impersonal, it must be the release from egoism, the unity with the devine, the realisation of our universality as well as our transcendence and no salvation should be valued which takes us away from the love of god in his manifestation and the help we can give to the world. If need be it must be taught for a time "Better this hell with our other suffering selves than a solitary salvation." P—189 The Upnishads

अर्थात् जिस मुक्ति की हम खोज में है वह शुद्ध रूप से आन्तरिक एव अवैयक्तिक होनी चाहिये । इसका अर्थ अपने अहं से मुक्ति और परम तत्त्व से मिलन होना चाहिये । यह अनुभूति हो कि हमारा व्यापक एवं सत्य रूप क्या है और निरन्तर परिवर्तन रूप क्या है कोई भी मुक्ति, जो ईश्वर के प्रकट रूप से और विश्व को जो कुछ हम दे सकते है उससे दूर ले जावे, उस मुक्ति को कोई

अहमियत नहीं दी जानी चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो कुछ समय के लिये यह शिक्षा भी दी जाये कि—

"अकेले मुक्ति की बजाय अपने सब दुःखी साथियों के साथ इस नर्क में रहना ज्यादा अच्छा है।"

—श्री अरविन्द

समता पत्थर की समता नहीं है, जो न बोलता है न अनुभव करता है। समता और जड़ता में रात-दिन का फर्क है। जीवन्त समता में चेतना है, क्रिया, गतिशीलता और संतुलन है। पत्थर की समता में है जड़ता, निष्क्रियता और निश्चेतनता। राग-द्वेष को जीतना या वीतरागता का अर्थ पत्थर बनना नहीं वरन् अपने आवेशों पर नियन्त्रण करना है। अपनी जागरूकता व विवेक को बढाना है जिससे हम संस्कारों और प्रतिक्रिया के जीवन से ऊपर उठकर विवेकपूर्ण जीवन जी सकें। विवेक और जागरूकता से किया कार्य भी समता का कार्य है। 'दशवैकालिक' सूत्र मे पूछा कि हम कैसे खायें, कैसे सोये, कैसे चलें व कैसे बैठें जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो, तो उत्तर दिया कि विवेक या यत्न से चले, बैठे, सोवें व भोजन करे तो पाप कर्म का बन्ध नही होगा। इस गाथा ने जीवन की प्रत्येक छोटी-छोटी क्रिया मे भी विवेक एव जागरूकता को महत्त्व दिया है।

विवेक एवं जागरूकता की पहली शर्त है—आत्म-संयम। टॉल्स्टॉय ने भी लिखा है—आत्म संयम के बिना न तो उत्तम जीवन संभव हुआ है और न हो सकता है····। आत्म-सयम का अर्थ है मनुष्य का वासनाओ से मुक्त होना, वासनाओ को सीमित और सरल बनाना। वासनाओं का जिक्र करते हुए टॉल्स्टॉय ने सर्व प्रथम जीभ की मौलिक वासना से लड़ने व उपवास व्रत करने का उपदेश दिया अर्थात् त्याग व तप करना आवश्यक बताया। यह दूसरी शर्त हुई। इसी संदर्भ में मांस-भक्षण को अनैतिक बताते हुए कहा कि मांस भक्षण विकार ही जाग्रत नही करता वरन् मूल मे स्वादु भोजन के लोभ और जीवों के उत्पीड़न के प्रति असंवेदनशीलता दर्शाता है। जीवों के प्रति सवेदनशीलता ही अहिसा का आधार है। यह तीसरी शर्त हुई। टॉल्स्टॉय के उपर्युक्त शब्द महावीर के उपदेशों का समर्थन ही नही करते वरन् इस बात का परिचय देते है कि जो भी व्यक्ति उच्च श्रेणी की समता पर पहुंचते हैं उन सबकी अनुभूति एक सी है और उनके उपदेश भी एक से है।

समता अर्थात् संयम, अहिसा, और तप, जीवन-धर्म का मूल आधार है और इसमें सबका मंगल निहित है। इसी से समाज में सवेदनशीलता, समानता, न्याय और करुणा के भाव उत्पन्न हो सकेंगे, जो समाज के सभी वर्गो के लिये व्यक्तिगत एवं समष्टिगत रूप से लाभ-कारी होगे। जहां अहिसा, संयम और तप का अभाव होगा, वहां विषम सामाजिक परिस्थितियां होगी और प्रत्येक व्यक्ति दुःखी एवं असतुलन की स्थिति मे मिलेगा। इसके विपरीत स्थिति मे समाज मे सौहार्द, समन्वय, समदृष्टि व समानता स्थापित हो सकेगी और सभी प्राणी सुखमय जीवन बिता सकेंगे।

—सचिव, राजस्थान राज्य उपक्रम विभाग, जयपुर

समता–साधना

❀ डॉ. सुषमा सिंघवी

समता–साधना का साधन तथा साध्य दोनों ही आत्मा का प्रसाद है अर्थात् निर्मल आत्मा ही समता की साधना के लिये साधन है तथा आत्मा की निर्मलता या विप्रसाद ही समता साधना का साध्य है, फल है। 'आचारांग' सूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि समता की दृष्टि से आत्मा को प्रसाद युक्त रखें—"समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसादए"[1]।

वर्तमान संदर्भ में समता–साधना का महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक है क्योकि वर्तमान में प्राणियों मे उल्लास की कमी है। चेहरे मुर्झाए हुए है, चित्त म्लान है, प्रसन्नता का अभाव है। चित्त की निर्मलता और सरलता के अभाव के कारण उल्लास की सर्वत्र कमी है। इसके अतिरिक्त भोगोपभोग के साधनों के योग–क्षेम में ही मानव जीवन व्यस्त हो रहा है और इस प्रयास में अनुकूल की अनुपलब्धि तथा प्रतिकूल की उपलब्धि से त्रस्त हो रहा है। अतः सर्वत्र उल्लास का अभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों के जीवन में उल्लास और प्रसाद के दर्शन समता की साधना से संभव है। भोगोपभोग हेतु बाह्य साधनों और सामग्री की वृद्धि सुखाभास करा सकती है किन्तु आत्म–प्रसाद अथवा आत्मोल्लास कदापि नही क्योंकि आकाशवत् अनन्त इच्छाओं की पूर्ति का कभी विराम नहीं होता।

यदि समता की साधना अर्थात् सामायिक को दुष्कृतगर्हा, सुकृत अनु–मोदना तथा चतुःशरणागति पूर्वक किया जाय तो निश्चय ही ज्ञान और आचरण का सयोग होने से मोक्षपरक तीव्र सवेग की प्राप्ति होगी। दुष्कृत गर्हा से पाप कर्मो के प्रति तीव्र पश्चात्ताप रूप प्रतिक्रमण होता है, प्रतिक्रमण से पूर्वभव ज्ञान संभव हो जाता है तथा उससे वैराग्य पुष्ट होता है, साथ ही सुकृत् अनुमोदना से सच्चे देव, गुरु और धर्म की प्राप्ति का विश्वास जाग्रत होता है तथा अरिहत, सिद्ध, साधु एवं जिन–धर्म इन चारों के प्रति शरणागति से मन समता–साधना में स्थिर होता है।

सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणी आत्मोपयोग लक्षण की दृष्टि से समान है। इस आत्मौपम्य भाव से साधक सावद्य–योग का त्याग करता है, पर-छिद्रान्वेषण अथवा मात्र पर्याय अवलोकन को अनावश्यक मानता है तथा स्वात्मरमण को आवश्यक मानकर समभावपूर्वक आचरण करता है—यही सामायिक है, यही समता-साधना है। समता–साधना के बिना, आवश्यक के शेष पांच अङ्ग–चौवीस्तव, वन्दना,

---

१– आचाराग सूत्र, III/३ समता दर्शन, १२३ सूत्र

प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान सार्थक सिद्ध नहीं होते। राग अथवा द्वेप की स्थिति में न तो सुकृत् अनुमोदना रूप चौवीस्तव सम्भव है और न दुष्कृत गर्हा रूप प्रतिक्रमण। राग से अथवा द्वेप से आवेशित चित्त स्थिर, शान्त नही रह सकता। किसी भी रग मे रंगा वस्त्र श्वेत नही ही कहलाएगा। चित्तवृत्ति को निर्मलता प्रदान करती है सामायिक। आत्मा मे निर्मलता और प्रसाद प्रदान करने की क्षमता मात्र समभाव मे है क्योकि जहा परभाव या विभाव का अभाव होता है, वही समभाव की स्थिति होती है। 'नियमसार' का उद्घोप द्रष्टव्य है—

अशेषपरपर्यायैरन्य द्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनौति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ।। [सस्कृत भाषान्तर]

आत्म स्वभाव मे अथवा शुद्ध चैतन्य मे स्थिति मात्र समता/साम्य है। यह एकरूपता ही सामायिक है। इस स्थिति में स्वयं आत्मा को ज्ञाता द्रष्टा होने का अनुभव समाय है और समाय ही सामायिक है, यही समता की साधना है।

सर्व प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भाव जाग्रत हो जाने से, द्रव्य का वास्तविक स्वरूप 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्, 'सद् द्रव्यम्' रूप त्रिपदी समझ लेने से अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेप कदापि सम्भव नही होगा। सभी द्रव्य द्रव्य है, सभी द्रव्य द्रव्यत्व की महासत्ता की दृष्टि से समान है, ऐसा निश्चय हो जाने पर किससे राग और किससे द्वेप ?

ऐसी समता की साधना का अविरल निर्झर पूर्वकृत एव सचित कर्मो की निर्जरा का हेतु बन जाता है और भावी कर्मवन्धन का संवर करता है।

जैन दर्शन Rational human base पर आधारित है, वैदिक दर्शन की भांति Supernatural base पर नही। वैदिक ऋपियो ने अपनी आवश्यकताओ तथा इच्छा पूर्ति करने वाले तत्त्वों को देवी-देवता [वायुदेवता, अग्निदेव, जलदेव, पृथ्वी-देव] का रूप देकर पूजा की। जैन दर्शन मे जीवत्व सामान्य की दृष्टि से विचार कर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय सभी को जीव मानकर इन सभी के साथ आत्मौपम्य भाव की स्थापना कर सभी के प्रति समत्व भाव को जाग्रत किया है—

'सम्यक् एकत्वेन अयनं गमनं समयः। समय एव सामायिकम्।'

विश्व के समस्त प्राणियों को अपने समान मानना ही न्यायोचित तथा तर्कसम्मत है क्योंकि अन्य जीवो को अपने से न्यून या छोटा मानने पर अभि-मानोदय से हम ससार-गर्त में पतित होते रहेगे और यदि अन्य जीवों को अपने से बड़ा माना तो दीन बनकर स्वभाव से च्युत हो जायेंगे। आवश्यकता है पर्याय-बुद्धि परित्याग की और सर्वजीव समता-साधना की। सर्व प्राणियो मे यथार्थ मैत्री भाव भी आत्मौपम्य दृष्टि से ही सम्भव है। मिले हुए खेतो मे यह अमुक का

त्र है तथा यह दूसरे का, इस भेद को जानने हेतु जैसे एक सीमा रेखा होती है वैव आत्मा और अनात्मा के भेद को जानने की सीमा समता है ।

मध्यस्थ भाव अथवा द्रष्टाभाव की पुष्टि हुए बिना समत्व की आय सम्भव हीं है । समता-साधना का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो ष्ट होगा कि प्रतिक्रिया का निषेध समभाव की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक है ।

मनोविज्ञान के अनुसार उत्प्रेरक प्राप्त होने पर जीव प्रतिक्रिया करता । यह एक सहज वृत्ति है जिसे मनोवैज्ञानिक S–O–R समीकरण में प्रस्तुत करते । पांवलफ नामक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोगों द्वारा यह निर्णय दिया कि कुत्ते जैसे ाणी को भी किसी विशेष परिस्थिति में विशेष क्रिया करने हेतु बाध्य [शिक्षित] र दिया जाता है, तथापि अपने कुछ प्रयासों में यदि वह फल प्राप्त नही करता ो अभ्यास से और अनुभव से प्रतिक्रिया करना छोड़ देता है । जैसे कुत्ते को कुछ मय तक घंटी बजाकर खाना दिया गया जिससे उसे लार आई । भोजन उत्प्रेरक उस कुत्ते ने लार के रूप में प्रतिक्रिया की । कई प्रयासों के पश्चात् कुत्ता घटी ी आवाज से Conditioned हो जाता है और ऐसी स्थिति में कुत्ते के समक्ष ोजन न रखने पर भी यदि घंटी मात्र बजा दी जाय तो भी उसे लार आ ायेगी । यह Conditioned Learning है । किन्तु यदि कई प्रयास ऐसे हों जिसमें टी बजाकर भोजन न दिया जाय तो वह कुत्ता भी उस प्रक्रिया में फल प्राप्ति होने पर Conditioning से प्रभावित नहीं होता है । यह अभ्यास का प्रभाव है के वह घंटी बजने पर भी लार के रूप में प्रतिक्रिया नही करेगा क्योंकि वह पुनः ान गया कि अब उसे घटी बजने पर भोजन नहीं मिलता है । कैसी विडम्बना कि अनन्त काल तक पूर्व-पूर्व जन्मों में काम-भोग-बन्ध कथा से परिचित एवं उसके अभ्यस्त हम ससारी प्राणी उनमें सुख अथवा दु.ख मानने की प्रतिक्रिया करते है जो कर्मबद्धता के कारण सहज है किन्तु यह राग-द्वेष निष्फल है, ऐसा अनेकशः गुरु द्वारा श्रवण, शास्त्र द्वारा पठन तथा अपने अनुभव द्वारा जान लेने के बाद भी हम उस पूर्व Conditioning से प्रभावित होते रहते है । अभ्यासपूर्वक यास करके प्रतिक्रिया करना छोड़ते नही है । कुन्दकुन्दाचार्य ने कितना मर्मस्पर्शी कथन किया है कि सभी प्राणियो को काम-भोग-बन्ध कथा श्रुत, परिचित और नुभूत है, पर्यायभिन्न केवल आत्मैकत्व को प्राप्ति सुलभ नही है [समयसार ाथा ४] ।

क्रोधादि के उत्प्रेरक की प्राप्ति होने पर भी प्रतिक्रिया [क्रोधादिरूप] न करने हेतु राग-द्वेष के परित्याग का अभ्यास अपेक्षित है और वह अभ्यास ही समता-साधना है और यही श्रावक की सामायिक है । यह निश्चय है कि क्रोध क्रोध है, आत्मा नही, विभाव विभाव है, आत्मा नही, राग राग है, आत्मा नही तब आत्म प्राप्ति के लिये समता-साधना का लक्ष्य लेकर चलने वाले हम लोगों को क्रोधादिकारक उत्प्रेरको के प्रति प्रतिक्रिया नही करने का अभ्यास करना चाहिये जिससे मिथ्यात्व के

कारण राग-द्वेष के प्रति बाध्य हमारा विभाव समाप्त हो और हम इस प्रतिबद्ध
को समता–साधना के अभ्यास द्वारा त्याग कर आत्म स्वभाव में स्थित हो सकें

समता–साधना का एक दूसरा अर्थ है अप्रमत्त स्थिति की प्राप्ति
प्रयास । हमारी जीवनचर्या में हम या तो भूतकालीन सुख-दुःख मय विक
अथवा भविष्यकालीन कल्पनाओं के ताने-बाने में इतने प्रमत्त रहते हैं कि
वर्तमान क्षण का भान नही रहता । सामायिक हमें क्षण के स्वरूप को समझ
कर अप्रमत्त बनाने मे सहायक है ।

'आचाराङ्ग सूत्र' के पंचम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में क्षणान्वेषी
अप्रमत्त कहा है । शास्त्रों में क्षणज्ञ को सर्वज्ञ कहा गया है । "एत्थोवरते
झोसमाणे अयं सधि ति अदक्खु, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे ति अन्नेसि [
भेद–मन्नेसि]" इस औदारिक शरीर का यह वर्तमान क्षण है, इस प्रकार
क्षणान्वेषी है वे अप्रमत्त है । प्रतिक्षण के पर्याय परिवर्तन पर जिसकी दृष्टि
जो क्षणविशेष की अवस्था विशेष को पकड़कर नही बैठता [उसके प्रति राग
द्वेप नही करता] वह सुगमतया अनन्त पर्यायत्मक जगत् [के पदार्थो] की क्ष
भंगुरता को समझ लेता है और क्षणभगुरता का ज्ञान ही वैराग्य का उत्पादक
मुझे जो व्यक्ति या वस्तु प्रिय है, वह प्रतिक्षण बदलती जा रही है, मेरी
कहां रही, यदि मैंने प्रिय को पा भी लिया तो जो जिस क्षण मे प्रिय था
उस क्षण मे नही पाया, जव तक पाया तव तक वह प्रतिक्षण परिवर्तन के का
वदल चुका था अतः कोई वस्तु या व्यक्ति राग अथवा द्वेप का विषय नही
सकता । वस्तु द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है और पर्याय की अपेक्षा परिवर्तनशील
इस चिन्तन से वैराग्य उत्पन्न होता है । राग-विगत होते ही समता की प्रा
होती है । राग का छूटना ही द्वेष का नष्ट होना है क्योंकि द्वेष और राग
ही सिक्के के दो पहलू है ।

वर्तमान क्षण को पकड़ लेने वाला व्यक्ति भूत में चला जायेगा
जिसने क्षण को छोड दिया वह भविष्य में । इस प्रकार भूत–भविष्य के भूले
राग-द्वेप वश क्षण [वर्तमान] को नही पहचानना ही हमारा अज्ञान है, मोह
इस मोह पर विजय प्राप्त करने के लिये समता–साधना अपेक्षित है ।

प्रश्न यह है कि क्षण का अन्वेषण कैसे हो ? समता के साधक
समाधान दिया है कि ज्ञाता द्रष्टा भाव से क्षणान्वेषण सम्भव है । पूर्वकर्म
उदयवश जो रागात्मक स्थिति या द्वेपात्मक स्थिति हो, उसे यदि मात्र हो
दिया जाय, हम उस स्थिति के ज्ञाता द्रष्टा मात्र हो जायें, वह स्थिति हम
राग या द्वेपपरक प्रभाव न छोड़ पावे, हम उस स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया न
तो कर्मबन्धन की विस्तृत परम्परा को काट सकेंगे ।

एक प्रश्न यह भी स्वाभाविक है कि अनन्त जन्मों के कर्मबन्धन
एक जन्म की समता–साधना से कैसे कट सकते है ?

समता–साधकों का उत्तर है कि बीज के अंकुरित होने से बना वृक्ष स्वयं अपने फलों में सन्निहित, अनेक बीज रखता है जिससे भविष्य में असंख्य वृक्षों ा निर्माण सम्भव है किन्तु उस वृक्ष को दग्धबीज कर दिया जावे तो भावी वृक्ष द्धि तो समाप्त होगी ही, उस वृक्ष की पूर्व सन्तति भी समय पर क्षीण हो ायेगी ।

निष्कर्षत: समता–साधना का फल है आत्म–प्रसाद । समता–साधना का र्थ है—आत्मौपम्य भाव । समता–साधना का अर्थ है—प्रतिक्रिया का अभाव तथा ध्यस्थभाव का अभ्यास । समता–साधना का तात्पर्य है—प्रमाद का त्याग तथा णान्वेषी बनकर अप्रमत्त भाव की प्राप्ति ।'

—निदेशिका, क्षेत्रीय केन्द्र,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

卐

यह अनुशासनहीनता होगी

❀ राजकुमार जैन

न्यायमूर्ति महादेव गोविद रानाडे के पास किसी परिचित ने कीमती अल्फोंजी आमों का टोकरा भेजा । भोजन के वक्त श्रीमती रमाबाई रानाडे आम ले आई । उन्होने चाकू से आम काटकर तीन फांकें पति को दीं । तीनों फांकें खाकर रानाडे ने कहा—'बस, अब नहीं चाहिए ।'

'क्यों ? और लीजिए न ? क्या स्वादिष्ट नहीं है ?'—श्रीमती रानाडे ने कहा ।

'नही स्वादिष्ट तो हैं, पर इससे अधिक खाना मेरे स्वाद के अनुशासन से बाहर होगा ।'—रानाडे ने कहा— 'ये आम कीमती है । मैं इन्हे उतना ही खाना चाहता हूं जितने से जीभ की आदत न विगड़े और जितना मै खरीद कर भी खा सकूं । किसी ने भेट किये है, इस लिए ज्यादा खा लेना मेरी नजर में अनुशासनहीनता होगी ।'

श्रीमती रानाडे अपने पति के सिद्धांतों के आगे नत-मस्तक थी ।

पचपहाड़ रोड, भवानी मण्डी (राज.) ३२६५०२

जैन धर्म और समता

डॉ. प्रभाकर माचवे

दो सौ वरस पहले फ्रांस में राज्यक्रांति हुई तव ये तीन तत्त्व उभर कर सामने आये— लिवर्ते, इगैलिते, फ्रैतर्निते' (स्वतंत्रता, समता, वंधुता)। कई दार्शनिकों ने विदेश में इस पर वड़ा विचार किया कि मनुष्य के लिए ये तीनों मूल्य ऐकांतिक रूप से सम्भव नही। पूरी स्वतन्त्रता हो तो फिर सांस लेने से भी स्वतन्त्रता हो जाये। एक तरह से चेतना या विवेक से 'मुक्त' पुरुष पशु ही हो जायेगा। जव तक इन्द्रियां हैं, संवेदन-क्षमता से मनुष्य मुक्त कैसे हो? संवेदन शून्य तो यन्त्र होता है, या रोवो।

कुछ लोगो ने यह भी ऐतराज किया कि स्वन्त्रता और समता साथ-२ नही चल सकती। सव वरावर हो गये तो वे यन्त्र के पुर्जो की तरह हो जायेंगे। व्यक्ति की स्वाधीनता का क्या अर्थ वचा होगा? 'मैं तुम में, तुम मुझ में हो प्रिय' तो प्रेयसि-प्रियतम अभिनय क्या' शायद महादेवी की उक्ति है। एकाकार होने पर 'वर्णानाममेकता' कहां वची रह गई? राजनीति-शास्त्रियो का यह भी मानना है कि पूंजीवादी देशों ने 'स्वतन्त्र व्यापार, स्वन्त्र वाजार, स्वतन्त्र कारोवार' करके देखा पर दुनिया उस सिद्धांत को अपना न सकी। 'पूंजीवाद' शव्द में यही निहित है कि कुछ लोग है जिनके पास पूजी है। कुछ हैं जिनके पास नही है यानी उससे विपमता वढी। अव उस विपमता को कम करने के लिए समाजवाद, समतावाद (या साम्यवाद) आया। पर वह भी पूरी तरह से असमानता नप्ट नही कर सका। साम्यवादी साम्यवादी राष्ट्रो में भी वैपम्य आ गया। वह इतना वढा कि पहले रूस-युगोस्लाविया अलग पथ पर चलने लगे, रूस और चीन अलग हो गये। अव तो पौलेड और हगरी भी रूस से छिटक गये। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ का स्वप्न सात दशक मे ही विलीन हो गया और दुनिया को पूंजीवादी या साम्यवादी खेमे में वाटने को उत्सुक राजनयिक, कूटनयिक यह भूल गये कि इतने दो वड़े महायुद्ध और शीत युद्ध दो दशकों तक वनाये रखने के वाद भी दुनिया का आधे से ज्यादह हिस्सा न पूंजीवादी हुआ न साम्यवादी। एशिया-अफ्रीका के पच्चीसो देश निर्गुट वने रहे। वे 'तीसरी दुनिया' वने।

यह सव राजनैतिक, ऐतिहासिक, आधुनिक युग की, वीसवी सदी की त्रासदी भूमिका रूप मे देने का अर्थ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति हो या समाज वारवार सम से विपम और विपम से सम की ओर वढ़ता, आता-जाता नजर आता है। साहित्य का ही साक्ष्य लीजिये। न वीर-गाथा काल सदा के लिए रहा,

न भक्तिकाल, न शृंगार वाला रीतिकाल। 'शृंगार–वीर-करुणा' ये तीनो रस, शायद इसी क्रम से नहीं, मानवी संवेदना-व्यापार को सम्मोहित–संक्रमित-सचालित करते रहे। यदि चित्त एकदम सम-रस समाधि में पहुंच जाये, तो फिर उस 'शांत' को रस कहना भी कठिन है।

भगवान महावीर और जैन धर्म का आरम्भकाल से ही 'समता' पर विशेष बल रहा है। महावीर ने अपने अनुयायियों में सब वर्णो के लोगों को समान अवसर दिया। यद्यपि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय है,परन्तु जैन धर्म मे जातिभेद नहीं है। महावीर कर्मणा जाति मानते थे। जैन धर्म में महावीर ने पूर्वापराधी चोर या डाकू, मछुआरे, वैश्या और चांडाल पुत्रों को भी दीक्षित कर लिया। केवल कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के जिनसेन मठ के अनुयायी 'चतुर्थ' कहलाते है। सातारा, बीजापुर की ओर खेतीहर, जमीदार, जुलाहे, छीपे, दर्जी, सुनार और कसेरे भी जैन है।

जन्मना जातिगत विषमता न मानने के साथ ही महावीर विद्वान् और मूर्ख, पढा–लिखा और अनपढ़, साक्षर और निरक्षर का भेदभाव भी कृत्रिम मानते है। इसलिए वे 'निर्ग्रन्थ' ज्ञातपुत्र कहलाये। शब्दप्रामाण्य मानने वाले धर्माचार्यो को उन्होने चुनौती दी। धर्म क्या पुस्तक मे बसता है या मनुष्य मे? अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की प्राप्ति हर व्यक्ति के लिए समान भाव से सम्भव है। वहां तर–तमता नही है।

इसी कारण से मै विचार करता हूं कि कई जैन न केवल गांधी जी की ओर आकृष्ट हुए (गांधी के एक प्रभावक रामचन्द्र भाई आशुकवि जैन थे) परंतु समाजवादी–साम्यवादी आंदोलनों मे भी देश के कई प्रबुद्ध जैन खिचकर चले आये। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पदमकुमार जैन, विमलप्रसाद जैन, अ. भि. शहा, भानुकुमार जैन, नेमिचद्र जैन, इन आंदोलनों मे खिचे चले आये। कुछ लोगों को मैं जानता हूं। गुजरात में भोगीलाल गांधी, महाराष्ट्र में गोवर्धन पारीख और कई ऐसे लोग गिनाये जा सकते है।

जैन धर्म और दर्शन में यह 'मानव मानव सब है समान' मन्त्र को प्रचलित करने की सुविधा इस कारण से हुई कि उन्होने आत्मा से अलग किसी उच्च पदासीन ईश्वर का निषेध किया। तप और सत्कर्म से आत्मविश्वास की सर्वोत्तम अवस्था ही ईश्वत्व है। मनुष्य अपने 'कर्म' से अलग भाग्य विधाता स्वरूप है। कोई अवतार या चमत्कार उसका उद्धार करने नही आयेगा। गीता के 'उद्धरेदात्मनात्मान' और 'आत्मैवह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन' से वहुत मिलता–जुलता विचार जैन दार्शनिकों ने शदियों तक प्रचारित किया।

महावीर लिच्छवी कुलोत्पन्न होने पर भी गणतन्त्रवादी आदर्श पर उन्होने चतुर्दिक चतुर्विध संघ निर्मित किये। बिहार में राजगृह और भागलपुर, मुंगेर और जनकपुर, उत्तरप्रदेश में बनारस, कोसल, अयोध्या, श्रावस्ती, स्थानेश्वर

साधना में इस पर वडा जोर दिया गया है । मुनि समस्त जीवन इसे साधित करता है, गृहस्थी कुछ समय के लिए । 'स्व' और 'पर' में, वाह्य और अभ्यंतर में एकरूपता पाने के लिए विकारों की विषमता दूर करते जाना जरूरी है। आरम्भ-संयम का यह कड़ा पुरश्चण है ।

(११) सामायिक या 'सवर' में विकार रोक तो दिये । परन्तु यदि कुछ कलमष फिर भी रह गया तो उसे दूर करने को 'निर्जरा' या तपस्या कहा जाता है ।

(१२) प्रतिक्रमण भी जैन साधना का एक अंग है इसका अर्थ है पीछे मुड़ना । इसमें पीछे की हुई भूलो का परिताप निहित है । सामायिक चतुर्विशति-स्तव, वंदन-प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान इसके सोपान है । जीवन के काम मे आने वाली वस्तुओ में एक-एक को छोड़ते जाना सीढ़ी दर सीढी त्याग सीखना इस समता–साधना मे आता है ।

(१३) प्रत्येक प्राणी से क्षमा प्रार्थना कर उन्हें वह क्षमा प्रदान भी करता है । शत्रुता समाप्त करके सवसे मित्रता की घोषणा अगला कदम है जो व्यक्ति वर्ष मे एक वार सच्चे हृदय से यह घोषणा नही करता,अपने मन से सब मलिनता और द्वेष नहीं हटाता, वह सच्चा जैन नहीं । यह सांवत्सरीक पर्युषण पर्व, वौद्धों के 'पातिमोक्ख' की तरह या वैष्णवो की तरह पापनाशिनी एकादशी की तरह पुनः सव प्राणियो को एक ही समतल पर ले आता है ।

(१४)मनुष्य अनन्त ज्ञानीहोने पर भी अल्पज्ञ क्यो है ?अनन्त सुखी होने पर भी दुःखी क्यो है, अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी दुर्वल क्यो है ? क्योंकि वाह्य प्रभाव या 'कर्म' उसे वांधता है । न्याय तभी होगा जव पुरुषार्थ और फल मे समानता होगी । मनुष्य अपने ही कर्मो से यह विषमता पैदा करता है, अपने कर्मो से ही वह समता ला सकता है।

(१५) जैन संघ मे पुरुष या स्त्री,ब्राह्मण हो या शूद्र,जाति, लिंग, व्यवसाय के आधार पर कोई वैषम्य नही रखा गया है । आयु, जाति या लिंग के अनुसार परस्पर–अभिवादन भिन्न नही है । जैन दर्शन ने स्त्री को समान अधिकार देकर उन्हें साध्वी वनने दिया, जो कि हिंदू या वैदिक सनातन धर्म की अगली सीढ़ी थी । जैन दर्शन मानता है कि—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽयुपपत्तितः ।।

किसी भी सर्वदृष्टा और अनादिकाल से कर्मो से अस्पृष्ट ऐसे व्यक्ति की कल्पना भी नही की जा सकती । विना उपाय के सिद्धि प्राप्त करना अनुपपत्त है ।

—७३, वल्लभनगर, इन्दौर-२

जैन आगमों में संयम का स्वरूप

❀ श्री केवलमल लोढ़ा

मनीषियों का उद्‌बोधन है 'संयमं खलु जीवनं' यानि संयम ही जीवन की कला है और असंयम मृत्यु है। उस संयम की व्याख्या जैन आगमो में स्वरूप (प्रकार, फलादि) आदि बिन्दुओं पर यहा संक्षिप्त वर्णन करना ट है।

व्याख्या—(i) संयम शब्द 'सं' उपसर्ग और 'यम' धातु से बना है। का अर्थ सम्यक् प्रकार से और 'यम' का अर्थ नियंत्रण करना है। यानि मन, , काया की पापरूपी प्रवृत्तियो का सम्यक् प्रकार से नियंत्रण करना संयम है।

(ii) सम्यक् ज्ञान, दर्शन पूर्वक बाह्य और आन्तरिक आश्रव स्रोतों से ते (असंयम से निवृत्ति और संयम मे प्रवृत्ति—'असंजमे नियति च, संजमे च ण—उत्तरा. अ. ३१-२) होना संयम है।

(iii) हिसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति (पांच महाव्रत) न है। ठाणांग–ठाणा ५

(iv) पाच समिति और तीन गुप्ति (द्वादशांग रूप प्रवचन—उत्तरा. अ. –३) सर्व विरतिरूप चारित्र संयम है। पाच समिति में यतनावाले संयमी श्री केशीवल मुनि समाधि मुक्त थे (अ. १२–२)

(v) प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से त्माओं में सर्वविरति रूप परिणाम की प्राप्ति होती है, वह संयम है। चारित्र र संयम दोनों सापेक्ष है—आधार–आधेय रूप हैं।

चरम तीर्थंकर भगवान महावीर का वीतराग मूलक संयम धर्म का वर्णन नेक दृष्टियों से वर्तमान उपलब्ध आगमों मे सर्वत्र दृष्टिगोचर है। इनमे से कुछ स्त्रो की झाकी यहां प्रस्तुत की जा रही है।

वैकालिक सूत्र में—

(क) धर्म अहिंसा–**संयम**–तप रूप है। अ. १–१/अ. ६–६ मे भी 'अहिंसा उणा दिट्ठा सव्व भुएसु संजमो'—सव प्राणियो की संयम पालन रूप अहिसा नंत सुखो को देने वाली है।

(ख) समभाव पूर्वक संयम मे विचरते हुए साधक का मन यदि कभी यम से बाहर निकल जावे तो वह वस्तु मेरी नही है और न मै उसका हूं। इस कार चितन करते हुए, उस पर से राग भाव को दूर करे (अ. २-४) । वमन

किये हुये भोगों को पुनः भोगने की इच्छा नहीं करे। इस पर राजमती—रथनेमि को असयम से संयम स्थित होने का प्रेरणादायक दृष्टान्त गाथा ६-१० में दृष्टव्य है।

(ग) संयमी के निषिद्ध अनाचार अ. ३ गाथा १—६ तक व संयम त से पूर्व संचित कर्म क्षय होते है और फलस्वरूप साधक सिद्ध होता है या कुछ क शेष रह जावे तो दिव्य देवलोकवासी होता है, गाथा १४ अवलोकनीय है।

(घ) चतुर्थ अ. मे शुद्ध सयम पालने हेतु छः जीवनिकाय का स्वरू पाँच महाव्रतों की विस्तृत जानकारी देने के साथ—साथ यतनापूर्वक चलने, ठहरने बैठने, सोने, भोजन, भाषण करने से पाप कर्म का बन्ध नही होता, सयम साध की प्रथम से अन्तिम चरण सिद्धालय—लोक के अग्रभाग मे शाश्वत स्थित हो का सुन्दर पथ प्रदर्शन है। इसी अध्ययन मे सुगति मिलना किनको दुर्लभ औ किनको सुलभ और वृद्धावस्था में भी संयमाचरण देव या मोक्ष गति का दाय है, इनका भी संकेत है।

(ङ) सयम का निर्वाह शरीर के माध्यम से होता है और उस शरी को टिकाने के लिए आहार आवश्यक है। अतः निर्दोष आहार की गवैषण ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा के नियम पंचम अ. में गुम्फित है। जो आहा दान, पुण्य, याचको, बौद्धादि भिक्षुको और गर्भवती स्त्री के उद्देश्य से निर्मित वह प्रासुक होते हुए भी अग्राह्य है।

(च) संयम की विशुद्धि के लिए निम्न १८ स्थानों की विराधना करने की प्ररूपणा छठे अध्ययन मे है:—

६. (छ) व्रत—पाच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत।

१२. काय छः—पृथ्वीकाय, अप्पकायादि छः कायो की रक्षा करना।

१३. अकल्पनीय पदार्थों को ग्रहण न करना।

१४. गृहस्थ के वर्तनो में भोजन न करना।

१५. पलंग पर न बैठना।

१६. गृहस्थी के आसन पर न बैठना।

१७ स्नान न करना।

१८. शरीर की विभूषा न करना।

(ज) सयमी के लिए निर्वद्य भाषा बोलने की (दोष टाल कर बो की) पूरी विधि सातवे अध्ययन मे कही गई है जिनके पालने से संयमी साध आराधक होकर मुक्त होता है (वचन या भाषा संयम)।

(झ) अष्टम अध्याय मे सयम दूषित न होवे, उसके लिए साधक निद्रा आलसी न होवे, हंसी-मजाक का त्याग, बहुश्रुत मुनि या गुरु के पास बैठने आ

विधि और क्रोध को उपशम भाव से विफल करे, मान को मृदुता से जीते, या को सरलता से नष्ट करे और लोभ को संतोष से वश में करे, ऐसी संयम विशेष आचार प्रणिधि का निर्देशन है ।

(ञ) नवमें अध्ययन में संयम रूप धर्म का मूल विनय है (एवं धम्मस्स णओ मूलं परमो सो मोक्खो ३२-२)। ऐसे विनय गुण का विवेचन, विनय-अविनय भेद, अविनीत को आपदा और विनीत को सुख सम्पदा, पूज्य कौन है उसका रूप और अन्त में विनय, श्रुत, तप और आचार रूप चार प्रकार की समाधि वर्णन है ।

(ट) संयम के आचार-गोचर का पालन करने वाला संयमी भिक्षु होता । उस भिक्षु के लक्षण, हाथ संजए, पाय संजए, सजइन्द्रिय आदि दशम अध्ययन संग्रहीत हैं ।

(ठ) संयम ग्रहण करने के पश्चात् यदि संयमी के मन में किसी प्रतिकूल, नुकूल प्रसंगों के कारण संयम से अरुचि हो जावे तो, वह गृहस्थवास में लौटने पहले निम्न १८ स्थानों पर गम्भीर चितन करे, जिससे उसका मन पुनः संयम दृढ हो जावे। जैसे—अंकुश से हाथी, लगाम से घोड़ा और पताका से नाव सही थ पर आ जाते है (पहली चूलिका) ।

(१) यह दुखमकाल है और जीवन दुखमय है। (२) गृहस्थों के काम-ोग तुच्छ और अल्पकालीन है । (३) इस दुखम काल के बहुत से मनुष्य बडे यावी होते है। (४) जो दुःख प्राप्त हुआ है वह भी चिरकाल तक नही रहेगा। ५) गृहस्थ में नीचजनों की चापलूसी करनी पडती है । (६) गृहस्थावास मे ौटने पर वमन किये हुवे दुबेख भोगों को फिर चाटना पडेगा । (७) गृहस्था-ास में लौटना नर्क गति में जाने के समान हैं । (८) गृहस्थवास मे अचानक ाणनाशक रोग उत्पन्न हो जाते है । (९) गृहस्थवास में धर्म पालना दुष्कर है। १०) गृहस्थ में संकल्प-विकल्प सदा होते रहते है जो अहितकर है । (११) हस्थवास क्लेशयुक्त है और संयम क्लेश रहित हैं । (१२) गृहस्थवास बन्धनयुक्त और संयम मुक्ति है । (१३) गृहस्थवास पापयुक्त है और संयम निष्पाप है । १४) गृहस्थों के काम भोग बहुत साधारण हैं । (१५) प्रत्येक प्राणी के पुण्य-ाप अलग-अलग हैं।(१६) मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग स्थित जल बिन्दु समान अनित्य व क्षणिक है । (१७) निश्चय ही मैने पूर्व में बहुत पाप कर्म कये है जिससे संयम छोड़ने का निन्दनीय विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ । (१८) मिथ्यात्वादि दुष्ट भावों से उपार्जिन पाप के फल को भोगे बिना जीव को ोक्ष नहीं होता । तप के द्वारा उन कर्मो का क्षय होने से जीव मुक्त होता है ।

(ड) दूसरी चूलिका में संयमी के लिए विशेष चर्या का कथन है। पाँचों

इन्द्रियों को सुनियंत्रित कर आत्मा की रक्षा करे, क्योंकि अरक्षित आत्मा जन्म-मरण करती है और सुरक्षित आत्मा सर्व दुखों से मुक्त होती है, गाथा १६।

उत्तराध्ययन सूत्र में—

(क) संयमी मोक्ष अर्थ वाले आगमो को सीखें तथा शेष निरर्थक का त्याग करें, अ. १–८ ।

(ख) कर्मों की निर्जरा हेतु और संयम से च्युत न होने के लिये २२ परिषहो को संयमी समभाव से सहन करे (अ. २) ।

(ग) चार दुर्लभ अंगों में संयम में पराक्रम फोड़ना भी दुर्लभ है, अ. ३–१०।

(घ) कई नामधारी साधु से गृहस्थ (श्रावक) उत्तम संयम वाले होते है परन्तु सभी गृहस्थों से साधु उत्तम एवं शुद्ध संयमी होते है, अध्याय। ४-२०

(ङ) जो पुरुष प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसकी अपेक्षा दान नही देने वाले मुनि का संयम अधिक श्रेष्ठ है, अ. ९–४० ।

जो मास-मासखमण की तपस्या करता है और पारणा में कुश के अग्र-भाग में आवे उतना आहार करता है, उस अज्ञानी के तप से जिनेन्द्र देव से कथित धर्म (संगम धर्म) सोलहवीं कला के वरावर नहीं है अर्थात् कम है गाथा ४४।

(च) दिव्य काम-भोगों को त्याग कर संयमी जीवन का यापन कर मुक्त होने वाले मुमुक्षु जीवों का वर्णन चित्त मुनि का अ. १३ में इक्षुकार राजा आदि छः जीवो का अ. १४ में, संयति राजा का अ. १८ में, मृगापुत्र का अ. १९ में समुद्रपाल का अध्याय २१ में, अनाथी मुनि का अ. २० में, रथनेमि का अ. २ और जयघोप विनय अ. २५ मे हैं। ज्ञाता धर्म कथा मेघकुमार अ. १, शैलकराज ऋषि अ. ५, पुण्डरीक अ. १९ इसी तथ्य के सूचक हैं ।

(छ) चंचल घोड़ों के समान चारों ओर भागते हुए मन को श्रुतज्ञान रूपी लगाम से वांध कर वश करने का कथन अ. २३ गाथा ५५-५६ में हैं। ऐसा सुशिक्षित मन उन्मार्ग में गमन नही करता, (मन संयम) ।

(ज) संयम में सहायक रूप (१) अष्ट प्रवचनमाता (अ. २४), समाचारी अ. २६, मोक्षमार्ग (अ. २८), तपो मार्ग अ. ३० है जिनके प्ररुपित नियम के पालने से संयम विकसित होता है और विशुद्धि की ओर चरण वढते है ।

(झ) असंयम की घातक प्रवृत्तियाँ जिनके सेवन से जीव की अकाल मृत्यु हो जाती है । अध्ययन ३२ मे शव्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की तीव्र आसक्ति का दृष्टान्त क्रमशः हिरण, पतंगा, मछली, भंवरा व हाथी से दिया गया है।

इस अकाल युद्ध का ज्वलंत दृष्टान्त कुंडलिक मुक्ति का (ज्ञाता धर्मदशांग अ. १९) में दृष्टव्य है, जो सिर्फ तीन दिन की भोग आसक्ति के कारण सातवीं नर्क में गये। राग-द्वेष की प्रवृत्तियों में जो सम्भाव रखता है वह संयम का आराधक होता है।

(ञ) अकाल मरण (असंयमी का) सकाम मरण (संयमी का) अ. ५ पापी श्रमण (असंयमी) सभिक्षुक, अनगार (संयमी)अ. १५ और ३५ के तुलनात्मक अध्ययन से साधक को उपादेय मार्ग को ग्रहण करने की और हेय मार्ग को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है।

(ट) संयमी के तीसरे मनोरथ (संलेखना) का विस्तृत वर्णन अ. ३६ में है वह आदरणीय है। गाथा २५०–२५५

उत्तराध्ययन के कुछ विशिष्ट सूत्र इस प्रकार हैं—

१. सपुज्जसत्थे सुविणीयसंसए अ. १-४७ विनीत का पुज्जशास्त्र (ज्ञान) जनता द्वारा पूजनीय–सम्मानीय होता है। उसके सारे संशय नष्ट हो जाते है।

२. अप्पमतो परिव्वए(६-१३)संसार में अप्रमत्त भाव से विचरण करो।

३. चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे (७-२९) अधर्म का त्याग कर धर्मिष्ठ बनो।

४. सव्वेसु काम जाएसु पासमाणो न लिप्पइ (८-४) समस्त कामभोगों में उनके दोषों को देखता हुआ आत्म रक्षक मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

५. समयं गोयम ! मा ममायए (१०-३) पूर्व संगृहीत कर्म-धूलि को तप संयम द्वारा दूर करने में हे गौतम ! क्षण-मात्र का प्रमाद मत करो।

६. धणेण किं धम्मधुसहिरारे (१४-१७) धर्म (संयम रूपी धर्म) को धारण करने में धन का क्या प्रयोजन ?

७. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहि पवन्ना न पुण नवामो (१४-२८) आज ही संयम रूप धर्म को ग्रहण करेंगे, जिसकी शरण लेने के पश्चात् पुनः जन्म धारण करना नही पड़े।

८. अभयदाया भवाहि य (१८-११) हे राजन् ! तुम भी अभय दाता बन जाओ अर्थात् संयम ग्रहण करो।

आचारांग सूत्र में—सुत्ता अमुनि, मुनिणो सया जागरकिर (३-१-१६६) अमुनि सोते रहते हैं और मुनि सदा जाग्रत रहते हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र में—एव खु नाणिणो सारं जं न हिंसई किंचणं (१-११-१०) ज्ञान का सार यही है कि कोई जीव की हिसा न करे।

ठाणांग सूत्र में—

(क) संयम दो प्रकार है—१. सराग संयम और २. वीतराग संयम।
अन्य प्रकार से—१. इन्द्रिय संयम और २. प्राणी संयम।

(ख) संयम तीन प्रकार का—मन, वचन, काय संयम। तीनों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवर्तावें।

(ग) संयम चार प्रकार का—मन, वचन, काया, उपकरण संयम। वस्त्र, पात्रादि अल्पसंख्या में रखना व उनकी कालोकाल प्रतिलेखना करना उपकरण संयम है। इसी तरह से संयम के ५-६ आदि भेद हैं।

(घ) संयम मे स्खलना होने पर उसकी शुद्धि हेतु छह प्रकार के प्रतिक्रमण का विधान है—

१. उचार प्रतिक्रमण—मल विसर्जित कर लौटने पर इर्यापथिक प्रतिक्रमण करना।

२. प्रसवण प्रतिक्रमण—मूत्र विसर्जित कर लौटने पर इर्यापथिक प्रतिक्रमण करना।

३. इत्वरिक प्रतिक्रमण—देवसिय, रायसि आदि काल सम्बन्धी प्रतिक्रमण। ३२ वे आवश्यक सूत्र में इसका विधि-विधान है।

४. यावत्कथित प्रतिक्रमण—मारणान्तिक सल्लेखना के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

५. यत्किंचित प्रतिक्रमण—साधारण दोष लगने पर उसकी विशुद्धि हेतु मिच्छामि दुक्कडं कहकर खेद प्रकट करना।

६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—दुस्वप्न आदि देख कर किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

(ङ) दसम ठाणा में दस प्रकार के श्रमण धर्म जिसमें संयम धारण करने का सातवां भेद है।

भगवतीजी सूत्र में—

शतक २५ उद्देशा ६ व ७ मे पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ (पुलाक, वकुश, कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक) व ५ प्रकार के संयम चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्याता का २६ द्वारों में इनकी जानकारी संग्रहीत है। इनमे संयम के स्थान, संयम के पर्यव व उनकी अल्पावहुत्व, संयम के परिणाम और भव द्वार भी है। सयमी जघन्य उसी भव मे. उत्कृष्ट ८ भव तक आता है। आठवें भव में नियमा मोक्ष जाता है। संयम चारित्र के परिणाम एक भव मे जघन्य एक वार, उत्कृष्ट प्रत्येक सौ वार आते हैं। संयम चारित्र के परिणाम अनेक भवो में जघन्य दो वार, उत्कृष्ट प्रत्येक हजार वार आते है।

समवायांग में—

१७ वें समवाय में १७ प्रकार के संयम की प्ररूपणा है। (१-५ पृथ्वी-

काय से वनस्पतिकाय), ६-९ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संयम, १० वां अजीव ११, प्रेक्षा (वस्त्र पात्रादि उपकरण देखकर, पूंज कर लेवे और रखे) १२, उपेक्षा (अज्ञानियों के अशुभ वचनों की उपेक्षा करना) १३, प्रमार्जन १४, परेठना (मल-मूत्र आदि का उपयोग पूर्वक परठना) १५, मन संयम, १६, वचन सयम और १७ काय संयम ।

संयम के १७ प्रकार दूसरी तरह से—५ आश्रव का त्याग, ५ इन्द्रियों का नियन्त्रण, ४ कषाय का निग्रह और ३ योगों का निरंधन । उपासकदशांग, पणुत्तकोवनाद्धदशा, अन्तराङ्गदशांग देश संयम और पूर्ण संयम के क्रमशः पालन के प्रयोगात्मक शास्त्र हैं ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में—

पाच आश्रव द्वार असयम के है और फिर ५ संवर द्वार संयम के है । प्रथम संवर द्वार अहिसा के ६० नामो में ४१ वां संयम नाम है (मन एवं ५ इन्द्रियों का निरोध व जीव रक्षा) पंचम संवर द्वार में अपरिग्रह व्रत की ५ भावनावों में प्रथम श्रोतेन्द्रिय संयम जाव पांचवे में स्पर्शइन्द्रिय संयम है ।

विपाक सूत्र में—'दुच्चीणा कम्मा, दुच्चीणा फला' असंयमी कैसे दारूण दु.ख भोगते है, इसका रोमांचक वर्णन दुख विपाक में है और संयमी सुखे-सुखे मोक्ष जाता है इसका साक्षी सुखविपाक सूत्र है –'सुच्चीणा कम्मा, सुच्चीणा फला । पन्नवणा के ३० वे, संयम पद में सयत के चार भेद यथा सयत, असंयत, संयतासयत और नो संयत, नो असंयत नो संयतासंयत की प्ररूपणा है ।

२४ दण्डक में २२ दण्डक एकान्त असयत है, तिर्यच पंचेन्द्रिय असंयत और संयतासयत है, मनुष्य मे प्रथम तीन भेद और सिद्धो मे केवल चतुर्थ भेद पाया जाता है ।

उपसंहार—भगवान् महावीर ने फरमाया है कि संयम से आश्रवों का निरोध होता है 'संजमेण अणण्हंत जणयइ उत्तरा. अ. २९ बोल २६ और इसकी परम्परा फल मोक्ष है । ऐसा समझकर भव्य जीवों को अपने लक्ष्य मुक्ति–प्राप्ति हेतु संयम को यथाशीघ्र धारण करना चाहिए, क्योकि संयम समाचारी का सम्यक् रूप से आचरण करने से बहुत से जीव संसार-सागर से तिर गये, वर्तमान में तिर रहे है और भविष्य में तिरेंगे (जं चरित्ता बहु जीवा, तिणा संसार सागरं, उ. २६-५३) ।

—A–८, महावीर नगर, टोंक रोड जयपुर–१५

卐

इस्लाम में संयम की अवधारणा

❀ डॉ. निज़ामउद्दीन

'संयम' के लिए इस्लाम धर्म में 'तकवा' शव्द का प्रयोग किया जाता है, यानि 'संयम' का समानार्थक शव्द 'तकवा' है जिसका अर्थ है परहेज, इन्द्रिय-निग्रह। जो संयमपूर्ण व्यवहार करता है उसे मुत्तकी, जाहिद, तकी (सयमी) कहते हैं। इस्लाम धर्म मे तकवा जीवन के हर पहलू को समाविष्ट किए है। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, वातचीत करना, खरीदोफरोख्त करना, नापतौल, रोजा, नमाज सब जगह मनुष्य को मुत्तकी रहना चाहिए, संयमी वनना चाहिए। रोजा-नमाज हो या हज का फरीजा हो, शादी-व्याह हो या पड़ोसी के साथ वर्ताव करना हो, विना तकवे के, संयम के गाड़ी नहीं चल सकती। जव पैगम्वर मुहम्मद साहव ने फरमाया कि वेहतरीन इस्लाम यह है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की जवान व हाथ से महफूज रहे। इससे जाहिर है कि जव मनुष्य वातें करे तो उसमे किसी को न ठेस पहुंचे, न किसी की हसी-खिल्ली उड़ाई जाए, न झूठ वोला जाए, न फरेव या धोखा दिया जाए। जबान पर कावू रखना चूंकि आसान नही होता, जवान का जख्म तलवार के जख्म से भी अधिक घातक होता है इसलिए जवान पर सयम रखने का आदेश दिया गया है। पैगम्वर साहव का फरमाना है कि ए लोगों! तुम किसी के खुदा को, पैगम्वर को वुरा मत कहो, वे तुम्हारे खुदा को पैगम्वर को वुरा कहेगे। यह है धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्मसद्भाव। आज धार्मिक सहिष्णुता नही है इसीलिए तो जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगों से वेशकीमती जाने खत्म होती है, मनुष्य के खून से मनुष्य के हाथ रग जाते हैं, गली-सड़के रक्तरंजित हो जाती है।

इस्लाम धर्म के जो पाच आधारभूत सिद्धान्त हैं[1] उनमें नमाज का दूसरा दर्जा है। नमाज पढ़ने का हुक्म कुरान में वार-वार दिया है, नमाज पढना और उसे कायम रखना जरूरी है। यह नही कि जव चाहा पढी, जव चाह न पढ़ी। निरन्तर उसे पढ़ना है, पांचो समय पढना है क्योंकि नमाज बुराइयों से वचाती है। खुदा के सामने पाक-साफ होकर हाथ वांधकर मनुष्य जव नमाज पढ़ता है तो वह अपने आपको पापकर्मो से दूर रखता है। वह नमाज क्या जो मनुष्य के आंतरिक मैल को न धो डाले! वह नमाज क्या जो सही गलत की तमीज इन्सान मे पैदा न करे! वह नमाज क्या जो मनमुटाव ईर्ष्या-द्वेष को दूर न करे! नमाज का मकसद मनुष्य को संयम के पथ का पथिक वनाना है। इसी प्रकार 'रोजा' को देखिए। इस्लाम धर्म का यह तीसरा स्तम्भ है। प्रत्येक व्यस्क पर रोजा भी

१ तौहीद, २ नमाज, ३ रोजा, ४ जकात, ५ हज

नमाज की भांति फर्ज है और इसका मकसद जहां खुदा की खुशनूदी हासिल करना है वहां उसके द्वारा मनुष्य में 'तकवा' पैदा करना भी है। कुरान मे स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख किया गया है—"या अय्यु हल्लीना आमनु कुतिवा अलैकुमुस्स्यामु कमा कुतिवा अलल्लजीना मिन कबलिकुम ला अल्लाकुम तत्ताकून" (२,१६२) अर्थात् ए ईमान वालों ! तुम पर रोजे फर्ज किए गए जिस तरह तुम से पहले लोगों पर फर्ज किए गए ताकि तुम परहेजगार बन जाओ। यानि रोजा मनुष्य को परहेजगार बनाता है, मुत्तकी, संयमी बनाता है, आत्मनिग्रही या इन्द्रियनिग्रह बनाता है। केवल दिन भर भूखा-प्यासा रहने का नाम रोजा नही है। रोज़ा नाम है सयम का, इन्द्रियनिग्रह का। जबान का रोजा है कि मुह से किसी को अपशब्द न बोले, किसी की अवमानना न करे। सामने स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यजन भी रखे हों तो उन्हे न खाए, न स्पर्श करे। क्रोध से, घृणा से, कामुकता से किसी पर नजर न डाले। आंखो मे कामासक्ति का रंग चढ़ा हो तो रोजा क्या है ? अपने हाथो पर भी सयम रखे, उनसे कम नापतौल न करे, खाने-पीने की चीजों मे मिलावट न करे, रिश्वत न ले। पैरो पर सयम यह है कि उन्हे कुमार्ग पर न चलने दे।

इन सभी इन्द्रियो का रोजा है, उन्हे सयम मे रखना है। चारित्रिक शुद्धता का महीना है रमजान का, रोजो का महीना। मनुष्य अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए धनार्जन करता है, जीविकोपार्जन करता है, लेकिन इसमे हलाल की कमाई हो, हराम की न हो। सयम से ही धन कमाया गया है। चरस बेचना व्यापार नही। मादकद्रव्यों का कारोबार मनुष्य के लिए कलंक है। शादी-ब्याह मे दहेज लेना-देना अनुचित है, दडनीय है। इस्लाम भी इनकी इजाजत नही देता। हमारे सभी काम धन के द्वारा चलते है, लेकिन धन जमा करना भी मर्यादा में, न्याय की सीमा मे, सयम की रेखा में बंधा हो। संयम की लक्ष्मण-रेखा का जब उल्लंघन होता है तो उस समय न केवल सीता-सात्विक गुणों का हरण होता है बल्कि विनाशकारी युद्ध भी होता है जिसमे रक्तपात होता है। संयम की दौलत जिसके पास है उसे और कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, उसे मुक्ति मिलेगी, जन्नत मिलेगी। कुरान कहता है—

"इन्ना अकरामाकुम इन्दल्लाहि अतकाकुम"

अर्थात् अल्लाह के निकट वही व्यक्ति आदरणीय है, श्रेष्ठ है जो मुत्तकी है, संयमी है, परहेजगार है।

संयमी उसी प्रकार पाप-प्रभावो से, बुराइयों से दूर रहता है जैसे परहेज करने वाला रोगी शीघ्र रोग से मुक्त हो जाता है। वह रोगी जो डॉक्टर द्वारा सुझाए गए परहेज पर अमल नही करता वह कैसे ही अच्छे डॉक्टर से इलाज कराए कितनी ही 'फॉरन' औषधियों का सेवन करे कभी स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। आज हमारे सामने धर्मशास्त्र है, ऋषि-मुनियो, सन्तो-सिद्धों

के मत्र-उपदेश हैं, प्रवचनामृत हैं फिर भी हम दिन-व-दिन पतनोन्मुखी होते जा रहे हैं, होना चाहिए था ऊर्ध्वोन्मुखी ! इसलिए कुरान में दूसरी 'सूरत' (अध्याय) में 'मुत्तकी' वनने का आदेश दिया गया है । कुरान का अवतरण ही इसलिए हुआ ताकि मनुष्य 'मुत्तकी संयमी परहेजगार वन सके, खुदा से डरता रहे—"हुदल्लिल मुत्तकीन ।" कुरान की ४९ वीं सूरत 'अल-हुजुरात'[1] में अनेक वातें ऐसी हैं जो हमारी नैतिकता का मार्ग आलोकित करती हैं । कुरान है ही हिदायत देने वाली मार्गनिर्देशन करने वाली किताव । कुरान में इरशाद है—ए ईमान वालों ! तु आपस में किसी का मजाक न उड़ाओ, किसी पर छींटाकशी न करो, जो कों आपस में लड़ें उसमें सुलह-सफाई करा दो । किसी की निन्दा न करो, न कि के भेद जानने की कोशिश करो, किसी की चुगली करना, पीठ पीछे बुराई कर ऐसा है जैसे अपने ही भाई का मांस खाना । कुरान कहता है कि "जमीन फसाद, उपद्रव मत करो, अल्लाह फसाद, दंगा करने वालों को पसन्द नहीं करत तुम जमीन पर इतराकर मत चलो, अहंकार-मद में मत भूमो, तुम जमीन फाड़ नहीं सकते, न पहाड़ों को हिला सकते हो । यहां मनुष्य के आचरण संयमित करने का सदुपदेश दिया गया है और कुरान उपदेश दे सकता है, दि निर्देशन कर सकता है, डंडा लेकर किसी के पीछे नहीं चल सकता उन्हें सद् पर चलाने के लिए ।

इस्लाम में 'संयम' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है ही जैसे जैनधर्म मे किया गया है । 'तकवा' (संयम) का धात्वर्थ है प करना, वचना है यानि जो वस्तु किसी प्रकार से हानि पहुंचाए उससे अपने वचाना है । पैगम्वर मुहम्मद साहव ने फरमाया कि जैसे रास्ते में कांटों से दामन को कोई वचाकर चलता है वही 'तकवा' है । इस्लाम में तकवा उस को कहा जाता जिसमें अल्लाह की अजमत को तसलीम करते हुए, उसे सर्व सम्पन्न मानते हुए उसके भय का स्मरण रखा जाए । सदैव अल्लाह के कृतज्ञता का भाव रखकर विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाए उसके आदेश कभी अवज्ञा न करे । अत: यतीमो के माल न खाने चाहिए, मां वाप को भी 'उफ' नहीं कहना चाहिए, न उनसे ऊंची आवाज में वात करें, न सूद अपने अहद को—वचन को तोड़ें । इस प्रकार इन सव वुराइयों से वचना है । पैगम्वर मुहम्मद साहव का व्यक्तित्व, उनका समस्त जीवन संयम की स प्रतिमा है । इस्लाम में संयम का विशेष महत्त्व है ।

—इस्लामिया कॉलेज, श्रीनगर-१९०००२ (का

---

१ यहा छः वातों से वचने का साफ आदेश है–(१) मजाक उड़ाना (२) किसी पर रोपण करना, वोहतानतराशी (३) अपशब्दों से सम्वोधन करना (४) गुम छिद्रान्वेषण (६) चुगली, गीवत कराना ।

मसीही धर्म में संयम का प्रत्यय

❀ डॉ. ए. बी. शिवाजी

वर्त्तमान में यह अनुभव हो रहा है कि मानव-मूल्य सभ्यता के क्षेत्र में तन के गर्त में पहुंच चुका है। कोई भी धर्म हो, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों ो शिक्षा देता है किन्तु कितने लोग हैं जो उस आचरण को अपने जीवन में तारते है। क्या कारण है कि मानव उन आदर्शों को अपने जीवन में नही उतार ाते। जहां तक मेरी अल्प बुद्धि की समझ में आता है वह यह कि मनुष्य जीवन । संयम नामक तत्त्व लुप्त हो चुका है अथवा मैं यह कहूं कि भौतिकवाद के भाव से मानव संयम को खो चुका है और इसी कारण आज अधिक हत्याएं, ोरी, व्यभिचार और नाना प्रकार के अपराधों के बारे में सुनने को मिलता है। मस्त धर्म मानव को संयम की शिक्षा देते हैं। आइये हम मसीही धर्म में प्राप्त ंयम के प्रत्ययों का अवलोकन करें।

मसीही धर्म एक व्यावहारिक धर्म है। वह व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करता है। मसीही धर्म केवल एक सिद्धान्त ही नही, व्यावहारिकता है। संयम एक ऐसा प्रत्यय है जो शरीर को आध्यात्मिकता के लिए बलशाली और दृढ बनाता है क्योंकि निर्बल शरीर द्वारा आध्यात्मिकता का वहन नही किया जा सकता। वास्तविक रूप से संयम का अर्थ है अपनी इन्द्रियो को नियंत्रण मे रखना। संयम रखने की प्रथम आवश्यकता मानव के जवान होने पर अधिक होती है। इस कारण मसीही धर्म की प्रथम और महत्त्वपूर्ण शिक्षा यह है कि अपनी जवानी पर संयम रख। अभिलाषाओं का कभी अन्त नही होता। एक अभिलाषा की पूर्ति दूसरी अभिलाषा को जन्म देती है। चाहे धन कमाने की अभिलाषा हो, चाहे नाम कमाने की। यद्यपि यह सही है कि अभिलाषा के बिना मानव विकास नही कर सकता फिर भी कहा गया है कि "जवानी की अभिलाषाओ से भाग" याकूब की पत्री १, १४, १५ में कहा गया है, "प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही अभिलाषा से खींचकर और फंसकर परीक्षा में पड़ता है।" अभिलाषाएं अन्त में मनुष्य का सर्वनाश ही करती हैं।

मनुष्य में सबसे अधिक 'काम' के प्रति अभिलाषा होती है। दस आज्ञाओं में से एक आज्ञा है, **"व्यभिचार न करना"** (निर्गमन २०:१४) अर्थात् संयम रखना किन्तु मानव समय-असमय काम की प्रवृत्ति को संतुष्ट करने में नहीं हिचकिचाता। वह शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूपों से व्यभिचार करता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया जाता है। धार्मिक रूप से ब्रह्मचर्य के पालन की बात कही जाती है क्योकि जो ब्रह्मचर्य का पालन नही करता उसकी उम्र कम

होती हे । अय्यूव की पुस्तक १५, २० मे कहा गया है कि "वलात्कारी के वर्षों की गिनती ठहराई हुई है ।" ब्रह्मचर्य का पालन नही करना, संयम नही रखना ईश्वर एव शरीर से वैर करना है । याकूव की पत्री ४, ३४ में स्त्रियो को सम्वोधित करते हुए लिखा है 'हे व्यभिचारिणीयो ! क्या तुम नही जानती कि ससार (वासना जगत) से मित्रता करना परमेश्वर से वैर करना है ।" यह तथ्य पुरुषों पर भी लागू होता है । असंयम के कारण चेहरों पर तेज नही होता चेहरा मुरझाया हुआ सा होता है । असयम मानव को नैतिकता से दूर कर देता है। मसीही धर्म की विशेषता यही है कि संयम के द्वारा प्रभु यीशु को जाना जावे क्योकि वह स्वयं संयमी था । इस कारण मसीहियों के लिए संयम का स्रोत भी वनता है । पौलुस गलतियों की पत्री ५, २४ में कहता है कि "जो मसीह यीशु के हैं, उन्होंने शरीर को उसकी लालसाओं और अभिलाषाओं समेत क्रूस पर चढ़ा दिया है ।

ऊपर कहा गया है कि व्यभिचार शारीरिक ही नहीं होता, मानसिक भी होता है । मत्ती रचित सुसमाचार मे कहा गया है कि "जो किसी स्त्री पर कुदृष्टि डाले, वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका ।"

पूर्ण संयम और विवाह दोनों दृष्टियों से पौलुस करिन्थ की कलीसियां को कहता है, "मैं अविवाहितों और विधवाओं के विपय में कहता हूं कि उनके लिए ऐसा ही रहना अच्छा है, जैसा मैं हूं । परन्तु यदि वे सयम न कर सकें तो विवाह करें क्योंकि विवाह करना कामातुर रहने से भला है" (१ करिन्थ ७,८,९) यह शब्द इसलिए लिख सका क्योंकि वह स्वयं संयमी था । सयमी व्यक्ति सदैव निर्भीक होता है, वह वीर होता है, कायर नही ।

मानव-जीवन का एक युग होता है और उस युग मे जीवन विताने के लिए मसीही धर्म की शिक्षा यही है कि, "इस युग में संयम, धर्म और भक्ति से जीवन विताए'" (तितुस की पत्री २, १२) संयम से धर्म का निर्माण होता है धर्म से भक्ति प्रस्फुटित होती है और यही वास्तविकता मे मानव-जीवन है । यदि यह तीनो नही, तो मानव जीवन पशु तुल्य होता है जो अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार चलते हैं ।

मसीही धर्म की दूसरी शिक्षा **'जीभ पर संयम'** रखने पर वल देती है । हमारे शरीर मे जीभ एक छोटा सा अंग है किन्तु जीभ की असंयमिता सारे जीवन में उपद्रव फैलाती है । सारे समाज मे विखराव पैदा करती है । याकूव की पत्री ३, ५ में कहा गया है, "जीभ हमारे शरीर का एक छोटा सा अंग है और वड़ी वड़ी डींगे मारती है ।" दुष्ट प्रवृत्ति के लोग अपनी जीभ पर अधिक विश्वास करते हैं, झूठ को सत्य की तरह वोलते है, क्योंकि "वे कहते हैं कि अपनी जीभ से हम जीतेंगे ।" वकीलो का पेशा जीभ पर ही निर्भर करता है । सत्य की जीत वाले को जीवन और झूठ की हार वाले को मृत्यु प्राप्त होती है । कहने का अर्थ या

है कि जीभ के वश में मृत्यु और जीवन दोनों होते है जैसा कि लिखा गया है कि "जीभ के वश में मृत्यु और जीवन दोनो होते है और जो उसे काम में लाना जानता है, वह उसका फल भोगेगा" (नीति बचन १८, २१) क्या हम जीभ को काम में लेना जानते है ? जीभ पर संयम आवश्यक है क्योंकि यह जीभ आग लगाने का कार्य करती है । जीवन का सर्वनाश करती है । यह जीभ जिससे अमृत की वर्षा होती है, वही जीभ जहर उगलती है, मजाक बनाती है । जो जीभ पर संयम नहीं रख सकता वह अधर्मी है । नीति वचन १५, ४ में कहा गया है कि "अधर्मी मनुष्य बुराई की युक्ति निकालता और उसके बचनों से आग लग जाती है ।"

जीभ तलवार का भी कार्य करती है । नीति बचन १२, १८ में कहा गया है कि, " ऐसे लोग हैं जिनका बिना सोच-विचार के बोलना तलवार की नाई चुभता है ।" जीभ के बारे में मैं कुछ पद निम्न रूप से दे रहा हूं ताकि पाठक के समुख स्पष्ट चित्र उभर सके—

१ पतरस ३, १० में लिखा है, "क्योंकि जो कोई भी जीभ की इच्छा रखता है और अच्छे दिन देखना चाहता है, वह अपनी जीभ को बुराई से और अपने होठों को छल की बात करने से रोके रहें ।"

याकूब ३, ६ में कहा गया है, "जीभ भी एक आग है, जीभ हमारे अंगों में अधर्म का एक लोक है और सारी देह पर कलंक लगाती है, भवचक्र में आग लगा देती है और नरक कुण्ड की आग से जलती रहती है ।"

याकूब ३:८ मे लिखा है, "जीभ को मनुष्यों में से कोई वश में नहीं कर सकता, वह एक ऐसी बला है जो कभी रूकती नही, वह प्राण-नाशक विष से भारी हुई है ।"

उपर्युक्त संदर्भ यह बताते है कि जीभ पर संयम रखना मानव जाति के लिए कितना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है ।

मसीही धर्म **'क्रोध पर संयम'** रखने की शिक्षा देता है । क्योंकि मनुष्य जीवन में क्रोध एक प्रवृत्ति है । क्रोध करना मानव का स्वभाव है । जब क्रोध उत्पन्न होता है । तब आंखे लाल हो जाती है, मुठ्ठी बंध जाती है और शरीर मे परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाता है । बैबल के लेखक-महान थे जिन्होंने क्रोध पर संयम रखने की शिक्षा दी । जिस व्यक्ति में क्रोध अधिक होता है, वह अभी तक इंसान नहीं बना । कहा जाता है क्रोध मूर्खों की निशानी है समोपदेशक का लेखक ७:९ में कहता है, "अपने मत में उतावली से क्रोधित न हो, क्योकि क्रोध मूर्खो के हृदय में रहता है ।"

हम ने ऊपर कहा—क्रोध मानव जीवन का स्वभाव है किन्तु मसीही धर्म की शिक्षा यह है कि इतना क्रोध न करो कि पाप हो जावे । पौलुस के शब्द है

क्रोध तो करो, पर पाप मत करो । सूर्य अस्त होने तक तुम्हारा क्रोध जाता रहे।" (इफिसियों की पत्री ४:२६) कुलुसियों की पत्री में कहता है, "क्रोध, रोष, वैर-भाव, निन्दा और मुंह से गालियां बकना, ये सब बातें छोड़" (कुलुसियों ३:८) मानव आचारण में आज असंयमिता घुल-मिल गई है । इसी कारण सभ्यता का विनाश करीब दिखाई पड़ता है ।

आज के युग को तीन प्रकार के उपर्युक्त संयम पालन करना आवश्यक हो गया है ताकि मानव जाति विनाश से बचाई जा सके । मसीही धर्म की वास्तविक शिक्षा यही है कि प्रभु यीशु में बिश्वास कर; मन, वचन और कर्म पर संयम रख उस जीवन को प्राप्त करें जिसे मोक्ष की संज्ञा दी जाती है ।

—प्रोफेसर, दर्शन विभाग, माधव कॉलेज, उज्जैन (म. प्र.)

□

स्वस्थ रहने का राज

❀ प्रेमलता

एक दफा एक बादशाह ने एक नगर के एक बुजुर्ग के पास एक हकीम भेजा । वह साल भर उस नगर में रहा किंतु एक भी आदमी उसके पास इलाज कराने नहीं आया । हकीमजी रोज मरीजों का इन्तजार करते रहते ।

बेचारे हकीम महाशय परेशान ! वह समझ नहीं पाए कि आखिर माजरा क्या है ? अंत में वह बुजुर्ग के पास गया और बोले— "हुजूर, मुझे आपके चेलों का इलाज करने के वास्ते यहां भेजा गया लेकिन अब तक एक भी आदमी ने मुझसे इलाज नही करवाया । बताइए मैं क्या करू"

बुजुर्ग महोदय ने हकीम साहब को आदर सहित बैठाया और फिर उन्हें समझाया—"दरअसल मेरे चेलों की आदत है कि जब तक उन्हें जोरों की भूख नही लगती, वे खाना नही खाते और जब थोड़ी सी भूख बाकी रहती है, वह तभी खाना छोड़ देते हैं ।"

हकीम साहब ने कहा—"वाह, जनाब ! अब समझ में आया कि उन्हे मेरी जरूरत क्यों नही पड़ती । भाई जान, ऐसे तो वे जिंदगी भर बीमार नही होगे । मैं तो चला ।"

हकीम साहब ने अपना सामान उठाया और चल दिए ।

—वार्ड नं. ५, मकान नं. ३४, मुक्ति मार्ग, भवानी मण्डी

शिक्षा और संयम

❀ श्री चांदमल करनावट

शिक्षा का मुख्य आधार है संयम । बिना संयमित जीवन के शिक्षा की उपलब्धि संभव नहीं । चंचलचित्त व्यक्ति शिक्षा कैसे अर्जित कर सकता है ? इसी प्रकार जिसने अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रखा, वह व्यक्ति भी शिक्षा सरलता से नहीं पा सकता । अतः मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर ही कोई व्यक्ति शिक्षा प्राप्ति में सफल हो सकता है । अभिप्राय यह है कि संयमित जीवन शिक्षा-प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है ।

शिक्षा जगत् में संयम का अर्थ अनुशासन से लिया जाता है । आधुनिक समय में व्यवहारवादी मनोविज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा को व्यवहार-परिवर्तन या व्यवहार-परिमार्जन के रूप में परिभाषित किया जा रहा है । इसका अर्थ यह है कि शिक्षा शिक्षार्थी में समाज के अभीष्ट उत्तम व्यवहारों का विकास करती है, जिससे वह समाज का सुयोग्य उपयोगी नागरिक बन सके । शिक्षा विद्यार्थी को शारीरिक एवं मानसिक प्रशिक्षण प्रदान करती है जिससे वह शरीर, मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना सीख जाय । धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी संयम की यही धारणा है । मन, वचन, काया को पापकारी प्रवृत्तियों से बचाकर शुद्ध आचरण में लगाना ही संयम है ।

शिक्षा में संयम या आत्मानुशासन की धारणा :

आधुनिक शिक्षा क्षेत्र में संयम का अर्थ आत्मानुशासन (Selfdiscipline) से लिया जा रहा है । शिक्षा अनुसंधान के विश्वकोश (Encyclopedia of Educational Research 1982) में आत्मानुशासन को आंतरिक एवं बाह्य कारकों की सहायता से व्यक्तियों में आत्मनियंत्रण या आत्मानुशासन का विकास माना गया है, जो उन्हें समाज के योग्य, सक्षम एवं उपयोगी सदस्य के रूप में तैयार करता है । यह आत्म-अनुशासन बिना अन्य के दबाव-दंड आदि के व्यक्ति के द्वारा स्वयं ही स्थापित किया जाता है। आधुनिक शिक्षा शोधकर्ताओं की दृष्टि में अनुशासन-हीनता को केवल प्रशासनिक या प्रबन्धकीय समस्या के रूप में ही न देखकर इसे शैक्षिक समस्या के रूप में लिया जाना चाहिए । दार्शनिक प्लेटो का कथन है कि बालक को दण्ड की अपेक्षा खेल द्वारा नियंत्रित रखना कहीं अच्छा है । पेस्ता-लॉजी के मतानुसार अनुशासन का आधार और नियंत्रण शक्ति प्रेम होना चाहिए । डीवी ने सामाजिक वातावरण की अनुकूलता पर बल देते हुए आत्म-अनुशासन की चर्चा की है । इन दार्शनिकों के अनुशासन संबंधी कथनों में अनुशासन को आत्मानुशासन के रूप में ही स्थापित करने का विधान किया गया है ।

धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र मे सयम के निर्वहन हेतु यद्यपि कुछ प्रायश्चित्त या दण्ड विधान है परन्तु मुख्यतया 'संयम' स्व-अनुशासन या आत्मसंयम का ही द्योतक है ।

शिक्षा-क्षेत्र मे आत्मानुशासन की स्थापना :

यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र मे आत्म-अनुशासन का विकास कैसे किया जाता है । शिक्षानुसधान के विश्वकोश १९८२ के अनुसार समग्र रू मे आत्म-अनुशासन की स्थापना हेतु स्वनिर्देशन (Self direction) और सामाजि दायित्व (Social responsibility) को मुख्यतया स्थान देना चाहिए । इन दोन को ही क्रियान्वित करने से धीरे-धीरे आत्म-अनुशासन का विकास होने लगता और अततोगत्वा शिक्षार्थी स्व-अनुशासित बनते है । शिक्षा-क्षेत्र में हुए विश्वव्या अनुसधानों मे बताया गया है । (Tannre 1978) कि आत्म-अनुशास के विकास की प्रक्रिया को तीन चरणों मे क्रियान्वित करने की आवश्यकता है **प्रथम-चरण**—इसमे विद्यार्थी अध्यापक के निर्देशो को सुनते और उनका पाल करते है । वे आवश्यकतानुसार प्रश्न करते है । अध्यापक प्रश्नों का समाध करते हैं और प्रश्नों को प्रोत्साहित करते है और स्वयं एक आदर्श उदाहरण उपस्थित करते है । **द्वितीय चरण** (रचनात्मक) इसमे विद्यार्थी समूह मे परस सहयोग करते हुए कार्य करते है । दूसरों की भूमिका का निर्वाह करते हैं त न्यायशीलता एव नैतिकता की अवधारणा को समझते हैं । अध्यापक इस प्रव के प्रवधकीय स्वरूप मे कार्य करने सबधी नियमो एव कारणो की व्याख्या क है । **तृतीय चरण** (उद्भावनापरक या Gensature stage) यहां छात्र स्वा इकाई के रूप मे स्वतंत्रता से उत्तरदायी बनकर कार्य करते और किसी नियम कार्यकारी सिद्ध न होने पर अन्य विकल्प काम में लेते हैं । अध्यापक कार्ययोजन के विकास एवं क्रियान्विति मे सहयोग करते हुए उन्हे यथावश्यक सहयोग द है, उन्हे स्वायत्ततापूर्वक कार्य करने मे मदद करते है। इस प्रकार कार्य करने अवसर प्रदान करके उनमे आत्म-अनुशासन या नियमो के स्वत. पालन एवं वस्था आदि का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता ।

जॉन्स एवं जॉन्स (१९८१) ने शोध-निष्कर्ष के रूप मे बताया है सकारात्मक आत्म-अवधारणा (Self concept) की विकास प्रक्रिया मे अग्रसर रहे छात्र आत्म-अनुशासन का विकास करते है । आत्म-अवधारणा का विक मुक्त, सहानुभूतिपूर्ण तथा अनिर्णायिक वातावरण मे संभव होता है । यह वात रण विद्यार्थियो को उनकी अपनी समस्याओ के हल में उनके विचारों एवं भाव की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है ।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियो के विचारों को स्वीकारते हुए उनके परि पर किंचित् सीमाओ के निर्धारण करके, खेलो और संरचित कथनपरक क्रि

ग्रश्नों द्वारा मूल्यों के स्पष्टीकरण से, प्रोजेक्ट या प्रायोजनाएं चलाकर सका-
क वृत्तियों को वातावरण परिवर्तन द्वारा पुष्ट करके आत्मा-अनुशासन के
स हेतु कार्य किए जा सकते है ।

मनोवैज्ञानिक स्किनर के अनुसार दुर्व्यवहार घटित होने का कारण
वरण है । अतः वातावरण को बदलकर पुनः सद्व्यवहार को पुष्ट किया जा
ा है । इसके लिए पुरस्कार, प्रोत्साहन आदि के तरीके अपनाए जा सकते
इसके अतिरिक्त छात्रों के विवेकहीन एवं विचारविहीन विश्वासों को विचार-
विवेकपूर्ण विश्वास में बदला जा सके तो भी उनमें आत्मानुशासन का विकास
सकता है । छात्रों को आत्मप्रकाशन के अवसर देकर उनके विचारों को समझा
सकता है और तदनुसार आत्मानुशासन मे उनको कुछ दायित्व सौंपे जा
ा हैं ।

ये सभी सैद्धांतिक तरीके है जो शोधों के आधार पर सुझाए गए हैं ।
क्रियान्वित करके इनके सफल व्यवहारों को आत्मानुशासन के विकासार्थ
कार किया जा सकता ।

मानुशासन के विकासार्थ अन्य प्रवृत्तियां :

कुछ अन्य प्रवृत्तियां भी आत्म-अनुशासन की स्थापना में सहायक होती
से—**छात्रसंघ** जिसमें छात्र विभिन्न पदों पर रहकर विद्यालय के कार्य संपन्न
ो हैं और आत्म-अनुशासन का विकास करते है । खेल और इसी प्रकार के
कार्य (Team work) जिनमें स्वयं दायित्व ग्रहण कर वे विविध कार्य संभालते
वे उनको सम्पन्न करते हुए नियम पालन, सहयोग, निर्णय आदि अच्छी आदतों
विकास करते है ।

पर्वो, त्यौहारों का आयोजन—इनमें भी दल में रहकर कार्य करते हुए
त ही अनुशासन का पालन करते और आयोजनों को सफल बनाते है ।
.C. और N.S.S. जैसी प्रवृत्तियों के माध्यम से उनमे स्व-अनुशासन का विकास
ा जाता है । **प्रवचन, प्रार्थना, सभा एवं धार्मिक नैतिक शिक्षा से** भी उन्हे आत्म-
शासन की महान् प्रेरणाए मिलती है । **शिक्षक स्वयं अपना** (Model) आदर्श
हार प्रस्तुत कर छात्रों को स्वअनुशासन हेतु प्रेरित करते एवं प्रोत्साहित
ते है ।

क्षक-धार्मिक क्षेत्रों में परस्पर आदान प्रदान :

आत्म-अनुशासन की स्थापना हेतु धार्मिक क्षेत्र की कुछ बाते शिक्षा-जगत
लिए अपनाने योग्य है, जैसे—

(१) संयमधारी साधु-साध्वियों की एक समाचारी की तरह विद्यार्थी वर्ग

समता की साधना

❀ श्रीमती गिरिजा

"समता की दृष्टि बिना ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करना संभव नहीं राजन् ! आप महर्षि कणादि का शिष्यत्व ग्रहण कर समता के दर्शन की व्यावहारिक दीक्षा लीजिए ।" मंत्री ने कहा !

"आपकी राय समयानुकूल है ! मैं महर्षि कणादि के आश्रम जा उनसे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा लेता हूं ।"—राजा उदावर्त ने अपना निश्चय बतलाया।

दूसरे दिन महाराजा उदावर्त कई तरह बहुमूल्य हीरे, रत्न, अन्न धन राशि लेकर महर्षि कणादि के आश्रम में जा पहुंचे । उन्हें प्रणाम करके विपुल धनराशि आश्रम को समर्पित कर, महर्षि से ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने प्रार्थना की ।

महर्षि ने मुस्का कर कहा—"राजन् ! तुम ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु यह बहुत ठीक है । यह धन आश्रम के लिए जरूरी नहीं है इसलिए इसे जाओ । समता का व्यावहारिक ज्ञान करने पर ही तुम्हें ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी सकती है । तुम एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए हर किसी मि जीव जन्तु, वनस्पति में समता की भावना तलाशो ! यह कर सको तो वर्ष बाद आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करने की कोशिश करना ।"

"तो मैं महर्षि कणादि के आश्रम से निराश लौट जाऊं ?"—महा ने पूछ तभी ।

"निराश नहीं, जिज्ञासु बनकर, अन्वेषी बनकर वापिस जाओ ।" म कणादि ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा ।

परन्तु राजमद में चूर उदावर्त को बुरी भी लगी यह बात । गुस्सा आया और निराश भी हुआ । लेकिन चारा भी क्या था ? वे लौट आए वापि

एक दिन उन्हें खिन्न देखकर मंत्री द्युतिकीर्ति ने उनकी परेशानी करने की गरज से समझाकर कहा—"राजन् ! चिन्ता मत कीजिये । महर्षि सब में समता की दृष्टि रखते हैं । आपके ही भले के लिए उन्होंने यह व्यव दी है । आप निराश मत होइए इस व्यवस्था से ।"

"महर्षि ने मुझे ब्रह्मज्ञान का पात्र नहीं समझा ऐसा क्यों, मंत्रीवर

तब मंत्री द्युतिकीर्ति ने उनकी खिन्नता दूर करते हुए कहा—"राजन् ! भूखे को ही अन्न पच सकता है, जिज्ञासुजन को ही ज्ञानार्जन का लाभ मिलता है। महर्षि ने एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत से रहने की शर्त लगा कर आपकी जिज्ञासा प्रवृत्ति को परखा है। यदि आप उनकी कसौटी पर खरे उतरे तो आपको ब्रह्म-विद्या का लाभ अवश्य प्राप्त होगा। जो अधिकारी नहीं होता है उसमें ज्ञान को पहचाने की सामर्थ्य ही नहीं रहती है। मनोरंजन के लिए कुछ कहने में समय की बर्बादी समझकर ऋषि ने लौटाया है आपको। इसे आप अपनी अवज्ञा या कुपात्रता नहीं मानें। बस बात को समझ नहीं पाने का ही चक्कर है यह सब।"

मंत्री की यह बात उदावर्त की समझ में अच्छी तरह आ गई। वे एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे। समता की स्थिति के दूर पक्ष पर अपना व्यवहार परखते रहे।

वर्ष समाप्ति पर वे आध्यात्मिक ज्ञान के अधिकारी बन कर जब फिर से महर्षि कणादि के आश्रम में गए तो ऋषि ने उन्हे छाती से लगा लिया। प्रसन्न हो बोले—"राजन् ! निरहंकारी, धैर्यवान, समता का व्यवहारशील, जिज्ञासु तथा श्रद्धावान ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। अब मैं जो कुछ भी आपको सीख दूंगा उस पर आप गहनता से विचार करेंगे। समभाव की आपको अब जरा भी शिक्षा देने की जरूरत नही है, क्योंकि अब आप उस पर व्यवहार करना सीख चुके हैं।"

महर्षि कणादि से राजा उदावर्त ने ब्रह्मज्ञान पाया और अपने आपके जीवन को धन्य बनाया। समता की जीवन शैली उन्होंने अपने आचरण से प्रजा मे भी विकसित की।

—बी–११६, विजयपथ तिलक नगर, जयपुर–३०२००४

मर्म कथा—

सुख का रहस्य

❀ श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

आखिर पुरुषोत्तम के घर वालों में अंधविश्वास बैठ ही गया। एक अनजान भय से भयभीत हो गये। अजीव आशंकाओं से घिर गये।

बात ही कुछ ऐसी थी। कई-बार नये कपड़े जल जाते थे। उनमें बड़े-बड़े सुराख हो जाते थे।

सभी को यही वहम था कि यह भूत की करामात है। अवश्य इस घर में किसी भूत-प्रेत या पितर का निवास है।

पुरुषोतम के घर मे उसकी झगड़ालू सास, उसकी नकचढ़ी दो बेटियां एक सीधा सादा और डरपोक बेटा और एक गाय के समान सीधी बहू थी—सरला।

सरला बहुत सुन्दर लड़की थी। वह जब इस घर में आयी थी तब पूगल की पद्मिनी लगती थी। उसके हजारों सपने थे। पर बेचारी ससुराल वालों के लिए मनचाहा दहेज नही ला सकी। परिणाम यह निकला कि सास तो सास, उसे दोनों ननदें भी सताने लगी। शुरू-शुरू मे तो उसने विरोध किया। उसे आशा थी कि उसका पति उसके साथ रहेगा। सच का साथ तो सभी देते ही है, पर शीघ्र ही उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। उसका पति अपने घर वालों से अजीव तरह से भयभीत था। यदि सरला ज्यादा कहती तो वह इतना ही फुसफुसाकर कहता, "मैं अपनी मां का अकेला बेटा हूं। भला मै इन्हें कैसे नाराज कर सकता हूं।"

सरला उससे कहती, "आप न्याय और धर्म का साथ भी नही देंगे? मुझे ये लोग व्यर्थ ही सताते रहते है।"

पर उसका पति गणेश तो बबर गणेश ही रहा। वह अपने मां—बाप को नही समझा सका। सरला पर अत्याचार बढते रहे। अब तो उसे बात-बात पर पीट दिया करते थे, उसे पीहर नही भेजते थे, उसे किसी से मिलने-जुलने नही देते थे, कभी कभी तो उसे दंड स्वरूप पति के पास भी नही जाने देते थे। उसे फटे कपड़े व उतारू साड़ियां पहनाते थे।

इस तनावपूर्ण वातावरण में सरला चुप रहती थी। पर उसकी आत्मा और रोम-रोम इन लोगों को दुराशीष देते थे, उसकी आंखें पीड़ा से दहकती रहती थीं मानों वे उन्हें सर्वनाश का शाप दे रही हों।

थोड़े दिनों में ही उस घर मे नये कपड़े जलने लगे । पहले तो सरला पर संदेह किया गया । बाद में उसे रात को एक कमरे में बंद कर देते थे । इस पर भी कपड़े जलने लगे तो वे घबराए । अब नये सिरे से दौड़ धूप शुरू हुई । ओझाओं व तान्त्रिकों को बुलाया गया ।

पर कोई समाधान नही निकला । पडितों, झाड़गरों और तांत्रिकों ने कहा कि कोई भयंकर प्रेतात्मा है । इससे छुटकारा पाना कठिन है ।

'धोबी धोबन से पौच नहीं आये तो गधी के कान खींचे ।' घर वाले बेचारी सरला को ही दोष देते थे । उसका सताना बढ़ता गया ।

गणेश अस्पताल मे जूनियर एकाउन्टेंट था । एक दिन उसने पागलों के डॉक्टर व्यास को अपने घर की इस अजीब स्थिति से परिचित कराया । डॉ. व्यास का माथा ठनका । वे घर गये । सचमुच नये-नये कपड़ों मे कई सुराख थे ।

डॉ. व्यास के लिए यह एक विचारणीय समस्या थी । वे उस पर सोचते रहे । सोचते रहे । उस विषय के सम्बन्ध में पढ़ते रहे । उन्होंने गणेश से घर की छोटी-छोटी बातें पूछी । गणेश ने दुखी मन से बताया कि उसकी पत्नी को वे लोग बहुत सताते है । वह सूख कर कांटा हो गयी है । शायद वह मर जाये ।

डॉ. व्यास के सामने स्थिति साफ हो गयी । वे पाचवें दिन गणेश के घर गये ।

उसका सारा परिवार इकट्ठा हो गया । क्योंकि आज डॉक्टर व्यास इस प्रेत-बाधा का उपाय बताने जा रहे थे ।

डॉक्टर ने उन सब पर निगाह रखते हुए कहा, "मै आपको एक कहानी सुनाता हूं । मोहनपुर के सिंहासन पर जो बैठता, वह पांच-दस साल मे मर जाता था । इससे मोहनपुर के सिहासन पर बैठने वाला डरता रहता था । आखिर मोहनपुर के राजा गिरधरसिह ने सोचा । उसे पता लगा कि सूरतगढ के राजा कम से कम सौ वर्षो तक राज्य करते है । आखिर क्या बात है कि वे सौ वरस राज्य करते है और हम पांच-दस साल । काफी सोच-विचार कर गिरधरसिह ने अपने सौ आदमियो को सूरतगढ के राजा दौलतराम के पास भेजा । उन्हे कहा कि वे इस रहस्य का पता लगा कर आवें । यदि वे उत्तर नही लाये तो सबको जमीन में जिदा गाड़ दिया जायेगा ।

बेचारे एक सौ सैनिक सूरतगढ पहुंचे । उन्होंने राजा दौलतराम को हाथ जोड़-जोड़कर कहा—वे अधिक जीने का रहस्य बताएं । यदि आप नहीं बताएंगे तो हम एक सौ जने व्यर्थ—ही मारे जायेगे ।

राजा दौलतराम ने उन सौ जनों को एक बड़े घर मे ठहरा दिया । उसके सामने एक पुराना पीपल का पेड़ था । उसे दिखाकर कहा—वह हरा भरा पुराना पीपल नही सूखेगा तब तक मैं आपको यह रहस्य नही बता सकता ।

सूचित नहीं करते । असल में संगठन एक संगठित व्यवस्था है न कि विश्रृंखलित वस्तु ।

दुनिया भर की प्रवन्ध व्यवस्था अन्ततोगत्वा इस ऊँच-नीच की व्यवस्था आधारित है । सत्ता और दायित्व का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है यद्यपि 'समता की भावना' (समता दृष्टिकोण) इस प्रकार की प्रबन्ध-व्यवस्था विरुद्ध वगावत कर रही है तथापि यह प्रवन्ध-व्यवस्था के जीवन का कटु सत्य अतः संगठन के प्रवन्ध में समता (दृष्टिकोण)की भूमिका 'दिन दुनी रात चौगु बढ़ती जा रही है ।

एक संगठन खेल के खिलाड़ियों की एक टीम के सदृश है, जो एक अपने लक्ष्य-प्राप्ति में संलग्न रहते है और कप्तान तथा 'कोच' के संरक्षण उत्प्रेरणा में खेल के मैदान में खेलते है । यहां मालिक और मजदूर का सम नही है और न 'काम करने वाले' और 'काम कराने वालो' का अन्तर ही। टीम एकजुट हो कप्तान के नेतृत्व में खेलती है और खेल के मैदान में भेद को भूल जाती है । जव तक ऐसा वातावरण संगठन में उत्पन्न नहीं होता, वा विक कार्य नही हो सकता और लक्ष्य-प्राप्ति भी असम्भव हो जाती है । परिस्थिति मे प्रवन्ध की 'काम करवाने' के रूप में भूतकालीन परिभाषा अप्र यिक हो जाती है । वास्तव में प्रवन्ध तो किसी भी संगठन के विभिन्न घट सुन्दर समन्वय स्थापित कर उनमें निरन्तर कार्यशीलता या गतिशीलता उ करने का नेतृत्व-गुण है । अतः प्रवन्ध में समता (समानता) दृष्टिकोण को कार किये विना संगठन का कुशल प्रवन्ध करने में कठिनाई होगी इसलिए में समता की भूमिका अपरिहार्य है ।

समता, साम्य, समानता मानव जीवन एवं मानव समाज का श दर्शन है । आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनैतिक या जिक सभी का समता लक्ष्य है क्योकि समता मानव मन के मूल में है ।

मानव-मानव मे ऊँच-नीच की भावना को छोड़कर सहृदय व्यवहार 'समता' है । अर्थात् समता का अर्थ समानता की भावना से है ।

भगवान् महावीर ने भी समता का सिद्धान्त दिया । उन्होने कह सभी आत्माएँ समान हैं, सभी को जीने का अधिकार है, कोई भी किसी की सुविधा का अपहरण नही कर सकता । सभी को समान रूप से जीने का कार है । 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को जीवन में अपनाने से अव समता-रस की प्राप्ति हो सकती है । समता सिद्धान्त नया नहीं है, जिन प्र वचन है व जैन दर्शन का मूलाधार है ।

परम पूज्य आचार्य श्री नानेश ने समता के लिए कहा है कि—'स व्यक्ति मान-अपमान, हानि-लाभ, स्वर्ण-पत्थर, वन्दक-निन्दक इतना ही नही

ार के प्राणियों को आत्म-दृष्टि से देखता है।' समता भाव अपने प्रति ही नहीं,
के प्रति होना चाहिये। उसमें छोटा-बड़ा, छूत-अछूत जांत-पांत आदि का भेद
ीं होना चाहिये। समता-व्यवहार में वह शक्ति है जो दुनिया के किसी अस्त्र-
त्र में, हाइड्रोजन या न्यूट्रान बम में नहीं है। इसीलिये समता को विश्व-शांति
जननी कहा जाता है।

कालमार्क्स जैसे चिंतकों ने भी विश्व को आर्थिक क्षेत्र में समता का
देश दिया जिससे पूंजीवाद की नींव हिल गई। पूंजीवाद के विरुद्ध कई
ाठन बने। परिणाम-स्वरूप प्रबन्ध के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण-मानवीय
ेदना-का विकास हुआ जिससे प्रबन्ध में समता की भूमिका को महत्त्व मिलने
ा।

प्रबंध के क्षेत्र में 'समता-दृष्टिकोण' पर हेनरी फैयोल ने बल दिया और
न्ध का एक सिद्धान्त दिया—'समता'—समता के सिद्धान्त से आशय कर्मचारियों
साथ समानता, न्याय व दयालुता का व्यवहार करने से है। समता का स्थान
ाय से भी ऊँचा होता है। न्याय तो केवल नियम, कार्यविधि, परम्परा आदि
 लागू करने तक ही सीमित होता है जबकि समता न्याय के साथ-साथ 'सहृदयता'
 भावना से भी ओतप्रोत होती है। प्रबन्धकों को कर्मचारियों के साथ समता
 व्यवहार करना चाहिये। इससे प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के बीच विश्वास
 स्थापना होती है तथा कर्मचारियों की निष्ठा का स्तर ऊँचा बढ़ता है। न्याय
र मैत्रीभाव से समत्व की भावना उत्पन्न होती है। अनुभव, करुणा और
द्धिक सतर्कता से ये भाव उत्पन्न होते हैं। समता तथा व्यवहार की समानता
ब की आकांक्षा होती है। संगठन में इसको स्थापित करने से लोग निष्ठावान
नते है।

आधुनिक व्यावसायिक युग में जटिलताएं बढ़ती जा रहीं हैं और व्यव-
ाय स्थानीय सीमाओं को लांघ कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना बिगुल बजा
हा है, ऐसे समय में कंठछेदी प्रतिस्पर्धा व्यावसायिक क्षेत्र में बढ़ती जा रही है
ससे औद्योगिक समाज में हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव, हिसा, उपद्रव, मारपीट,
त्या, लूटपाट आदि बढ़ रहे है और औद्योगिक अशान्ति बढ़ती जा रही है। इस
स्थिति मे प्रबन्ध एवं समता का महत्त्व इन समस्याओं के निराकरण में दृष्टि-
ोचर होता है।

प्रबन्ध मानव श्रम को संचालित करता है और मानव श्रम भौतिक
ाधनो को। यदि मानव का पूरा विकास किया जा सके और ऐसा विकसित
ानव अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करे तो उद्योग में उत्पादन वृद्धि हो सकती है।
ादि मनुष्य पूर्ण क्षमता से कार्य करता है, तो अन्य भौतिक तत्त्व, यन्त्र इत्यादि
ी पूर्ण क्षमता से कार्य करेंगे, क्योकि वे मनुष्य की सक्रियता पर निर्भर रहते

(२) विद्यालय में होने वाली प्रवृत्तियों, क्रियाओं को सोद्देश्य बनाया जाय और उनमें सक्रिय भाग लेने के अवसर प्रदान किये जावें—सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, शारीरिक गतिविधियों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धाएँ आयोजित हों और उनके लिए प्रोत्साहन दिया जाता रहे ।

(३) ऐसे संस्कार शिविरों का आयोजन हो, जहां पूरे दिन की जीवनचर्या का आदर्श रूप में पालन किया जाय/कराया जाय ।

(४) आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्तियों का समय-२ पर सम्पर्क किया जाता रहे ।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन करके उसे अध्ययन, चिन्तन-मनन के लिए उपलब्ध कराया जावे ।

(६) दैनिक सौम्य प्रार्थना सभाओं व प्रवचनों का आयोजन किया जाता रहे ।

(७) समय-समय पर जीवन मूल्यों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करके और प्रशंसनीय कार्य करने वालों को प्रोत्साहित किया जाता रहे ।

(८) सदाचार, सद्व्यवहार- डायरी की व्यवस्था की जावे, जिसमें शिक्षार्थी स्वयं खुले दिल से अपने कार्य व्यवहार की नोंध करें और उन पर विराम के समय चिन्तन–मनन करें । आवश्यकतानुसार उनमें शोधन करें ।

(९) योजनाबद्ध ढंग से कुछ अच्छे संस्कारों पर सप्ताह आयोजित करके अभ्यास देना भी लाभप्रद होता है जैसे:—नमस्कार सप्ताह, सफाई सप्ताह, अनुशासन सप्ताह, श्रमदान सप्ताह, योगासन सप्ताह, सेवा सप्ताह आदि ।

(१०) जीवन मूल्यों को प्रतिस्थापित करने वाले पाठ पाठ्य पुस्तकों में अधिक जोड़ें जाने चाहिये और उनको शिक्षण काल में विशेष बल देकर पढ़ाया जाये, जिससे सात्विक वृत्तियों को वल प्राप्त हों ।

(११) जीवन मूल्यों से सम्वन्धित विशेष कार्यक्रम समय-२ पर आयोजित किये जाते रहने चाहिये ।

(१२) ऐसी छोटी-२ पुस्तकें, जिनको आचार-संहिता नाम से संबोधित किया जा सकता है, शिक्षार्थियों में वितरित की जायें और उस पर प्रयोगात्मक चर्चा समय-समय की जावे ।

ऐसे ही अनेक कार्यक्रम हो सकते हैं, जिनके द्वारा आचरण शुद्धि के सम्वन्ध में विशेष वल दिया जा सके । यदि आचरण में शुद्धि आने की बात

म्भव हो गई तो निश्चय है आत्मा में संयम के अंकुर प्रस्फुटित होने लगेंगे। चपन में यदि ये संस्कार घर कर गये तो निश्चय है कि पूरे जीवन भर इनका ड़ा प्रभाव रहेगा और व्यक्ति एक सुनागरिक, सुसंस्कारी मानव और आत्म-चिन्तन की दिशा में सहज रूप से, अग्रसर हो सकेगा। आत्म-संयम का मूल मन्त्र यही है।

—बी-८१, राजेन्द्रमार्ग, बापूनगर, जयपुर

सुख और शांति का राज

❀ राज सौगानी

एक बार गुरुनानक भ्रमण करते हुए एक गांव में ठहरे। रात में सत्संग के बाद सभी ग्रामवासी चले गए। गुरुनानक ध्यानमग्न बैठे रहे।

अचानक एक सत्रहवर्षीय कन्या सकुचाती हुई उनके सामने उपस्थित हुई। गुरु का ध्यान भंग हुआ तो उसे देखकर उन्होंने कोमल स्वर में पूछा—'बेटी तुम कौन हो? क्यों आई हो?'

कन्या ने रोते हुए बताया कि उसके पिता उसका विवाह साठ वर्ष के एक धनी वृद्ध से करने जा रहे हैं जो पहले ही सात विवाह कर चुका है। उसकी चार पत्नियां अब भी जिन्दा हैं। उसने इस अन्याय और अत्याचार से रक्षा की प्रार्थना की, ताकि उसका जीवन नष्ट होने से बच सकें।

गुरुनानक ने उसके सिर पर हाथ रखा और बोले—"बेटी! तू अपने घर जा। जो कुछ मुझसे हो सकेगा करूंगा।' दूसरे दिन प्रातःकाल उस गांव के नरनारी गुरुनानक को विदा करने आए। उन्हीं में वह साठवर्षीय वृद्ध भी था। सभी को आशीर्वाद देने के बाद गुरुजी ने उस वृद्ध को एकांत में बुलाकर कहा—"भाई, तुम धन वैभव से सम्पन्न हो, फिर भी तुम सुखी व सन्तुष्ट नहीं दिखाई देते। क्या यह ठीक है?"

"हां गुरुदेव, लाख कोशिश करने पर भी मैं सुखी नहीं हो पाया, मेरा चित्त अशांत रहता है, मेरी कामनाएं अधूरी रहती है कृपया मुझे और शांति का उपाय बताएं।" गुरुनानक ने कहा—'इच्छाओं को वश में करो, मन को जीतो और संयम से रहो।' वृद्ध की मोह-निद्रा भंग हो गई और उसने विवाह करने का विचार छोड़ दिया।

—स्टेशन रोड़, भवानीमण्डी (राज०)

उत्तर:—संयम से जीव आश्रव का निरोध करता है।

प्रश्न :—सौन्दर्य का पूर्ण मात्रा में भोग करने के लिए संयम की आवश्यकता
उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तर:—रवीन्द्रनाथ टैगोर ने।

प्रश्न :—प्रति मास हजार-हजार गायें दान देने की अपेक्षा कुछ भी न देने व
संयमी का आचरण श्रेष्ठ है।
उपर्युक्त विचार किस शास्त्र से लिए गए है ?

उत्तर:—उत्तराध्ययन सूत्र (६/४०)

प्रश्न :—'जो अपने ऊपर शासन नहीं करेगा, वह हमेशा दूसरों का गुला
रहेगा।'
उपर्युक्त विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तर:—महाकवि गेटे ने।

प्रश्न :—व्यावहारिक जीवन में संयम के विना हम स्वस्थ नहीं रह सकते। यह
कथन किस प्रकार सही है ?

उत्तर:—जीवन मे स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिए संयम की आवश्यकता है।
यदि कोई खाने में संयम नहीं रखता तो रोगों का घर जम जाता है
यदि कोई बोलने मे संयम नहीं रखता तो कलह या लड़ाइयां छि
जाती है।

प्रश्न :—मन का संयम क्या है ?

उत्तर:—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन मन का संयम है।

प्रश्न :—किन-२ कारणों से मनुष्य संयम में पुरुषार्थ नही कर पाता है ?

उत्तर:—(१) यौवन का उन्माद (२) धन की अधिकता (३) सत्ता की प्राप्ति
(४) वासनाओ की ऊपरी रमणीयता (५) अविवेक जन्य पुनर्जन्म में
अविश्वास।

प्रश्न :—श्रावकजी मधुर बोले, कम बोले। कार्य होने पर बोले कुशलता से बोले
उपर्युक्त सब बातें हमे किस ओर संकेत करती है ?

उत्तर:—हमें वचन (भाषा) संयम की ओर संकेत करती है। अर्थात् हमें भाषा
का संयम रखना चाहिए।

प्रश्न :—वाणी तो संयत भली, संयत भला शरीर।
जो मन को संयत करे, वही संयमी वीर।
उपर्युक्त दोहे में कवि ने संयम के बारे में क्या कहा ?

उत्तर:—वाणी पर संयम रखना भला है। इन्द्रियों एवं शरीर पर भी संयम

रखना आवश्यक है लेकिन सच्चा संयमी वही है जो अपने मन को संयत करता है।

प्रश्न :—'प्रभुता पाई काही मद नांही' उपर्युक्त सूक्ति का अर्थ बताइये ?

उत्तर :—वह मनुष्य देवतुल्य है जिसमें प्रभुता पाकर भी घमंड नहीं होता। प्रभुता की प्राप्ति होने पर संयम के मार्ग में विवेक को दुरुस्त रखना बहुत कठिन हैं।

प्रश्न :—'स्थानांग सूत्र' में संयम के कितने भेद किए गए हैं ?

उत्तर :—स्थानांग सूत्र में संयम के ५ भेद किए गये हैं—१. सम्यक्त्व संवर, २. विरक्ति संवर, ३. अप्रमाप संवर, ४ अकषाय संवर, ५. अयोग संवर।

प्रश्न :—मानव जीवन में अच्छे कार्य करने के लिए किन पर संयम रखना आवश्यक है ?

उत्तर :—मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर के अंगोपांग आदि पर।

प्रश्न :—आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' में संयम के कौन से भेद बतलाए हैं?

उत्तर :—हिंसा आदि पांच आश्रवों का त्याग, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय तथा मन, वचन, काया रूप तीन दण्डों (अशुभ योग प्रवृत्ति) से निवृत्त होना। ये संयम के १७ प्रकार है।

प्रश्न :—सिद्ध अरिहन्त में मन रमाते चलो, सब कर्मों के बंधन हटाते चलो।
इन्द्रियों के न घोड़े विषयों में अड़े, जो अड़े भी तो संयम के कोड़े पड़ें।
तन के रथ को सुपथ पर चलाते चलो। सिद्ध अरिहन्त में........
उपर्युक्त स्तवन के रचयिता कौन हैं ?

उत्तर :—कवि रसिक।

प्रश्न :—संयम तब तक ही संयम है, जब तक सम का योग सही है।
सम का योग नहीं तो यम है, यम में सहजानन्द नहीं है॥
उपर्युक्त कविता किसने लिखी ?

उत्तर :—उपाध्याय अमरमुनिजी ने।

प्रश्न :—संयम सुखकारी, जिन आज्ञा अनुसार
(तर्ज—अब होवे धर्म प्रचार, प्यारे भारत में)
संयम सुखकारी, जिन आज्ञा के अनुसार॥ संयम॥
धन्य पाले जे नर नार॥ संयम॥
सुखकारी आनन्दकारी, धन्य जाऊं मैं बलिहार॥१॥
कर्म-मैल ने शीघ्र हटावे, आतम ना गुण सब प्रगटावे।
जन्म-मरण ना दुःख मिटावे, होवे परम कल्याण॥२॥

परम औषधि संयम जाणो, तीन लोक नो सार पिछाणो ।
शुद्ध समझ हृदय में आणो, अनुपम सुख की खान ॥३॥
उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तरः—बहुश्रुत पंडित श्री समरथमलजी म.सा. ।

प्रश्न :—"अन्धे के पुत्र अन्धे ही तो होते है ।"
ये शब्द किसने कहे तथा इसका क्या परिणाम निकला ?

उत्तरः—द्रौपदी ने दुर्योधन को ये शब्द कहे तथा जिससे महाभारत का भीषण
युद्ध हुआ ।

प्रश्न :—'संयमः खलु जीवनम्' इसका अर्थ बताइये ?

उत्तरः—संयम ही जीवन है ।

प्रश्न :—तंदुल मत्स्य के कौन से असंयम के कारण उसे मरकर सातवीं नरक में
जाना पड़ा ?

उत्तरः—मन का असंयम ।

प्रश्न :—पशु आज भी लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व जिस स्थिति में था, आज भी
वैसी स्थिति में है । इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—पशु मे संयम की शक्ति विकसित नहीं है । उसमें 'सेल्फ कन्ट्रोल' की
क्षमता नहीं है । इसी कारण उसका विकास नहीं हो सका ।

प्रश्न :—कछुए की मूर्ति को शंकर के मन्दिर में रखने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तरः—यह इस बात का निर्देश करता है कि यदि तू शंकर अर्थात् सुख चाहता है,
उसके दर्शन करना चाहता है अपने मन, वचन, काया और इन्द्रियों को
समेट कर रख ताकि बाह्य भय अर्थात् जो इन्द्रियों के विषय तुझ पर
छाये रहते है, उनसे तू मुक्ति पा सके । यहां कछुआ स्पष्ट कह रहा है
कि हे मानव ! तू भी मेरी भांति संयमित रहेगा तो शंकर (मुक्ति)
की प्राप्ति कर सकेगा ।

प्रश्न :—भगवान महावीर ने कहा कि इस संसार में चार परम अंग दुर्लभ है
वे कौन से है ?

उत्तरः—१. मनुष्यत्व २. श्रुति ३. श्रद्धा ४. संयम में पुरुषार्थ ।

—८६ ओडीयाप्पा नायकन स्ट्रीट, मद्रास-६०००१

संयम साधना के जैन आयाम

❀ श्री उदय नागौरी

आत्मलक्षी जैन धर्म मे संयम का शीर्षस्थ स्थान एवं विशेष महत्त्व है।
न उन्नयन की इस पद्धति मे सम्यक् चारित्र से मुक्ति के द्वार अनावृत्त होते
ह मानकर चारित्र का मूलाधार संयम बताया गया है। धर्म को सागार धर्म
अणगार धर्म में विभाजित करते हुए स्पष्ट किया गया है कि श्रावक श्राविका
धर्म आगार सहित (स+आगार) एवं श्रमण श्रमणी का धर्म बिना आगार
(अ+आगार=अणगार) का है। अन्य शब्दों में कहें तो अणगार को महाव्रत
एवं श्रावक को अणुव्रत का पालन करना पड़ता है अर्थात् एक ओर तीन
। तीन योग से व्रत पालन का विधान है तो दूसरी ओर दो करण तीन
का।

वर्तमान आणविक युग मे सुख-सुविधाओं का अम्बार होने पर भी मानव
सिक पीड़ा, संत्रास, तनाव एवं समस्याओं से ग्रसित एवं भ्रमित है। वह जूझ
हैं जीवन-मूल्यों से और संघर्ष रत है शांति की चाह में। यह स्थिति वैयक्तिक
पर ही नही वरन् सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक है। यदि
समस्त समस्याओं का कारण जानना चाहे तो एक ही अर्थात् संयम का
ाव है और सबका निराकरण संयम से संभव है।

जैन साधना-पद्धति प्रथम दृष्टि में दमन की क्रिया प्रतीत होती है परन्तु
तुतः इसमें विश्लेषण की प्रक्रिया से पांच समिति, तीन गुप्ति, इन्द्रिय संयम
कषाय निरोध पर जोर दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन
"शरीर माहो नाव" कहते हुए बताया गया है कि संसार-समुद्र से पार पाने
लिए शरीर एक नौका के समान है परन्तु इसके छिद्र रहित होने पर ही भव-
ागर के पार पहुंचना संभव है। अर्थात् इसमें पांच इन्द्रियों के माध्यम से
र कषाय एवं तीन गुप्ति के छिद्रो को बन्द करने पर ही हमें सफलता की प्राप्ति
ी है।

म के लक्षण :

स्थानाग सूत्र (स्था. ५ उ. २ सूत्र ४२९-४३०) मे सयम की परिभापा
ाते हुए कहा गया है कि सम्यक् प्रकार सावध योग से निवृत्त होना या आश्रव
विरत होना संयम है। "सम्यक् यमो वा संयमः" अर्थात् सम्यक् रूप से यमन
नियन्त्रण) करना ही संयम है।[1] अन्य शब्दों मे कहा जा सकता है कि व्रत,

---

[1] जैन सिद्धान्त कोश भी. ४ पृ. १३७.

समिति, गुप्ति आदि रूप से प्रवर्तना अथवा विशुद्ध आत्म भाव में प्रवर्तना स
है । इसे भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । अन्य प्राणियों
रक्षा करना प्राणी संयम एवं इन्द्रियों के विषयों से विरत होना-इन्द्रिय सं
है ।[1]

संयम : रूप एवं प्रकार :

संयम के चार रूप बताते हुए कहा गया है—

चउव्विहे संजमे—मण संजमे, वइ संजमे, काम संजमे, उवगरण संजमे

अर्थात् संयम के चार रूप है—मन का सयम, वचन का संयम, क
का संयम और उपधि-उपकरण का संयम । इसे यों भी कहा जा सकता है
मन, वचन, काया की अशुभ क्रियाओं का निरोध एवं उपकरण का परिहार
है । लेकिन वस्तुतः संयम है गर्हा अर्थात् आत्मालोचन, जैसा कि भगवती
(१/६) में कहा गया है—

गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे ।

इस सूत्र गहराई मे जाने पर ज्ञात होता है कि गर्हा की स्थिति
आ सकती है जब हम शरीर और आत्मा को पृथक् मानें—

अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं ।[3]

इसी को दृष्टिगत रखकर कहा गया है कि समता से अन्तर्मुख
अपने को पापवृत्तियों से दूर रखने हेतु आत्मा को शरीर से पृथक् जान कर
शरीर को धुन डाले—

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीर गं ।

संयम के उपरोक्त चार उप के अतिरिक्त इसके सत्रह भेद भी निम्न
बताये गये हैं:—

१-५-हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह रूपी पांच आस्रव
विरति ।

६-१०-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत-इन पांच इन्द्रियों को
विषयों की ओर जाने से रोकना ।

११-१४-क्रोध, मान, माया एव लोभ रूप चार कषायों को छोड़
१५-१७-मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन द
विरति ।[6]

---

१. जैन सिद्धान्त कोश भी. पृ. १३६.
२. स्थानांग सूत्र स्था. ४ उद्देशा २ सूत्र.
३. सूत्र कृतांग सूत्र. २/१/६
४. स्थानांग सूत्र ५/१/३६६
५. प्रवचन सारोद्धार द्वार ६६ गाथा ५५५.
६. जै. सि. बोल संग्रह भा. ५ पृ. ३९५.

श्रमण धर्म (अणगार) का पालन करनें वालों के लिए (तीन करण तीन योग) संयम के निम्नलिखित सत्रह भेद हरि भद्रीमावश्यक (अ. ४ पृ. ६५१) र्णित हैं—

१—५—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजाकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय की ो भी प्रकार हिंसा न करना।

६—९ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का किसी भी प्रकार हनन रना।

१०—अजीव संयम-अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के ग्रहण से असंयम है उन्हें न लेना अजीव संयम है। जैसे स्वर्ण, चांदी, शस्त्र पास में न रखना पुस्तक, पत्र और पात्र आदि उपकरणों की पडिलेहणा करते हुए यतना पूर्वक ा ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रखना।

११—प्रेक्षा संयम—बीज, हरीघास, जीवजन्तु से रहित स्थान में अच्छी से देखकर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं प्रेक्षा संयम है।

१२—उपेक्षा संयम—पाप कर्म में प्रवृत्त होने वाले को एतदर्थ प्रोत्साहित रते हुए उपेक्षा भाव बनाये रखना।

१३—प्रमार्जना—संयम—स्थान, वस्त्र, पात्र आदि को पूंजकर कार्य में लेना।

१४—परिष्ठापना संयम—शास्त्रानुसार आहार, वस्त्र, पात्र आदि को यतना त परठना।[1]

१५—मन संयम—मन में ईर्ष्या, द्रोह अभिमान न रखना।

१६—वचन संयम—हिंसाकारी कठोर वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना।

१७—काय संयम- गमना गमन तथा अन्य कार्यो में काया की शुभ प्रवृत्ति ा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयम की समाचारी श्रमण वर्ग के लिए ाकृत कठोर है। चूंकि उनका पूर्ण जीवन संयम को समर्पित है और उन्हें व्रतों का पालन तीन करण तीन योग से करना पड़ता है अतः उनके लिए ो भी प्रकार की छूट या आगार का प्रावधान नही है। श्रावक वर्ग के लिए संयम की उपयोगिता कम नही; भले ही उनका पूर्ण जीवन श्रमणवत संयम ोत प्रोत न हो।

संयम—

मनुष्य को मनन का साधन मन तो मिला है परन्तु इसकी चंचलता उसे

इसे समवायाग सूत्र मे अपहत्य संयम कहा गया है। (समवा १७)

वाहर के विकार उसे वेचैन किये रहते हैं । ऐसो स्थिति में वह भीतर कुछ और वाहर कुछ होता हुआ वनावटी जीवन जीता है । यह जीवन चूंकि असहज होता है अत: राग-द्वेप से ग्रस्त हो क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे विकारो के जाले में उलझता हुआ दुराचारों की ओर गतिमान होता रहता है । अत: अच्छा जीवन जीने के लिये समभाव की साधना वहुत आवश्यक है । समभाव की यह साधना आदमी के भीतर का, आत्मा का, अध्यात्म का भाव है । यह भाव ज्यों-ज्यों परिपक्व होता जाएगा, त्यों-त्यों सवके प्रति उसको समदर्शिता वढ़ती जाएगी। समदर्शिता का यही भाव समता भाव है और इसी भाव से शांति का अजस्र उदधि फूट पड़ता है ।

समता दर्शन का महत्त्व सभी धर्मों, सम्प्रदायों, महापुरुषों, संतों, भक्तों, साहित्यकारों, पंडितों और मनोषियों ने प्रतिपादित किया है ।

'समता' शव्द समानता की भावना का द्योतक है । समानता की यह भावना अच्छी-वुरी, अनुकूल-प्रतिकूल जैसी भी परिस्थिति हो उसमें समभावी बने रहना है । इस स्थिति में न दुःख सताता है, न सुख उल्लास देता है । वह न किसी को छोटा समझता है, न किसी को वड़ा । वह न किसी से घृणा करता है और न किसी से प्यार । आचार्य कुंदकुंद ने मोह ओर क्षोभ से रहित ऐसे ही समत्व भाव को धर्म कहा है । लगभग ऐसी हो व्याख्या वाद के अन्य आचार्यों ने की है । महावीर स्वामो ने श्रमण वनने के लिये समता भाव को वड़ा महत्त्व दिया और 'चरित्तं समभावो' कहकर समभाव को ही चारित्र की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि इंद्रिय ओर मन के विपय रागात्मक मनुष्य के लिये दुःख के हेतु वनते हैं । वोतराग के लिये वे तनिक भी दुःखदायी नहो होते । उन्होंने श्रमण, साधक और वीतराग को सदा समता का आचरण करने का उपदेश दिया ।

आचार्य हरिभद्रसूरि तो यहां तक कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, वुद्ध हो या अन्य कोई समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है ।

आचार्य नानेश ने परिग्रह को समता का सवसे वड़ा शत्रु माना और कहा कि इसमे धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा आदि सभी का समावेश हो जाता है । साधक को चाहिये कि वह इससे दूर रहे और संयमित वनता हुआ अपनी विकृतियो का दमन कर समता की साधना करे ।

श्रीमद् जवाहराचार्य ने वताया कि वास्तविक शांति तो मनुष्य के अपने भीतर है । समता की वाती से वह अपनी आत्मा को यदि प्रकाशित किये रहेगा तो वह कभी अशांत नहीं होगा । ऐसा करने से जव उसकी आत्मा निष्कलंक वन जायगी तव उसका अंतःकरण समता की सुधा से आप्लावित रहेगा ।

गीताकार श्रीकृष्ण ने कहा कि जिसकी बुद्धि में समता की प्रतिष्ठा है वह परम समतावादी है। ऐसा व्यक्ति राग और द्वेष दोनों से ऊपर उठा हुआ त्यागी और सन्यासी है। वह सबको समभाव से देखता है चाहे वह विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण हो अथवा गाय हो, हाथी हो, कुत्ता हो या कि चांडाल हो। जिसका मन ऐसी समता मे स्थिर हो चुका होता है वही परम शांति का धारक होता है।

इसी विचार को लेकर कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि समता और विश्व-शांति दोनों ही एक प्रकार से आदर्श है। भौतिक रूप से न समता संभव है न विश्व-शांति। जिस संसार में हम रहते आये है और जो मनुष्य हमें दिखाई दे रहा है उसमें कही समभाव और शांति नजर नहीं आती। यथार्थ में तो हमें यही लगता है कि कोई भगवान भी चाहे तो समता और विश्व-शांति को मूर्त्त रूप नहीं दे सकता। कहना तो यह चाहिये कि स्वयं भगवान भी अपने भक्तों पर आश्रित है। यदि भक्त उसकी सेवा-पूजा और आराधना-प्रतिष्ठा न करे, यश-गाथा न गाये, सामाजिक-संस्कारों और दिन-प्रतिदिन के जीवन-चक्र में उसकी मानता को न स्वीकारे तो कौन उसे भगवान कहेगा और कैसे उसका अस्तित्व बना रहेगा? यदि भगवान सामर्थ्यवान है तो उसके सारे भक्त शुद्धाचारी और पुण्यकर्मी क्यों नहीं बनते पाये जाते है? क्या कारण है कि उसके दरबार में ऐसे लोगों की ज्यादा भीड़ लगी रहती है जो मनुष्य-मनुष्य के प्रति भी स्नेहशील विचार और व्यवहार लिये नही होते अपितु वे शोषण और अत्याचार के ही संरक्षक और संवाहक पाये जाते हैं?

दूसरी और डॉ. नेमीचन्द जैन समता को मनुष्यता का पर्याय मानते हुए समता-समाज को वर्ग-भेद रहित समाज की स्थापना का सांस्कृतिक सूत्रपात मानते है। उनका कहना है कि समत्व कोई काल्पनिक स्वर नही होकर ठोस सत्य है जिसे हमारे तीर्थंकरों ने शताब्दियों पूर्व आकार दिया था। समत्व एक ऐसा क्रांतिकारी सूत्र है जिसको जीवन मे उतारते चले जाने पर समाज मे कोई नगा, भूखा, प्रताड़ित और अशांत रहे, यह असंभव है।

अहिंसा को समत्व की धात्री बताते हुए डॉ. जैन ने स्पष्ट किया है कि ऐसा नहीं है कि हम किसी का खून करे तो ही हिंसा हो। अधिक आहार करना, अधिक कपड़ा पहनना, अधिक परिग्रही होना भी हिंसा है और यदि इसका और सूक्ष्म विश्लेषण करे तो क्रोध आदि भी हिंसा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम विसंगतियों के मूल पर अपना ध्यान केंद्रित करें। क्रोध घटकर इतना कम रह जाय कि हम उसकी अनुभूति ही न कर पाये। वैर मैत्री में बदल जाय। मान सबका सम्मान बन जाय। लोभ लाभ मे बंट कर समत्व और शांति का कारण बन जाय। यह सब जब हो जायगा तब विश्व शांति की कल्पना यथार्थ होने लगेगी।

४. वह नीरोग हो तथा कुशाग्र बुद्धि हो ।

५. जिसने संसार की क्षणभंगुरता का भली-भांति प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो ।

६. जो संसार से विरक्त होने का दृढ़निश्चय कर चुका हो ।

७. जिसके कषायों तथा नो कषायों का उदय मन्द हो ।

८. जो माता–पिता तथा गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता है तथा उनके उपकार को मानता हो ।

९. जो अत्यन्त विनीत हो । दीक्षार्थी का विनीत होना इसलिये आवश्यक है कि जैन धर्म का ही नहीं, किसी भी धर्म का आधार ही विनय है।

१०. दीक्षार्थी का राज्य से या राज्याधिकारियों से किसी प्रकार का विरोध न हो । राज्य विरोधी व्यक्ति को दीक्षा प्रदान करने से धर्म की तथा गुरु की अवहेलना होने की भावना बनी रहती है ।

११. दीक्षार्थी वाक्कलह करने वाला या धूर्त्त तथा चालाक न हो । दीक्षार्थी का सरल-स्वभावी तथा निष्कपट होना परमावश्यक है ।

१२. जिसके सभी अंग-अवयव पूर्ण हों, वह सुडोल तथा स्वस्थ हो ।

१३. दीक्षार्थी दृढ़ श्रद्धा वाला हो ।

१४. जो स्थिर स्वभावी हो अर्थात् एक बार दीक्षा स्वीकार कर लेने पश्चात् यावज्जीवन उसे निर्दोष रूप से पालने में समर्थ हो ।

१५. जो अपनी स्वयं की तीव्र इच्छा से दीक्षा के लिये गुरु के समक्ष उ स्थित हो ।

१६. जिस पर किसी प्रकार का ऋण न हो और जो सदाचारी हो । युक्त गुणों से युक्त मुमुक्षु दीक्षा धारण कर सकता है ।

शुभ तिथि, करण तथा शुभ मुहूर्त में 'करेमि भंते' के पाठ के शब्दो रण द्वारा वह जीवन पर्यन्त का (यावत्कथिक सामायिक) सामायिक व्रत करके सर्वतोभावेन जैन शासन को अथवा अपने गुरु को समर्पित हो जाता यावत्कथिक सामायिक व्रत को ग्रहण करने के साथ ही उसके सांसारिक–पा रिक सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाते है । अब वह छह महाव्रतों—पांच म तथा छठा रात्रि–भोजन का त्याग को धारण करने वाला साधु कहलाता है

दीक्षित जैन साधु में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं — मूलगुण उत्तरगुण । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन महाव्रतों का करना तथा यावज्जीवन के लिये रात्रि भोजन (अशन, पान, खाद्य तथा स का त्याग करना साधु के मूल गुणों में गिना जाता है । दीक्षित साधु स्वयं

समता-साधना के हिमालय

❀ श्री मोतीलाल सुराणा

भगवान ने फरमाया
सरल है चलना
तलवार की धार पर,
पर कठिन है बहुत
संयम–साधना,
सरल है चवाना
चने, मोम के दांत से,
पर कठिन है
संयम–साधना ।

धन्य हैं वे जो
निरंतर लगे हैं
वीर के कहे अनुसार
संयम–साधना में,
वीर के वतलाये मार्ग पर
कठोर क्रिया पालन के साथ,

आज के आराम के युग में
वहुत कठिन काम
संयम–साधना का,
हिमालय तो देखा नहीं
न पास से, न दूर से,
पर संयम–साधना के
हिमालय को देखा
कई वार पास से, दूर से,
गत पचास वर्षों से ।

देखा आचार्य नानेश को
रत संयम–सामना में,
ज्ञान–ध्यान–क्रिया में।
इस शुभ प्रसंग पर
यही शुभ भावना
क्रम यह चलता रहे
आगामी सौ-सौ साल तक ।

—१७/३, न्यू पलासिया, इन्दौर–४५२

प्रशंसा की भावनाओं को लेकर ही तप किया जाय । मात्र कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही तप करना चाहिये ।

इसका अभिप्राय यही है कि तपश्चर्या केवल कर्मों की निर्जरा अर्थात् कर्म-वंधन से मुक्ति की भावना हेतु ही की जानी चाहिये । तपस्या के जो बारह भेद बताये गये है उनमें एक अनशन भी है । परन्तु यदि कोई तपस्वी आत्मा इस एक भेद को भी आडम्बरों का निमित्त बनाती है तो वह अनुचित ही है, चाहे उस की गई तपस्या से कर्म कुछ हल्के हो सकते है किन्तु उन आडम्बरो से तो नवीन कर्मवंध की ही संभावना मानी जा सकती है ।

प्रश्न–६. क्या तपश्चर्या के लिये भूखा रहना आवश्यक है ?

उत्तर—तपश्चर्या के लिए भूखा रहना ही आवश्यक नही है । प्रभु महावीर ने बारह प्रकार का तप प्रतिपादित किया है । अनशन, उसमें पहला तप है । जिसमें उपवास, वेला, तेला आदि तपानुष्ठान लिये जाते है, जिसमे निराहार रहना होता है । पर यह निराहार भी सम्यक्त्व के साथ कषाय (क्रोध-मान माया-लोभ) के उपशमन पूर्वक होना चाहिये । जिस आत्मसाधक से यह तप सम्भावित न हो, उसके लिए अन्य ग्यारह तपों का वर्णन भी किया गया है। भूख से इच्छापूर्वक कम खाना भी तप है । जो मानसिक वृत्तियां विभाव में भटक रही है उन्हें रोककर स्वभाव में नियोजित करना भी तप है । खानपान के रस पर समभाव रखना, दूसरों की निंदा में रस नहीं लेना, सांसारिक विषयो में रस नही लेना, स्त्री कथा, भक्त अथा, देश एवं राज कथा जैसी विकथाओ मे रस नही लेना, सांसारिक विषयों मे रस नही लेना भी तप है । सम्यक् साधना करते हुए, सेवा-वैयावृत्य करते हुए या अन्य किसी आत्मसाधक के प्रसंगों पर होने वाले कायक्लेश मे समभाव रखना भी तप है । जो इन्द्रियाएं, विषयो के पोषण की ओर भाग रही हैं, उन्हें सम्यक् ज्ञानपूर्वक आत्मलीन बनना भी तप है। इसी प्रकार अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए प्रायश्चित लेना, गुरुजन एव गुणवान व्यक्तियों के प्रति यथोचित सम्मान के भाव रखना, उनकी शारीरिक, मानसिक, वाचिक दृष्टि से वैयावृत्य (सेवा)करना, शास्त्राभ्यास करना, स्वयं की गल्तियो को देखना स्वात्म चिन्तन करना, वीतराग महापुरषों के जीवन चरित्र का अहोभावपूर्वक ध्यान करना, अपने शरीर से मोहभाव हटाकर [illegible] होना आदि भी तपश्चर्या हैं । आत्मसाधक इनमें यथानुकूल तप करता [illegible] कर सकता है ।

प्रश्न–७. आज जल, वायु [illegible] तत्त्व स्वयं रहे हैं और पर्याव[illegible] संकट बढ़ समस्या के निवारण [illegible] जाना चाहि[illegible]

उत्तर—वैज्ञानिक एवं तकनीकी [illegible] नियन्त्रित

तो चारों ओर प्रदूषण का विस्तार किया है। यह विस्तार दो क्षेत्रों में एक साथ हो रहा है।

एक ओर कोयला, तेल, पेट्रोल, डीजल आदि के जलने से, सड़कों पर टायरों के घिसने के कारण वैसी गंध हवा में फैलने से युद्धस्त्रों के प्रयोग से बारूदी विस्फोटों के धमाके होने से विविध भांति की किरणों और तरंगों के ताप से, वायुयानों आदि से हद बाहर ध्वनि के फूटने से, परमाणु परीक्षणों के विषैले प्रभाव से, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहणों के खगोलीय उपद्रवों, कल-कारखानों से निकलने वाले विषाणुओं के विस्तार से और इस प्रकार के अनेकानेक कारणों से जो प्रदूषण फूटता है, उसके विषैले वातावरण का शारीरिक क्रियाओं पर भयंकर प्रभाव होता है और कई तरह की विषम समस्याएं पैदा हो जाती है।

दूसरी ओर मानसिक एवं आत्मिक प्रदूषण भी उसी अनुपात में बढ़ता रहता है जो स्वस्थ विकास की जड़ों पर ही कुठाराघात कर देता है। इसे स्वयं से उत्पन्न प्रदूषण कहा जा सकता है। ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, घमंड, चिन्ता, तनाव आदि की उत्पत्ति भी अधिकांशतः इसी वैज्ञानिक प्रगति की देन होती है। यह विकार बाहर से फूट कर भीतर में फैल जाता है। जीवन में सर्वत्र असन्तुलन की उपज इसी वैज्ञानिक प्रगति के प्रदूषण से सामने आई है।

किसी भी समस्या का सम्यक् रीति से निवारण करना है तो पहले उसके कारणों को खोजना चाहिये। कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। जरासी भी बारीकी से देख तो पर्यावरण प्रदूषण के कई कारण साफ तौर पर ज्ञात हो सकते है, यथा—

(१) **उद्योगों का दुष्प्रबन्ध**—कई प्रकार के रासायनिकों एवं अन्य पदार्थो के उद्योगों की स्थापना एवं व्यवस्था पर्यावरण सन्तुलन को नजरन्दाज करके की जाती है। घातक तत्त्व भूमि पर या नदी नालों में बहा दिये जाते है अथवा धुआ आदि के रूप में चिमनियों से आकाश में उड़ाये जाते है, फलस्वरूप भूमि, जल एवं वायु सभी प्रदूषित हो जाते हैं। एक प्रकार से प्रदूषण सारे वातावरण में फैल जाता है जो सभी जीवो को हानि पहुंचाता है अतः उद्योगों का दुष्प्रबन्ध दूर किया जाना चाहिये। भोपाल गैस कांड आदि अनेक घटनाएं इस दुष्प्रबन्ध का ही परिणाम है।

(२) **जीव हिंसा के प्रयोग**—कई ऐसे दुष्ट प्रयोग किये जाते हैं जिनके द्वारा जीवों की हिंसा होती है। ऐसे प्रयोगो से भूमि अशुद्ध बनती है तथा वायु-मण्डल में भी विकार फैलते हैं। इनसे अन्ततः पर्यावरण प्रदूषित होता है अतः ऐसे प्रयोग रोके जाने चाहिये।

(३) **वन-विनाश**—पर्यावरण को असन्तुलित बनाने का एक प्रमुख कारण निहित स्वार्थियों द्वारा वनों का विनाश करना भी है। हरे-भरे वनों को

प्रशंसा की भावनाओं को लेकर ही तप किया जाय । मात्र कर्मो की निर्जरा करने के लिए ही तप करना चाहिये ।

इसका अभिप्राय यही है कि तपश्चर्या केवल कर्मो की निर्जरा अर्थात् कर्म-वंधन से मुक्ति की भावना हेतु ही की जानी चाहिये । तपस्या के जो बारह भेद बताये नये है उनमें एक अनशन भी है । परन्तु यदि कोई तपस्वी आत्मा इस एक भेद को भी आडम्वरों का निमित्त वनाती है तो वह अनुचित ही है, चाहे उस की गई तपस्या से कर्म कुछ हल्के हो सकते है किन्तु उन आडम्वरो से तो नवीन कर्मवंध की ही संभावना मानी जा सकती है ।

प्रश्न–६. क्या तपश्चर्या के लिये भूखा रहना आवश्यक है ?

उत्तर—तपश्चर्या के लिए भूखा रहना ही आवश्यक नहीं है। प्रभु महावीर ने वारह प्रकार का तप प्रतिपादित किया है । अनशन, उसमें पहला तप है । जिसमें उपवास, वेला, तेला आदि तपानुष्ठान लिये जाते है, जिसमे निराहार रहना होता है । पर यह निराहार भी सम्यक्त्व के साथ कपाय (क्रोध-मान माया-लोभ) के उपशमन पूर्वक होना चाहिये । जिस आत्मसाधक से यह तप सम्भावित न हो, उसके लिए अन्य ग्यारह तपों का वर्णन भी किया गया है। भूख से इच्छापूर्वक कम खाना भी तप है । जो मानसिक वृत्तियां विभाव में भटक रही है उन्हें रोककर स्वभाव में नियोजित करना भी तप है । खानपान के रस पर समभाव रखना, दूसरों की निदा में रस नही लेना, सांसारिक विषयो मे रस नही लेना, स्त्री कथा, भक्त अथा, देश एवं राज कथा जैसी विकथाओ मे रस नही लेना, सांसारिक विषयो में रस नही लेना भी तप है । सम्यक् साधना करते हुए, सेवा-वैयावृत्य करते हुए या अन्य किसी आत्मसाधक के प्रसगों पर होने वाले कायक्लेश में समभाव रखना भी तप है । जो इन्द्रियाएं, विषयों के पोषण की ओर भाग रही है, उन्हे सम्यक् ज्ञानपूर्वक आत्मलीन वनना भी तप है। इसी प्रकार अपने अपराधो को स्वीकार करते हुए प्रायश्चित लेना, गुरुजन एवं गुणवान व्यक्तियों के प्रति यथोचित सम्मान के भाव रखना, उनकी शारीरिक, मानसिक, वाचिक दृष्टि से वैयावृत्य (सेवा)करना, शास्त्राभ्यास करना, स्वयं की गल्तियो को देखना स्वात्म चिन्तन करना, वीतराग महापुरषो के जीवन चरित्र का अहोभावपूर्वक ध्यान करना, अपने शरीर से मोहभाव हटाकर आत्मलीन होना आदि भी तपश्चर्या है । आत्मसाधक इनमे यथानुकूल तप करता हुआ कर्म-निर्जरा कर सकता है ।

प्रश्न–७. आज जल, वायु आदि शुद्धिकारक तत्त्व स्वयं अशुद्ध होते जा रहे हैं और पर्यावरण प्रदूषण का संकट बढ़ रहा है, तब इस समस्या के निवारण हेतु क्या किया जाना चाहिये ?

उत्तर—वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति तथा अनियन्त्रित भोगलिप्सा ने

चारों ओर प्रदूषण का विस्तार किया है । यह विस्तार दो क्षेत्रों में एक साथ हो
है ।

एक ओर कोयला, तेल, पेट्रोल, डीजल आदि के जलने से, सड़कों पर
ारों के घिसने के कारण वैसी गंध हवा में फैलने से युद्धस्त्रों के प्रयोग से
रूदी विस्फोटों के धमाके होने से विविध भांति की किरणों और तरंगों के
प से, वायुयानों आदि से हद बाहर ध्वनि के फूटने से, परमाणु परीक्षणों के
षैले प्रभाव से, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहणों के खगोलीय उपद्रवों, कल-कारखानों से
कलने वाले विषाणुओं के विस्तार से और इस प्रकार के अनेकानेक कारणों से
ो प्रदूषण फूटता है, उसके विषैले वातावरण का शारीरिक क्रियाओं पर भयंकर
भाव होता है और कई तरह की विषम समस्याएं पैदा हो जाती है ।

दूसरी ओर मानसिक एवं आत्मिक प्रदूषण भी उसी अनुपात में बढ़ता
हता है जो स्वस्थ विकास की जड़ों पर ही कुठाराघात कर देता है । इसे स्वयं
से उत्पन्न प्रदूषण कहा जा सकता है । ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, घमंड, चिन्ता, तनाव
आदि की उत्पत्ति भी अधिकांशतः इसी वैज्ञानिक प्रगति की देन होती है । यह
विकार बाहर से फूट कर भीतर में फैल जाता है । जीवन में सर्वत्र असन्तुलन
की उपज इसी वैज्ञानिक प्रगति के प्रदूषण से सामने आई है ।

किसी भी समस्या का सम्यक् रीति से निवारण करना है तो पहले
उसके कारणों को खोजना चाहिये । कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता ।
जरासी भी बारीकी से देख तो पर्यावरण प्रदूषण के कई कारण साफ तौर पर
ज्ञात हो सकते है, यथा—

(१) **उद्योगों का दुष्प्रबन्ध**—कई प्रकार के रासायनिकों एवं अन्य पदार्थों
के उद्योगों की स्थापना एवं व्यवस्था पर्यावरण सन्तुलन को नजरन्दाज करके की
जाती है । घातक तत्त्व भूमि पर या नदी नालों में बहा दिये जाते हैं अथवा
धुआं आदि के रूप में चिमनियों से आकाश में उड़ाये जाते है, फलस्वरूप भूमि,
जल एवं वायु सभी प्रदूषित हो जाते हैं । एक प्रकार से प्रदूषण सारे वातावरण
में फैल जाता है जो सभी जीवों को हानि पहुंचाता है अतः उद्योगों का दुष्प्रबन्ध
दूर किया जाना चाहिये । भोपाल गैस कांड आदि अनेक घटनाएं इस दुष्प्रबन्ध
का ही परिणाम है ।

(२) **जीव हिंसा के प्रयोग**—कई ऐसे दुष्ट प्रयोग किये जाते हैं जिनके
द्वारा जीवों की हिंसा होती है । ऐसे प्रयोगों से भूमि अशुद्ध बनती है तथा वायु-
मण्डल में भी विकार फैलते है । इनसे अन्ततः पर्यावरण प्रदूषित होता है अतः
ऐसे प्रयोग रोके जाने चाहिये ।

(३) **वन-विनाश**—पर्यावरण को असन्तुलित बनाने का एक प्रमुख
कारण निहित स्वार्थियों द्वारा वनों का विनाश करना भी है । हरे-भरे वनों को

उजाड़ देने से वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा तो होती ही है किन्तु उससे वर्षा आदि के न होने से जीवों के संरक्षण में भी व्यवधान पहुंचता है जबकि वन्य जीव पर्यावरण का सन्तुलन निबाहने में बड़े मददगार होते हैं। इस दृष्टि से वनों एवं वन्य जन्तुओं का संरक्षण किया जाना चाहिये।

(४) **जल का अशुद्धिकरण**—इस युग में लोगों की जीवन शैली कुछ ऐसी अविवेकपूर्ण बन गई है कि केवल जल का दुरुपयोग ही नहीं किया जाता बल्कि नाना प्रकार से जैसे मैला बहाकर, गटर डालकर शव फेंककर बहते या भरे जल को अशुद्ध बना दिया जाता है। इससे जल अशुद्ध एवं रोगकारक बन जाता है। यह अपकाय को जीव हिंसा तथा अन्य प्राणियों की शरीर हानि का कारण बनता है। जल शुद्धि के विविध उपाय आज के वैज्ञानिक युग से अदृश्य नहीं है। पानी की व्यर्थ बरबादी पर सबसे पहले रोक लगानी चाहिये।

(५) **ध्वनि-प्रदूषण**—वाहनों, ध्वनि विस्तारक यंत्रो अथवा कल कारखानों आदि का शोर इतना बढने लगा है कि पर्यावरण को बिगाड़ने मे ध्वनि-प्रदूषण भी मुख्य बन रहा है। इस सम्बन्ध में कई उपायो से शांत वातावरण को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

पर्यावरण को दोषमुक्त एवं संतुलित बनाये रखना स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक है।

प्रश्न—८. आध्यात्मिक साधना करने वाला व्यक्ति केवल स्वकल्याण तक ही सीमित रह जाता है, उसे समाज कल्याण की ओर किस प्रकार अपना कर्त्तव्य निभाना चाहिये ?

उत्तर—आध्यात्मिक साधना के वास्तविक स्वरुप को चिन्तन में लेने एवं तस्युत्पन्न अनुभूति को जीवन मे समग्रतया स्थान देने की नितान्त आवश्यकता है। मानव की सद्वृत्तियां किस प्रकार से सामाजिक लाभ-हानि का कारण बनती हैं, उसको जानने से आध्यात्मिक साधना के सामाजिक सन्दर्भ का स्पष्टीकरण हो सकता है।

सूक्ष्म रुप से देखे तो मानव की आंतरिक वृत्तियां हिंसा, झूठ, चोरी परिग्रह आदि दुर्गुणो से ग्रस्त होकर स्व के साथ पर जीवन को भी दूषित बनाते है। एक आत्मा की आंतरिक अशुद्धि अनेकानेक आत्माओं की सम्पर्कगत अशुद्धि का कारण बनती है और तब ऐसी अशुद्धि प्रगाढ होकर सम्पूर्ण समाज के वातावरण को विकृत बना डालती है। वही सामाजिक विकृत वातावरण फिर व्यापक रुप मे उस विकृति को बढावा देता है। इस प्रकार एक आत्मा की आध्यात्मिक-हीनता सारे समाज की नैतिकता को छिन्न-भिन्न कर डालती है।

ठीक इसके विपरीत इसी प्रकार एक आत्मा द्वारा साधी जाने वा

८

ात्मिक साधना एक से अनेक को सुप्रभावित करती है तथा अन्ततोगत्वा समाज की गतिशीलता को नैतिकता, विशुद्धता एवं उन्नति की ओर मोड़ है। व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना भी इस रूप में सारे समाज को प्रभा- करती है और करती है अपने सामाजिक कर्त्तव्य का सम्यक् निर्वहन।

सांसारिक व्यामोह से आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होना कार्य नहीं होता है। जीवन-व्यवहार में जब दुष्वृत्तियां एवं दुष्प्रवृत्तियां सेला बांधकर निरन्तर चलती रहती हैं तो उससे आन्तरिक एवं बाह्य प्रदू- छा जाता है। प्रवचनों, उपदेशों एवं प्रेरणापूर्ण सामग्री के माध्यम से जब प्रदूषण को रोकने की सीख दी जाती है तब मानवीय मूल्यों से अनुप्राणित ाओं में एक विरल जागृति का संचार होता है और वही जागृति उन्हें ात्मिक साधना की जीवन-यात्रा मे प्रवृत्त बनाती है, अतः यह मानना चाहिये प्राध्यात्मिक साधना की प्रेरणा भी व्यक्ति एवं समाज की परिस्थितियों से ाप्त होती है। इस दृष्टि से भी इस साधना का सामाजिक आधार एवं प स्पष्ट होता है।

आध्यात्मिक साधना जहां व्यक्ति के बाह्य एवं आँतरिक प्रदूषण का ा करती है, वहां सामाजिक समस्याओं के समाधान का द्वार भी खोल देती तव व्यक्ति एवं समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बन जाता है तथा आध्या- क साधना इन सम्बन्धों को निरन्तर विकसित बनाती रहती है। इसे दूसरे ों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आध्यात्मिक साधना की चरम अवस्था ज-कल्याण के कर्त्तव्य निर्वहन में ही प्रतिफलित होती है।

प्रश्न—६. बहुधा देखा जाता है कि धार्मिक क्रियाओं में रचा-पचा व्यक्ति दोहरा जीवन जीता है, इसका क्या कारण है? उसे अपने जीवन के रूपांतर के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—वास्तव में धार्मिक जीवन कैसा हो—इस विषय का ज्ञान अन्त- तापूर्वक होना चाहिये। जीवन का सच्चा रूपांतरण ही तो धार्मिक बनाता है, तु जब ऊपर से धार्मिक क्रियाओं को करने वाले पुरुष को ही धार्मिक मान की दृष्टि बन जाती है, तभी भ्रान्त धारणा का जन्म होता है। किसी की तरिकता में झांककर निर्णय लेना सरल नही होता और जब ऊपरी धार्मिक ाएं (जिन्हें भावपूर्ण नहीं कह सकते) करने वाले लोग समाज में सम्मान, ा, और प्रतिष्ठा पाने लगते है तो धार्मिक क्रियाओं की गहनता अस्पष्ट रह ती है। ऐसी धार्मिक क्रियाओं को करने वाले ही दोहरा जीवन जी सकते हैं, ना सच्चे धार्मिक पुरुष का जीवन तो सदा ही स्पष्ट, एकरूप और स्वस्थ होता क्योंकि उसकी धार्मिक क्रियाओं की आराधना में आत्मशुद्धि का भाव एवं ाव सर्वोपरि होता है।

प्रश्न–१२. आपको दीक्षा लिये ५० वर्ष बीत गये हैं। पहले वैरागी, फिर साधु, फिर युवाचार्य और अब आचार्य—इस बदलते परिवे में आपको कैसा-कैसा अनुभव हुआ ?

उत्तर—मेरे हृदय मे वैराग्य भाव जागृत हुआ उससे पहिले साधु जीवन के प्रति मेरी कोई रुचि नही थी। यही खयाल था कि व्यापार, धंधा या खेती आदि से जीवन-निर्वाह के योग्य बनना है, किन्तु संसार की विभिन्न क्रियाओं के बीच भी पतिक्रिया रूप भाव तो उभरते ही हैं। उनके पीछे अमुक परिस्थितियां भी रहती हैं।

अल्पायु में मेरे पिताश्री का देहावसान होगया। साथ ही विद्यालयी शिक्षा भी अवरूद्ध हो गई। मुझे ध्यान है कि उस समय की शिक्षा का सामान्य पाठ्यक्रम भी बड़ा प्रभावी था। उससे मन-मस्तिष्क के विकास में बड़ी सहायता मिलती थी। मेरा अनुभव है कि उससे भी मेरी बुद्धि का विकास हुआ, साहस की मात्रा में वृद्धि हुई तथा चिन्तन-मनन की अभिरुचि प्रखर बनी। मैंने एक वार छः आरो का वर्णन सुना। उसके पश्चात् भादसोड़ा से भदेसर घोड़े पर बैठकर जाते समय बीच के वनखड में चिंतन उभरा कि आत्मा और परमात्मा क्या है? आत्मा की शक्ति कैसे बढ़ सकती है ? क्या परमात्मा का कही दर्शन भी हो सकता है ? आदि आदि। और इसी निरन्तर चिन्तन से मेरे हृदय मे वैराग्य भाव का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। उस समय मुझे परमात्मा की कल्पना भी होने लगी और अपनी भूलो की तरफ भी ध्यान जाने लगा। मै अपनी आत्मालोचना में ज्यो-ज्यो डूबता गया, त्यों-त्यों मेरा वैराग्य भाव अधिकाधिक मुखर होने लगा।

मैंने विचार किया कि मै अपनी माता के धार्मिक कृत्यो मे भी बाधाएं डालता रहा हूं, क्यो नही उसका अनुसरण करके अपने जीवन को भी धार्मिक बना लूं ? इस प्रकार अनेकानेक बाते सोचता हुआ मै रो पड़ा—और कई बार एकान्त में रोता ही रहता था। ऐसी ही अवस्था मे एक बार मै माताजी के पास पहुंचा। कंठ तो रूंधा हुआ था ही, प्रायश्चित के स्वर में बोलने लगा: माताजी, मै कैसा हूं जो आपको साधु-सतियो के यहां जाने से टोकता हूं, सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएं नही करने देता हूं ? यह मेरी बड़ी गलती है, किन्तु अब मैं आत्मा और परमात्मा पर सोचने लगा हूं, अब ऐसी गलती न करूंगा। मै स्वय आपको सन्तो के पास ले जाऊंगा जो जीवन-सुधार की अच्छी शिक्षाएं देते हैं। मेरे मुख से ऐसे भाव सुनकर मेरी माता को आश्चर्य हुआ और आनन्द भी। उन्हे चिन्ता भी हुई कि कही मै वैरागी तो नहीं बन गया हूं ! और सचमुच मेरी वह अवस्था वैरागी की ही हो गई थी और मन ही मन मैंने साधु बनने की ठान ली थी।

मन मे सदा परमात्मा का चिन्तन चलता रहता था और बाहर

ो खोज में घूमता रहता था। मैं एक साधु के पास जाता, उनसे शिक्षा
करता और जब मुझे योग्यतर साधु के दर्शन होते तो मैं उनके पास चला
। इस प्रकार कई साधुओं के समीप रहने का मुझे अनुभव मिला, परन्तु
तरह से आत्म-सन्तुष्टि नहीं मिली। घर पर मेरा मन बिल्कुल नहीं लगता
और इसी धुन में इधर-उधर घूमता फिरता था। इसी क्रम में मैंने आचार्य
हरलालजी म. सा. के विषय में सुना कि वे खादी पहिनते है तथा भावप्रवण
न दिया करते है। मेरे मन को लगा कि जिनकी मुझे अब तक खोज थी
झे मिल गये है। उस समय मेरा चिन्तन उभरा—अब तक कई साधुओं के
गया, मुझे बड़ा आदर उन्होंने दिया और दीक्षा का आग्रह किया परन्तु वहां
म-शुद्धि हेतु मुझे उचित वातावरण नहीं लगा। मेरे मन में आदर या पद की लालसा
नही थी, आत्म-शुद्धि का भाव ही सर्वोपरि था। आचार्य श्री जवाहर के दर्शन तो
समय मैं नहीं कर पाया पर उन्हीं के संत युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा.
समय कोटा विराज रहे थे, दर्शन किये। मैंने महाराज सा. के सामने अपनी
ा लेने की भावना व्यक्त कर दी। युवाचार्य श्री ने फरमाया—यह तुम्हारी भावना
ी है परन्तु दीक्षा से पूर्व तुम्हें समुचित अध्ययन करना होगा। इसके सिवाय
ा के लिये न उन्होंने मुझे कोई प्रलोभन दिया और न ही कोई ऐसी-वैसी
कही। मैं उनके भव्य व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो गया और उनके समीप
यन करने लगा। इस बीच घर वाले वहां आ गये और बलात् मुझे घर लेकर
गये। मैं फिर भाग आता, फिर वे मुझे ले जाते—इस तरह प्रसंग बनता
। उस समय मैंने सुना कि आचार्य जवाहरलालजी म. सा. केवल दूध छाछ
ही अपना निर्वाह कर रहे हैं तो मेरा भी विचार बना कि मैं केवल जल पर
निर्वाह करू। इस विचार से मैं अन्न की मात्रा कम करता गया—आधी और
रोटी तक पहुच गया। तब गुरुदेव ने फरमाया—आचार्य श्री को तो शक्कर
बीमारी है इस वास्ते अन्न नहीं लेते है, परन्तु तुम्हें तो आत्म-शुद्धि हेतु जीवन
ाना है। आहार नहीं करोगे तो शरीर दुर्बल हो जायगा और संयम का पालन
ठन। इस मनुष्य जीवन को यों व्यर्थ थोड़े ही करना है। वह बात मैंने स्वी-
र करली और वापिस धीरे-धीरे आहार की वृद्धि की—आत्म-शुद्धि का प्रश्न
अन्तर्मन में समाया हुआ था।

एक विचित्र प्रसंग भी बना। मेरे वैराग्य भाव को समाप्त करने के
ये मेरे भाई साहब ने कोई तांत्रिक प्रयोग भी किया। मैं विचारमग्न वैसे ही
ा हुआ था कि भाई सा. आये और मुझे नीद में सोया हुआ जानकर मुझ पर
ख (भभूत) छिड़कते हुए कुछ टोटका करने लगे। मैंने उठकर साफ कह दिया
मुझे दीक्षा लेनी है और आप उसके लिये सहर्ष आज्ञा दे दीजिये। फिर भी
होंने कई तरह के प्रयास किये कि मैं दीक्षा न लूं, पर हार थक कर उन्होंने
झे आज्ञा दे दी और मैंने स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के चरणों
दीक्षा अंगीकार कर ली। मैं साधु बन गया। दीक्षा के समय गुरुदेव ने मुझे

आचार्य श्री चौथमलजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	पाली (राजस्थान)
दीक्षा स्थल	:	बूंदी (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९०९ चैत्र शुक्ला द्वादशी
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५४ मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी
आचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५४ माघशुक्ला दशमी
स्वर्गवास स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १९५७ कार्तिक शुक्ला नवम

❀ संसार से उद्विग्न होकर शाश्वत् सुख की पिपासा को शान्त करने के लिये जिन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा स्वीकार की थी। सम्यक् ज्ञान के साथ संयमीय आचरण में जो विशेष रूप से सतर्क थे।

❀ संयम शैथिल्य में जो वज्रादपि कठोराणि-वज्र से भी कठोर थे तो संयम-साधना में मृदुनि कुसुमादपि फूल से भी कोमल थे जिनके सम्यक् आचरण का प्रत्येक चरण साधना के लिये प्रेरणा स्रोत रहा है।

❀ ऐसे थे महान् क्रियावान् संयम के सशक्त पालक आचार्य श्री चौथमलजी म.सा.।

आचार्य श्री श्रीलालजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	टौंक (राजस्थान)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९२६ मार्गशीर्ष द्वादशी
पिता	:	श्री चुन्नीलालजी बम्ब
माता	:	श्रीमती चांदकुंवर बाई
दीक्षा स्थान	:	बनेड़ा (राजस्थान)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९४४ पौष कृष्णा सप्तमी
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५७ कार्तिक शुक्ला द्वितीया
आचार्य पद स्थान	:	रतलाम (मध्यप्रदेश)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. १९५७ कार्तिक शुक्ला नवमी
स्वर्गवास स्थान	:	जेतारण (राजस्थान)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. १९७७ आषाढ़ शुक्ला तृतीया

होनहार विश्वास के होत चीकने पात और श्री के लाडले लाल ।

विलक्षण बाल क्रीड़ा तथा टोकरी पर चिंतन प्रवाह ।

वैराग्य का वेग अवरोध मोचक ।

दीक्षा प्रभाव की अतिशयता एवं आचार्य पदारोहण ।

एक-एक चातुर्मास भी धर्मोपकार का इतिहास ।

जन्मभूमि में स्मरणीय चातुर्मास ।

मरुभूमि मेवाड़ एवं मालवा धरा पर धर्मानंद की लहर ।

राजाओं व जागीरदारों की भक्ति तथा सफल जीवदया अभियान ।

ब्यावर में एक साथ पांच दीक्षा ।

सौराष्ट्र के दीर्घ प्रवास में अपूर्व त्याग, तप व परोपकार ।

शतावधानीजी महाराज की दृष्टि में आचार्यश्री का व्यक्तित्व ।

पूज्यश्री के पक्के मुस्लिम भक्त मौलवी सैयद आसद अली ।

सम्प्रदाय की सुव्यवस्था एवं आत्मशक्ति का प्रयोग ।

थलियों की जलती रेत पर अमृत की वर्षा ।

जयपुर चातुर्मास से अभिनव अहिंसा प्रचार : राजवंशियों ने सत्संग करने में होड़ लगा दी ।

युवाचार्य पदारोहण महोत्सव एवं अपूर्व सम्मेलन ।

जैन गुरुकुल की स्थापना । ❀ शरीर पिंड से विदाई ।

श्रीजी के प्रति व्यक्त भावभीने उद्‌गार ।

महान् सद्‌गुणों से अलंकृत एवं अति विशिष्ट व्यक्तित्व ।

आचार्य श्री नानालालजी म. सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	:	दांता जि० चित्तौड़गढ़ (राज.)
जन्म तिथि	:	वि.सं. १९७७ ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया
पिता	:	श्री मोड़ीलालजी पोखरना
माता	:	श्रीमती शृंगारबाई
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. १९९६ पौष शुक्ला अष्टमी
दीक्षा स्थान	:	कपासन (राज.)
युवाचार्य पद स्थान	:	उदयपुर (राज.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. २०१९ आश्विन शुक्ला द्वितीया
आचार्य पद स्थान	:	उदयपुर (राज.)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. २०१९ माघकृष्णा द्वितीया

- साधना की पगडंडी पर जो अविचल रूप से निर्भयता के साथ चलते रहे।
- श्रमण संस्कृति की अक्षुण्य सुरक्षा के लिये जो अनेक तूफानों एवं झंझावातों के बीच भी हिमानी की तरह अडिग बने रहे।
- गुरु चरणों में सर्वतोभावेन समर्पित होकर जो आत्मिक-मशाल को निरन्तर प्रज्वलित करते रहे।
- चिन्तन की गहराइयों से निसृत समता-सुधा द्वारा जो, विषमता से विषाक्त विश्व को आप्लावित कर रहे हैं।
- दलित-पतित, शोषित- उत्पीड़ित निम्न समझे जाने वाले जनसमूह को जिन्होंने अपने पावन पूत जीवन से संस्कारित कर धर्मपाल की संज्ञा से अभिव्यक्त किया है।
- जैन समाज की भावनात्मक एकता के लिये जो अपने महत्त्वपूर्ण चिंतन के साथ सदा तत्पर है।
- मानवों के मानसिक तनाव की उपशांति के साथ आत्मिक शांति जागृत करने के लिये जिसने आगम सम्मत समीक्षण ध्यान साधना का अभिनव प्रयोग जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है।

जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान जो अपनी प्रखर-प्रतिभा से सहजता के साथ आगमिक वैज्ञानिक तार्किक एवं व्यवहारिक तरीके से पूर्ण सन्तोष पद प्रस्तुत करते हैं ।

जिनके प्रवचन आगमिक विवेचना के साथ ही विश्व की तात्कालीन समस्याओं का सचोट समाधान प्रस्तुत करते हैं ।

एक साथ २५ दीक्षाएं देकर जिसने ५०० वर्ष पूर्व के इतिहास को पुनः तरो–ताजा कर दिया है ।

जिनके जीवन का नैसर्गिक चमत्कारिक प्रभाव आधिव्याधि और उपाधि से संतप्त जीवन में शांति का वर्षण करता है ।

भारत के कोने-कोने में विस्तृत इस विशाल संघ का जो कुशल संचालन कर रहे है ।

पंचमाचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. की भविष्य घोषणा वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सत्यता की कसौटी पर कसी जाती हुई जिनके जीवन से प्रदीप्त हो रही है ।

ऐसे युग-पुरुष है समता विभूति, विद्वद्व शिरोमणि, जिनशासन प्रद्योतक, धर्म-पाल प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यान योगी, हुक्म गच्छ के अष्टम पाट सुशोभित हमारे चरित्र नायक आचार्य श्री नानेश ।

आदि। इस विषय में मै कह सकता हूं कि समीक्षण ध्यान साधना के प्रयोगों के पश्चात् इन सभी विषयों में मुझे यथेष्ट लाभ प्राप्त हुआ है। किन्तु मैं इसे समीक्षण ध्यान की अवान्तर उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करता हूं। उसकी जो मूल उपलब्धि है वह है साक्षी भाव का जागरण–आत्म रमणता। उसी स्थिति में अधिक से अधिक पैठने का प्रयास अनवरत गतिशील है।

उत्तर—४. एक गुरु का शिष्य की साधना को सम्पोषित करने मे जो योगदान होना चाहिये, वही योगदान मुझे आराध्य गुरुदेव का प्राप्त हुआ है–हो रहा है। किन्तु जिस रूप मे, जिस अहोभाव एवं आत्मीयता के परिवेश में मुझे योगदान प्राप्त हो रहा है—वह अनुलेख्य है, शब्दातीत है।

आचार्य प्रवर का जीवन ही—जीवन का प्रत्येक क्रियाकलाप अपने आप मे मार्गदर्शक होता है। उनके जीवन की संयमीय क्रियाओं के प्रति सजगता अपने आप में पथ प्रदर्शन का कार्य करती है। उनके आचरण–अनुशीलन का यह दृष्टिकोण मेरी साधना मे सर्वाधिक सहयोगी रहा है कि संयमीय मर्यादाओं की सामान्य सी स्खलनाओं में 'वज्रादपि कठोर' होकर सचेत करना एवं शिक्षा प्रदान करते समय मृदुनि कुसुमादपि की स्थिति मे प्रवेश कर जाना। राजस्थानी कविता के अनुसार—

गुरु प्रजापति सारखा, घट-घट काढ़े खोट।
भीतर से रक्षा करे ऊपर लगावे चोट॥

आचार्य भगवन् का व्यक्तित्व उस कुम्भकार के समान है जो, ऊपर से चोट करते हुए भी भीतर से रक्षा करता है, और इसी व्यक्तित्व का प्रभाव मुझे अपनी संयम साधना मे प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। निष्कर्ष की भाषा में कहूं तो मेरे जीवन मे संयम-साधना का जो कुछ भी है, वह आचार्य प्रवर का ही प्रदेय है। मेरा अपना तो अपने पास कुछ है ही नहीं।

यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि आचार्य प्रवर का योगदान तो वायुमण्डल मे बिखरी ऑक्सीजन के समान प्रतिपल बरस रहा है। यह मेरी ही अपात्रता है कि मै उसे उतने रूप में ग्रहण नहीं कर पा रहा हूं।

उत्तर—५ आपके पाचवे एवं अन्तिम प्रश्न के उत्तर में अनेक घटना प्रसंग मेरी आंखो के समक्ष चलचित्र की भाति उभरने लगे हैं, जिन्होने मेरे मानस पर अमिट प्रभाव अंकित कर दिया है। मेरे समक्ष एक समस्या-सी खडी हो गई है कि मै किन घटना प्रसगों को शब्दो का परिवेश प्रदान करूं और किन्हे छोड़ू? फिर भी एक-दो ऐसे प्रसंग है, जो भुलाए नहीं भूले जाते है।

क्रोध–विजय—घटना उस समय की है जब चरितनायक आचार्य पद पर आसीन हो रतलाम एवं इन्दौर के गौरवशाली ऐतिहासिक चातुर्मास पूर्ण कर

त्तीसगढ़ संघ की आग्रह भरी विनती पर छत्तीसगढ़ प्रान्त की ओर पधार रहे । मार्ग में कुछ दिन बैतूल विराजना हुआ । वहां अमरावती (बैतूल से ११० ील दूर) से समाज के प्रतिष्ठित श्रावक श्री जवाहरलालजी मुणोत अपने कुछ ाथियों के साथ दर्शनार्थ उपस्थित हुए । आचार्यश्री बैतूलगंज में गोठीजी के कान की दूसरी मंजिल पर ठहरे हुए थे । रात्रि मे नित्यप्रति की तरह ज्ञान-र्चा का दौर आरम्भ हुआ । एक बन्धु ने ध्वनिवर्धक यंत्र साधुमर्यादा के अनु-है या प्रतिकूल, इस सन्दर्भ में प्रश्न प्रस्तुत किया । इस पर श्री मुणोतजी कर चर्चा करने लगे । लगभग तीन घण्टे तक तर्क-वितर्क चलता रहा । मुणोत आचार्य देव के समक्ष कुछ उत्तेजनापूर्ण शब्दावली का भी प्रयोग करते चले रहे थे । समीपस्थ हम सन्तों एवं श्रावकों को भी उत्तेजना आ रही थी कि आचार्य के समक्ष कैसे बोलना चाहिए, इसका भी विवेक नहीं है । समय धिक हो जाने के कारण हमने दो-तीन बार इतना ही निवेदन किया कि समय गया है । उत्तेजनापूर्ण वातावरण होते हुए भी आचार्य श्री अपनी उसी गम्भीर ं शात मुद्रा में कहते जा रहे थे—"मुणोतजी ! जरा तटस्थ बनकर चिन्तन रिये । किसी बात का आग्रह हो सकता है, किंतु दुराग्रह नहीं । आप चाहे ध्वनि-र्धक यन्त्र को श्रमण जीवन के लिए उपयोगी मान सकते हैं, किन्तु सैद्धांतिक ष्टि से आगमिक आधार के बल पर यदि थोड़ा गम्भीरता से सोचेंगे तो स्पष्ट ो जावेगा कि यह बात हमे अभी मामूली-सी लग रही है, किन्तु आगे चलकर ामण संस्कृति को ही ध्वस्त करने वाली बन जायगी" आदि । किन्तु मुणोतजी स समय आवेशपूर्ण स्थिति में थे, अतः वे किसी भी तर्क को मानने को तैयार हीं थे ।

समय अधिक हो जाने से चर्चा बीच में ही समाप्त कर दी गई । मुणोत ी उसी समय मागलिक सुनकर चले गये । दूसरे दिन पुनः अमरावती से लौटकर ले आये और चरणों में सिर रखकर क्षमायाचना करने लगे । आचार्य श्री के छने पर कि रात्रि में ही जाकर प्रातःकाल ही वापिस चले आने का क्या कारण आ ? उनके साथी कहने लगे—महाराज श्री ! यहां से कार में ज्योंही रवाना ए, मैंने मुणोतजी से कहा, यदि ऐसी उत्तेजना पूर्ण चर्चा होने की सम्भावना ोती तो मै प्रश्न ही नही छेड़ता, किन्तु एक लाभ अवश्य हुआ है कि इस प्रसंग ो एक जैनाचार्य को पहचानने का मौका मिला । मैंने देखा, तुम अधिक आवेश-ील बनते चले गये, उत्तेजना दिलाते चले गए, किन्तु महाराजश्री के चेहरे पर ोध की रेखा पैदा होना तो दूर रहा, आवाज में भी तेजी नहीं आई । बड़े द्भुत योगी साधक है वे । मेरा इतना कहना हुआ कि मुणोतजी में पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और यह पश्चात्ताप अमरावती तक चलता रहा । प्रातः उठकर कहने लगे, 'मैंने उस महापुरुष की बहुत आशातना की है, उनकी उस शान्ति ने मेरा हृदय बदल दिया है । मै अभी पुनः जाकर क्षमायाचना

ही अनुमान लगाया जा सकता है । अध्ययन के क्षेत्र में भी आप श्री ने गम्भीर अध्ययन किया है । इसमें विशेष बात यह परिलक्षित हुई कि जब भी किसी भी जटिल विषय को हृदयंगम करना होता तो आप श्री उपवास कर लिया करते ताकि जो ऊर्जा शारीरिक कार्यो मे खर्च हो रही, वह भी अध्ययन में ही लग जाने से वह विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता । किसी के द्वारा किसी भी प्रकार का व्यवहार आपश्री के साथ किये जाने पर भी आपश्री का व्यवहार उनके प्रति विनय, सौहार्द एवं संयमीय आत्मीयता के साथ ही बना रहा है, पत्थर मारने वाले को भी आपश्री ने आम्रफल की तरह मधुरता ही दी है । स्व. गुरुदेव की सेवा में सर्वतोभावेन समर्पित होकर आपश्री ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है ।

यश लिप्सा, पद प्रतिष्ठा से तो आपश्री का दिल कोसों दूर रहा है। आचार्य पद जैसे महान् पद पर प्रतिष्ठित होकर भी आपश्री को अहकार छू तक नही पाया । आपश्री में इतनी अधिक निस्पृहता समाई हुई है कि कभी किसी भी विरक्तात्मा को शीघ्र दीक्षा देने के लिए उत्साहित न कर, पहले उसकी परिपक्वता का परीक्षण करते रहते है । लघुता के भाव इतने अधिक गहरे हैं कि अपने शिष्य-शिष्याओं के लिए भी कभी यह नहीं कहते कि ये मेरे चेले—चेली है । सदा यही फरमाते है कि आप सभी मेरे भाई-बहिन है । हम सभी इस संघ के सदस्य है । एक विशाल संघ के अनुशास्ता होने के कारण कई प्रकार की समस्याएं आती रहती है, जिन समस्याओं से सामान्य साधक तो घबरा जाता हैं, पर आपश्री अपनी विचक्षण प्रज्ञा और स्वस्थता के साथ उन सभी समस्याओं का समाधान करते चले जाते है ।

सामान्य तौर पर यह देखा जाता है कि आदमी का मानस किसी बात को लेकर तनाव में आ जाता है तो फिर उससे दूसरा कोई भी कार्य ठीक से नही हो पाता है, वह उस तनाव के कारण सारा समय उदास ही बना रहता है पर आचार्य-प्रवर में तो यह विलक्षणता है कि कभी किसी भी कार्य मे रूकावट, बाधा या समस्या आ भी गई तो भी उससे आपश्री के मन-मस्तिष्क में असतुलन की अवस्था नही आती । अन्य सभी कार्यो का आपश्री पूर्ण स्वस्थता के साथ निर्वहन करते है, आपश्री में यह भी गजब की शक्ति है कि आपश्री किसी से कुछ भी बात कर रहे हों, उसे समझा रहे हों, और इसी बीच, तत्क्षण आपश्री को अन्य किसी भी व्यक्ति से भी बात करनी पड़े तो, आपश्री के हाव-भाव में इतनी अधिक तन्मयता आ जाती है कि सामने वाला व्यक्ति आपश्री की मुखमुद्रा से यह अनुमान कभी नहीं लगा सकता कि आपश्री पूर्व में क्या बात कर रहे थे। किसी भी मानसिक व्यावहारिक दौर मे आपश्री गुजर रहे हो, ऐसी स्थिति में भी यदि कोई साधक आपश्री से कोई प्रश्न पूछ ले तो आपश्री को मूड बनाने

की आवश्यकता नहीं, आपश्री की सारी प्रज्ञा स्वतः ही उसके समाधान में लग जाती है ।

आप जब भी आएंगे आपको करीब-करीब सब समय भक्तों की भीड़ [न]जर आएगी, पर आश्चर्य इस बात का है कि इतनी भीड़ एवं कोलाहल के [ब]ीच में भी आपश्री अपने आप में अकेले है । भीड़ एवं कोलाहल के बीच में भी [अ]ध्ययन में इतने अधिक तन्मय हो जाते है कि आपश्री को भीड़ का अहसास [त]ो नहीं होता ।

गुरुदेव के अनुशासन की यह बड़ी विशेषता रही है कि आपश्री जल्दी [स]े किसी को कुछ भी आदेश नहीं देते, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके मन का [वि]श्लेषण करते हुए उसे तदनुकूल गति करने के लिए प्रेरित करते है ।

एक विशाल संघ के अधिनायक होने के बावजूद भी आपश्री में धैर्य, [क्ष]मा, सहनशीलता, सरलता, उदारता आदि गुण कूट-कूट कर भरे हुए है । [छ]द्मस्थतावश हम शिष्यों मे से किसी से यदि कोई अविनय भी हो जाए तो [आ]पश्री कभी भी उत्तेजित नहीं होते । ऐसे प्रसंगो पर कभी-कभी ऐसा लगता [है] कि अन्य कोई साधक हो तो तुरन्त उत्तेजित हो सकता है. पर सत्य है सागर [क]भी नहीं छलकता ।

किसी के द्वारा संयम-मर्यादा के प्रतिकूल यदि कोई कार्य हो भी जाए [त]ो आपश्री कभी भी उत्तेजित होकर या आक्रोश मे आकर शिक्षा नही देते, पर [इ]तने प्रेम, स्नेह और आत्मीयता के साथ प्रशिक्षित करते हैं कि सामने वाला [अ]पनी गलती को स्वीकार करता हुआ दण्ड प्रायश्चित ग्रहण कर सदा के लिए [सं]यम मर्यादा में सुस्थिर होने के लिए तत्पर हो उठता है । संयम पालन में न्यू-[न]ता लाने वाले बड़े से बड़े साधक को भी आप श्रीसंघ से बाहर करने में नही [हि]चकिचाते ।

आज भी आप स्वयं का काम स्वयं करने की ओर सदा उत्सुक रहते [है] । कोई भी कार्य आदि अवशेष रह जाए, हमारे ध्यान में न आ पावे, तो उसे [पू]रा करने के लिए आप श्री सहर्ष लग जाते हैं, और यह फरमाते हैं कि भाई [मु]झे यह कार्य करने दो ताकि मेरा शरीर ठीक रहेगा । यह भी आपकी महानता [है] कि आप सेवा करके भी एहसास नही कराना चाहते ।

निर्णय लेने की भी आपश्री में अद्भुत क्षमता है । कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग सामने आ जाते है कि 'इधर कुआ और उधर खाई' ऐसी स्थिति में भी आपश्री की विचक्षण प्रज्ञा बड़ी सहज गति से संकटों को हटाती हुई आगे बढती जाती है । आपश्री के मुख-मण्डल पर आक्रोश, विषाद, निराशा की रेखाएं कभी भी परिलक्षित नही होगी । किसी भी विकट परिस्थिति में भी आपश्री सदैव प्रसन्न मुद्रा मे रहते है । इसके पीछे क्या रहस्य है ? इसका मुझे यह अनुभव

वहा दी ज्ञान की धारा, करने शुद्ध हम सबको,
बढ़ाया जिनशासन का गौरव, कर उद्घोष तुमुल तुमने ।।

उत्तर—५. मैं सोच रहा हूं कि आपके इस प्रश्न का उत्तर कहा से आरम्भ करूं और कहा पूर्ण करूं । क्योंकि प्रश्न के समाधान की पूर्ण अभिव्यक्ति करना तो दूर किनार रही, पर उसको पूर्ण रूप से मानसिक स्तर पर भी उभार पाना शक्य नही । आपने आचार्य-प्रवर के जीवन से जुड़ी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख चाहा है । जिस प्रकार भूखे व्यक्ति के लिए सामने वाला प्रतिदिन का भोजन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, इसी प्रकार आचार्य प्रवर के जीवन की लघियसी घटना भी मुझे अत्यधिक प्रभावित करने वाली होती है । जव आचार्य प्रवर का सारा जीवन ही सयम-समता-समीक्षण से अनुरंजित है तो फिर किसी एक घटना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कैसे समझा जाए ? किसी एक दो घटना के मूल्यांकन से अन्य घटनाओं का गौण करना कथमपि अभीष्ट नहीं । इसलिए यह वात मैं पहले ही स्पष्ट कर देता हूं कि मैं तो गुरुदेव की सभी सयमानुरंजित घटनाओ से प्रभावित रहा हूं । लेकिन जिन एक दो घटनाओं का उल्लेख कर रहा हूं इसका तात्पर्य यह नही कि मैं इन्हीं घटनाओं से प्रभावित रहा हूं । ये तो मात्र नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं ।

आज से करीव १५ वर्ष पूर्व का यह घटना प्रसंग दीक्षित हुआ ही था। ज्येष्ठ मास का महीना था, वर्षा हो रही थी फिर भी सूर्य प्रचण्डता के साथ तप रहा था । वैसी स्थिति में विहार होने से मेरे दोनो पैरों में छाले उभर आये जिससे चलने मे वड़ी दुविधा होने लगी थी । तव डॉक्टर के परामर्शनुसार उन छालों पर दवा लगाकर पट्टी वांधना था । गुरुदेव ने फरमाया-इधर आओ, मैं पट्टी वांध देता हूं । यह कहने के साथ ही आपश्री ने अपने हाथ में पट्टी ले ली । तव आसपास विराजमान संत-मुनिराजों ने निवेदन किया कि भगवन्, हम वांध देंगे । पर गुरुदेव स्वयं ही वांधना चाह रहे थे । इधर मैं भी वच्चा ही तो ठहरा अतः मैं वोला कि पट्टी तो गुरुदेव से ही वंधवाऊंगा । तव संत मुनिराज क्या करते ? इधर गुरुदेव तो पहले से ही तैयार थे । आखिर पट्टी वांध दी गई । यह उपक्रम लगातार तीन-चार दिनों तक चलता रहा । पर एक दिन और भी विचित्र घटना घटी । वह यह थी कि मारवाड में एक श्री वालाजी नामक गांव है । वहां से मध्यान्तर में विहार होने जा रहा था । आचार्य-प्रवर ने पट्टी वांध ही दी थी, पर ज्यों ही माहेश्वरी धर्मशाला से विहार शुरू हुआ मिट्टी मे ही चल रहे थे, जो कि सूर्य की प्रचण्डता के कारण तप्त हो उठी थी पैर भी उस पर मुश्किल से रखे जाते थे । इसी वीच मेरे पैर की पट्टी खुल गई गुरुदेव ने जव यह देखा तो वे तुरन्त ही उस तपती हुई मिट्टी में विराजकर पट्टी को वाधने लगे । निवेदन भी किया कि आगे छाया मे वांध ली जाए, पर त

ों में विस्तार न हो जाए, इस दृष्टि से गुरुदेव ने स्वयं की परवाह नहीं कर बांधने में तन्मय रहे, तत्पश्चात ही आगे विहार हुआ। यह है गुरुदेव की नता।

इसी प्रकार अजमेर वर्षावास के अन्तिम चरण में, जब मेरे गले के सिल का ऑपरेशन हुआ। उस समय करीब डेढ़ बजे तपती धूप में स्थानक लकर हॉस्पीटल पधारे। और फिर तो प्रतिदिन पधारते रहे। और जब स्पिटल से मुझे उपाश्रय लाया जाने लगा तो शारीरिक स्थिति कुछ कमजोर से आचार्य प्रवर ने मुझे सहारा देकर उठाया और अपने हाथ के सहारे से करीब डेढ़ किलोमीटर की यात्रा करवाई। जब तक उपाश्रय में संत-महापुरुषों संस्थारक नहीं बिछा दिया तब तक मुझे हस्तावलम्बन दिये रखा। जबकि देव किसी संत को भी संकेत कर सकते थे। इधर हजारों लोग आचार्य-प्रवर प्रवचन में पधारने का इन्तजार कर रहे थे, परन्तु जब तक मुझे शयनित नहीं र दिया, तब तक गुरुदेव प्रवचन देने नहीं पधारे।

इसी प्रकार अहमदाबाद में हो रही १५ दीक्षाओं के समय का प्रसंग शाहीबाग परिसर में बन रहे हॉस्पिटल में आचार्य-प्रवर अपने शिष्य-परिवार ाथ विराज रहे थे। उस समय एकदा रात्रि के उत्तरार्ध में मेरे उदर में यक तीव्र वेदना प्रादुर्भूत हुई। पहले तो यथाशक्ति सहन करता रहा पर जब ता नहीं रही तो कहराने लगा। गुरुदेव की यह चिन्तन, मनन एवं ध्यान- ना की वेला थी। साधना मे बैठने ही वाले थे कि मेरी स्वर-ध्वनि सुनकर ट पधारे, फर्श पर ही विराजकर मेरे पेट पर हाथ फेरने लगे। करीब आधे ट तक पेट पर हाथ फेरने से वेदना के कुछ उपशात होने पर शांति मिली र कुछ ही समय के अनन्तर मै स्वस्थता का अनुभव करने लगा। फिर भी धना में प्रविष्ट होने से पूर्व पुन: मेरे निकट पधारे और कहा कि मैं यहीं बैठ ता हूं। तब मैने निवेदन किया भगवन्! मै स्वस्थ हूं, आप पधारें। सच- व आपश्री का वरदहस्त सर्व रोगोपशात्मक है।

इसी प्रकार राणावास वर्षावास के पूर्व बूसी गांव का एक घटना-प्रसंग । जब मै कपडों का प्रक्षालन कर रहा था, उस समय मेरे और श्रद्धेय गुरुदेव कपड़े होने से कुछ ज्यादा कपड़े थे। तब गुरुदेव ने सोचा कि इसे धोने में मय भी अधिक लगेगा और शारीरिक कलान्ति भी आएगी। बस फिर क्या ा, मुझे सहयोग देने की भावना से वे मेरे समीप पधारे और बोले-स्थानक के भी दरवाजे खिड़कियां बन्द कर दो, ताकि बाहर से कोई व्यक्ति भीतर न ांक सके। पहले तो में इस बात का रहस्य नही समझ पाया और गुरुदेव के निर्देशानुसार सब फाटक बद कर दिये। तब गुरुदेव ने फरमाया कि मुझे भी कपड़े धोने दो। वह भी इसीलिए नहीं कि तुम्हें सहयोग करना है, पर कपड़े

धोने से मेरे शरीर में स्वस्थता रहेगी, क्योंकि शरीर की स्वस्थता के लिए परि-
श्रम आवश्यक है। सब दरवाजे वन्द हो गए है, गृहस्थ कोई नहीं देख रहा है
अतः तुम्हे कोई यह नही कहेगा कि गुरुदेव से कपड़े क्यों धुलवाये। तुम कोई
विचार न करो और मुझे कपड़े धोने दो। तब मैं समझा दरवाजे बंद
करवाने का रहस्य। मैने कहा—गुरुदेव यह कभी संभव नहीं कि आप वस्त्र
प्रक्षालनार्थ यहां विराजें। यह सब तो हो जाएगा, आप किसी प्रकार का विचार
न करें। वहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर गुरुदेव वहां से उठे। इस घटना का
भी मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। दूसरों का काम भी करना और यह भी नहीं
कि मैं सहयोग कर रहा हूं, वल्कि इसलिए कि ऐसा करने से मेरा स्वास्थ्य
अच्छा रहेगा। यह अपने आपमें महानता का परिचायक है।

आज भी गुरुदेव अपने काम के लिए किसी संत को संकेत नही करते
और तो और अन्यों का कार्य भी स्वयं करने में तत्पर रहते हैं। यह तो
मेरे से संवन्धित प्रसंग रखे हैं, पर इसी प्रकार आचार्य-प्रवर प्रत्येक संत मुनिराज
का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। गुरु के प्रति शिष्यों की श्रद्धा उनके आदेश के
कारण नही, विशिष्ट संयमी जीवन के कारण है।

इसी प्रकार अध्ययन के प्रसगों पर भी जव कभी चर्चा का प्रसंग आ
जाता है तो गुरुदेव का कभी यह उद्देश्य नहीं रहता कि मैं कहता हूं, वह मान
लो। वे सदा यही फरमाते हैं कि मै जो समझा रहा हूं वह ५+५=१०
है। इस तरह तुम्हे समझ में आवे तो मानों, नहीं तो और पूछो, मैं विस्तार से
समझा दूंगा।

आचार्य-प्रवर के जीवन से सम्वन्धित घटनाओं का उल्लेख करते ही जा
तथापि वह पूर्ण होने वाली नही है। मैं अपने आपको धन्य समझता हूं कि
दुखम आरे में भी ऐसे दिव्य अलौकिक महापुरुष का मुझे सान्निध्य प्राप्त हुआ।

इस पचास वर्षीय दीक्षा पर्याय के पावन प्रसंग पर मैं शासनदेव से
कामना करता हूं कि गुरुदेव का स्वस्थ्य रहे और युगों-युगों तक आपका सान्नि-
ध्य हमें मिलता रहे।

भव्य दिव्य व्यक्तित्व

❀ साध्वी श्री सूर्यमणि

१. संसार में प्रकाश पुंजों की कमी नहीं है, किन्तु जो जीवन में सच्चा
ाश फैलाये, उन महान ज्ञाननिधि, सच्चे गुरु की सन्निधि जीवन को प्रकाश से
प्तिमान बनाकर, सत्पथगामी बना सकती है । जन जीवन के सृजेता की ज्ञान
रणों का प्रकाश समस्त वायुमण्डल में अविरल गति से गतिमान होकर
यात्माओं को प्रभावित करता रहता है ।

और ऐसी विरल विभूति का जब साक्षात् दर्शन-प्रवचन प्रभा का दिव्य
ारण हो, तब आत्मा परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकती । ऐसा ही हुआ,
अजमेर चातुर्मास मे आचार्य भगवन् के वैराग्य गर्भित समता, शान्ति सर्जित
चनो को मैंने श्रवण किया तो संसार की अनित्यता, जीवन की क्षण भंगुरता
ज्ञान सत्य रूप प्रवचन के माध्यम से ज्ञात हुआ । वैराग्योत्पादक आचार्य
वन् की मंगल वाणी ने जीवन की धारा मंगलता की ओर मोड़ दी । वैराग्य
बीज अंकुरित हुआ सदा-सदा के लिए गुरु-चरणों में समर्पणा की भावना
पडी । मेरा बालक हृदय गुरु चरणों में आजीवन शादी न करने
संकल्प लेकर उपस्थित हुआ । आचार्य भगवन् ने फरमाया-अभिभावकों की
ी के बिना मैं प्रत्याख्यान नही कराता । ऐसे निर्लोभी अणगार के प्रति,
के कठोर अनुशासन के प्रति मेरे मन में अनन्त श्रद्धा उमड़ पड़ी ।

अन्तर हृदय अनासक्त, निर्लिप्तमान, (शिष्य सम्प्रदाय के प्रति) ऐसे
न योगीराज के प्रति समर्पणा की भावना तीव्रतम हो उठी । पारिवारिक
यों ने इन्कार कर दिया । अभी यह बालिका है, किन्तु मेरे बहुत आग्रह पर
ार्य भगवन् ने पारिवारिक जनों को समझाया । इनकी तरफ से हां न हो तो
जबरन शादी न करें ।

मुझे "सत्यम् शिवं सुन्दरम्" की अलख जगाने वाले सच्चे दीर्घ द्रष्टा गुरु
अवलम्बन मिल गया । रतनपुरी मे "युग दृष्टि के उन्नायक-आचार्य भगवन्
पने मुखारविन्द से संयम जीवन अंगीकार कराकर मेरी आत्मा को शाश्वत
ज का दिव्यमार्ग प्रदान किया । जन्म-जन्मातरों में भटकती आत्मा को नया
ोध देकर मुझे निहाल कर दिया । ऐसे प्रेरणापुंज महाप्रभु की प्रेरणा
र मेरी आत्मा को संसार विरक्ति मोक्ष अवाप्ति का भान हुआ ।

२. आचार्य भगवन् के संयमी जीवन की विशिष्टताएं निराली हैं ।
देव प्रभु महावीर की इस परम्परा को अक्षुण रूप देने में वे विरल विभूति
प्रभु महावीर के सिद्धान्त "आचारांग सूत्र" में मूल रूप से कथन किये

धोने से मेरे शरीर में स्वस्थता रहेगी, क्योंकि शरीर की स्वस्थता के लिए परि-श्रम आवश्यक है। सब दरवाजे बन्द हो गए है, गृहस्थ कोई नही देख रहा है अत: तुम्हे कोई यह नही कहेगा कि गुरुदेव से कपड़े क्यों धुलवाये। तुम कोई विचार न करो और मुझे कपड़े धोने दो। तब मैं समझा दरवाजे बंद करवाने का रहस्य। मैंने कहा—गुरुदेव यह कभी संभव नहीं कि आप वस्त्र प्रक्षालनार्थ यहां विराजें। यह सब तो हो जाएगा, आप किसी प्रकार का विचार न करें। बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर गुरुदेव वहां से उठे। इस घटना का भी मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। दूसरों का काम भी करना और यह भी कि मैं सहयोग कर रहा हूं, बल्कि इसलिए कि ऐसा करने से मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। यह अपने आपमे महानता का परिचायक हैं।

आज भी गुरुदेव अपने काम के लिए किसी संत को संकेत नही क और तो और अन्यों का कार्य भी स्वयं करने में तत्पर रहते हैं। यह तो मेरे से संबन्धित प्रसंग रखे है, पर इसी प्रकार आचार्य-प्रवर प्रत्येक संत मुनि का पूरा-पूरा ध्यान रखते है। गुरु के प्रति शिष्यों की श्रद्धा उनके आदेश कारण नही, विशिष्ट संयमी जीवन के कारण है।

इसी प्रकार अध्ययन के प्रसगों पर भी जब कभी चर्चा का प्रसंग जाता है तो गुरुदेव का कभी यह उद्देश्य नहीं रहता कि मैं कहता हूं, वह लो। वे सदा यही फरमाते हैं कि मैं जो समझा रहा हूं वह ५+५=१० है। इस तरह तुम्हें समझ में आवे तो मानों, नहीं तो और पूछो, मैं विस्त समझा दूंगा।

आचार्य-प्रवर के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख करते ही तथापि वह पूर्ण होने वाली नहीं है। मैं अपने आपको धन्य समझता हूं दुखम आरे में भी ऐसे दिव्य अलौकिक महापुरुष का मुझे सान्निध्य प्राप्त

इस पचास वर्षीय दीक्षा पर्याय के पावन प्रसंग पर मैं शासनदेव कामना करता हूं कि गुरुदेव का स्वस्थ्य रहे और युगों-युगों तक आपका ध्य हमें मिलता रहे।

का दिव्य अवलम्बन आवश्यक है। आचार्य भगवन् ने अन्तरंग के मूलमंत्रों से मुझे अनुगुंजित किया। संयमी जीवन की पुष्टि हेतु समता सिद्धान्त, सैद्धान्तिक पक्षों एवं संयम अभिवर्द्धित शिक्षाओं का प्रबलतम योगदान दिया।

जीवन-निर्माता आचार्य भगवन् का परमोपकार रहा, जिन्होंने जीवन का परिपूर्ण रूपान्तरण करके नवजीवन प्रदान किया व संयमपुष्टि हेतु समय-समय पर ऐसी जीवन घुट्टियां प्रदान की, जिन घुट्टियो मे जीवन निर्माण की औषधियां थीं। शासन-निष्ठा, विनय गुण सम्पन्न कैसे होना साहजिक योग की साधना, ज्ञान-ध्यान, संयम क्रियाओं मे एक दृष्टि, सर्वोतम समर्पणा से चलना, इन शिक्षाओं से मेरे जीवन को समय-समय पर सिंचित किया। मेरी जीवन बगिया महकती हुई कर्म-क्षय करने के क्षेत्र में समता निधि की सन्निधि में पुष्पित-एवं पल्लवित हो रही है। यह मेरा परम सौभाग्य है।

साथ ही आचार्य भगवन् की विनय गुण सम्पन्नतामयी जीवन-घटनाओं ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। संयम अस्खलना में दृढ़तम मेड़ीभूत आचार्य को पाकर तदनुरूप जीवन-गरिमा बनाने की भावना मे सक्षम बनने का प्रयास कर रही हूं।

आचार्य भगवन् ईर्या-भाषा-एषणा-समिति-गुप्ति का पालन हेतु एवं समत्व भावी जीवन निर्माण हेतु दिव्य शिक्षाओं से हमें आत्मकल्याण पर अधिक अग्रसर करते रहते है। वे है—"पुढ़वी समो मुनि हव्वेज्जा" एवं "समो निंदा पसंसासु" आदि अनेक आगमिक उक्तियो जिनका सार गर्भित विश्लेषण संयम जीवन को पुष्ट बनाता है।

साथ ही महिदपुर के प्रवचन-कणो मे "यह भी नही रहेगा" नामक रूपक ऐसा हृदय मे पैठा कि मेरे जीवन को बहुत कुछ रूपान्तरित कर दिया। संयम जीवन में अभाव जन्म स्थितियों का चिन्तन ही नही रहता। हर क्षण चिन्तन मनन एवं शुभ संकल्पो से मन सन्नद्ध होकर संयम निष्ठा में अधिक जागरूक रहने को प्रेरित होता रहता है।

५ आचार्य श्री के जीवन की विहार चर्याओं, चातुर्मास कालिक घटनाओं के अनेक प्रेरणांश हैं, जिन्हें सम्पूर्णतः रूप से नही लिखा जा सकता। महापुरुषों के जीवन का हर क्षण-चिन्तन-मनन-शुभ संकल्पों से युक्त होता है। विचारों-आचारों का शुभ सम्प्रेक्षण जनमानस में हुए बिना नही रहता है।

एक बार विहार चर्या के माध्यम से छोटे से ग्राम में आचार्य भगवन् का पदार्पण हुआ। देखा कि ग्राम छोटा है। घर कम है। कुछ ही शिष्य साथ मे थे। शिष्यो ने ग्राम मे जाकर देखा तो आहार-पानी कुछ भी उपलब्ध नही हुआ। दूसरी बार भी नही। महापुरुष चमत्कार नहीं करते, किन्तु अचानक जो कुछ घट जाता है, वह निराला ही होता है। अचानक आचार्य भगवन् ने

ये "समियाए धम्मे" सिद्धान्त आचार्य भगवन् के प्रवचनों में एवं जीवन के ...
ग मे व्याप्त पाया जाता है ।

"एकता व संगठन के हिमायती" आचार्य भगवन् के जीवन में कथनी ...
करणी मे एकरूपता पाई जाती है । "मन्न स्यैकं-वयस्यैकं-कायस्यैकं महात्मना" की
उक्ति आपश्री के जीवन में चारितार्थ होती है । जिन वचनों, जिन आदेशों की
आप फरमाते है उन्हें स्वयं पहले जीवन मे आचरित करते हैं। अतः आप "...
शासन फिर अनुशासन" की उक्ति से जीवन को अलंकृत कर रहे है ।

संयम की जगमगाती मशाल "आचार्य श्री नानेश" ने संयम-विशिष्टता ...
पर स्थिर रहते हुए संयम-शिथिलाचार के विरुद्ध क्रान्ति की । अध्यात्म प्रय...
भारतीय संस्कृति के इस ज्योतिमय सूर्य ने परिमार्जित धर्म व्यवस्था का सूत्रपा...
किया विशाल शिष्य मण्डल का सचालन किया और पवित्र संयम यात्रा ...
अडिग रहे । जिन शासन के शिरोमणि आचार्य श्री के पद-चिन्हो पर विशा...
शिष्य सम्पदा एवं चतुर्विध संघ एक निष्ठा एक शिक्षा-एक दीक्षा रूप अगाध श्र...
से नत मस्तक हो एक स्वर मे मुखारित हो कह उठते है । "होगा प्रभु ...
जिधर इशारा उधर बढ़ेगा कदम हमारा" इसमें केवल भावात्मक सम्बन्ध ही नहीं
वरन् संयम की सत्यता-गुणात्मकता एवं तीर्थकर की परम्परा के अनवरत प्रवाह
आचार्य पद की गरिमा हेतु यथार्थता का सम्प्रेक्षण जुड़ा है । कैसी भी परिस्थिति
क्यों न हो, प्रभु महावीर की वाणी को हर क्षण आपश्री जीवन में उतारे रह...
हैं । "समोनिंदा पसंसासु", "पुढवी समो मुणि हव्वेज्जा" एवं "जे पुण्णस्स कत्थ...
ते तुच्छस्स कत्थइ" की उक्तियों से जीवन को अलंकृत किये रहते हैं ।

इन संयम जीवन की अनुपम विशिष्टताओं से लाखो भक्त गण चर...
कमल में भ्रमरवत् दिव्य आभा रूपी पराग का पान करते रहते हैं ।

३. भौतिकता और विलासिता के युग मे मानसिक तनाव से मुक्ति ...
अचूक साधन है "समीक्षण ध्यान = सम + ईक्षण अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रत्ये...
क्षण में आत्मावलोकन करना । क्रोध मान-माया-लोभ व आत्म-समीक्षण की ...
में मैं अधिक तो नहीं जा सकी, किन्तु कुछ उग्र परिस्थितियों में जब इनके
चिन्तन मैंने किया, तो प्रत्यक्षफल आत्म-संतुष्टि, तनाव-मुक्ति एव व्यक्तिगत
सामंजस्यता पाई ।

कुछ अ शों का चिन्तन मन में अनुपम सन्तोष, आत्मा को स्थिर कर...
में सक्षम बनाता है—तो नित्य प्रयोग विधि से मानस-तल दिव्यालोकमय ब...
सकता है, जो हर पल-हर क्षण सम्यक् दर्शन द्रष्टा की धारा बनाकर आत्मा को
उस पथ पर बढ़ाये तो कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, वह समता सुख व शांति
मे जीवन में आनन्द की घड़ियों को उपलब्ध कर लेता है ।

४. सयमी जीवन की पुष्टि हेतु एक सफल अनुशास्ता व जीवन-निर्मा...

का दिव्य अवलम्बन आवश्यक है । आचार्य भगवन् ने अन्तरंग के मूलमंत्रों से मुझे अनुगुंजित किया । संयमी जीवन की पुष्टि हेतु समता सिद्धान्त, सैद्धान्तिक पक्षों एवं संयम अभिवर्द्धित शिक्षाओं का प्रबलतम योगदान दिया ।

जीवन-निर्माता आचार्य भगवन् का परमोपकार रहा, जिन्होंने जीवन का परिपूर्ण रूपान्तरण करके नवजीवन प्रदान किया व संयमपुष्टि हेतु समय-समय पर ऐसी जीवन घुट्टियां प्रदान की, जिन घुट्टियों में जीवन निर्माण की औषधियां थीं । शासन-निष्ठा, विनय गुण सम्पन्न कैसे होना साहजिक योग की साधना, ज्ञान-ध्यान, संयम क्रियाओ में एक दृष्टि, सर्वोतम समर्पणा से चलना, इन शिक्षाओं से रे जीवन को समय-समय पर सिंचित किया । मेरी जीवन बगिया महकती हुई र्म-क्षय करने के क्षेत्र मे समता निधि की सन्निधि मे पुष्पित एवं पल्लवित हो ही है । यह मेरा परम सौभाग्य है ।

साथ ही आचार्य भगवन् की विनय गुण सम्पन्नतामयी जीवन-घटनाओं भी मुझे बहुत प्रभावित किया । संयम अस्खलना में दृढ़तम मेड़ीभूत आचार्य ो पाकर तदनुरूप जीवन-गरिमा बनाने की भावना में सक्षम बनने का प्रयास कर ही हूं ।

आचार्य भगवन ईर्या-भाषा-एषणा-समिति-गुप्ति का पालन हेतु एवं समत्व ावी जीवन निर्माण हेतु दिव्य शिक्षाओ से हमे आत्मकल्याण पर अधिक अग्रसर रते रहते है । वे है—"पुढवी समो मुनि हव्वेज्जा" एवं "समो निंदा पसंसासु" ादि अनेक आगमिक उक्तियो जिनका सार गर्भित विश्लेषण सयम जीवन को ुष्ट बनाता है ।

साथ ही महिदपुर के प्रवचन-कणो मे "यह भी नही रहेगा" नामक रूपक ऐसा हृदय मे पैठा कि मेरे जीवन को बहुत कुछ रूपान्तरित कर दिया । संयम जीवन में अभाव जन्म स्थितियो का चिन्तन ही नही रहता । हर क्षण चिन्तन मनन एवं शुभ संकल्पो से मन सन्नद्ध होकर संयम निष्ठा मे अधिक जागरूक रहने को प्रेरित होता रहता है ।

५ आचार्य श्री के जीवन की विहार चर्याओ, चातुर्मास कालिक घटनाओं के अनेक प्रेरणांश है, जिन्हे सम्पूर्णत: रूप से नही लिखा जा सकता । महापुरुषों के जीवन का हर क्षण-चिन्तन-मनन-शुभ संकल्पों से युक्त होता है । विचारों-आचारों का शुभ सम्प्रेक्षण जनमानस में हुए बिना नहीं रहता है ।

एक बार विहार चर्या के माध्यम से छोटे से ग्राम में आचार्य भगवन् का पदार्पण हुआ । देखा कि ग्राम छोटा है । घर कम है । कुछ ही शिष्य साथ मे थे । शिष्यों ने ग्राम मे जाकर देखा तो आहार-पानी कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ । दूसरी बार भी नही । महापुरुष चमत्कार नहीं करते, किन्तु अचानक जो कुछ घट जाता है, वह निराला ही होता है । अचानक आचार्य भगवन् ने

फरमाया कि जाओ, आहार पानी मिल जायेगा । संत थके हुए थे लेकिन "आणाए धम्मो" स्वर के अनुपालक थे । चल पड़े, विनम्र भावों व अगाध श्रद्धा को लेकर जिस ग्राम में कुछ नहीं था, वहीं आहार-पानी और निर्दोष प्रासुक वस्तुएं उपलब्ध थीं । यह है आचार्य भगवन् की साधना का अनूठा प्रभाव ।

यों आचार्य भगवन् जहां भी पधारते कही व्याधि-मुक्ति, कही दिव्य दृष्टि की सम्प्राप्ति तो कही मानसिक टेन्शनों से मुक्ति दृष्टिगत होती है । सबसे महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि तो यह है कि विघटित स्थितियों में भी साधना से संगठित प्रेम स्नेह का अनूठा चमत्कार जहां तहां देखा पाया जा रहा है ।

जहां मानवों के हृदय-मशीन में स्नेहतार ढीला हो गया हो, स्नेह-स्रोत, प्रेम का नीर सूख गया हो, तनाव व संत्रास से जीवन घुट रहा हो, वहां आचार्य भगवन् अपने धर्मोपदेश व समता-सिद्धान्त से सबको स्नेह-सूत्र में बांध देते हैं, पारस्परिक विग्रह-कलह मिटा देते है । कानोड़ चातुर्मास का प्रसंग है । एक परिवार ऐसा भी था जिसमे वर्षो से मां-बेटे, बाप-बेटे बिन बोले रह रहे थे । काफी प्रयास पर भी स्नेह-मिलन नही हो पाया था । श्री संघ भी निराश हो जवाब दे रहा था कि भगवन् हम कोई भी इसमें भाग न लेगे । आचार्य भगवन् आप भी कुछ कहने या करने का प्रयास न करें । यह मामला बड़ा जटिल है । किन्तु आचार्य भगवन् ने ऐसी अनूठी स्नेह-प्रभा बिखेरी कि पिता-पुत्रों ने, मां बेटों ने, भाई-भाई देवरानी-जेठानियों ने राग-द्वेष मन की कलुषता आचार्य भगवन् की झोली मे वहरा दी ।

ऐसे एक नही अनेकानेक प्रसंग है, जहां आचार्य भगवन् अपनी अनूठी प्रतिभा से स्नेह के टूटे तारों को जोड़ने की कला अपनाते है । आचार्य भगवन उस सेतु बन्ध के समान हैं, जो दो भिन्न-भिन्न किनारों को जोड़ने का कार्य करते है ।

शब्दातीत–वर्णनातीत गुणनिधि के गुणों को किन भावों में अभिव्यक्त किया जाये, उन घटनाओं को, उन गुणों को शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती है । ऐसे अद्वितीय संयम शिखरारूढ़ आचार्य भगवन् दीर्घायु प्राप्त जिन शासन के समुत्कर्ष में अपना योगदान प्रदान करें । सदाकाल जयवन्त हों ।

ऐसे आगम-मोहदधिका अभिनन्दन-अभिवन्दन करते हुए हम सदा-सदा आत्मोन्नति की प्रेरणा चाहते है । आचार्य श्री नानेश का भव्य दिव्य व्यक्तित्व सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के अज्ञान अंधकार को दूर करते हुए, जन-जन के प्रेरणा स्त्रोत बने । इसी मगल भावना से ५० वी दीक्षा जयन्ती के शुभावसर पर अनंतानंत भाव-समुनो से समर्पणा.......

आचार्य प्रवर की नेश्राय में विचरण करने वाले एवं उनसे दीक्षित संत सतियांजी म. सा. की तालिका

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१.	श्री ईश्वरचन्दजी म. सा.	देशनोक	सं. १९९९ मिगसर कृष्णा ४	भीनासर
२.	श्री इन्द्रचन्दजी म. सा.,	माडपुरा	सं. २००२ वैशाख शुक्ला ६	गोगोलाव
३.	श्री सेवन्तमुनिजी म. सा.,	कन्नौज	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला ३	उदयपुर
४.	श्री अमरचन्दजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०२० वैशाख शुक्ला ३	पीपलिया
५.	श्री शान्तिमुनिजी म. सा.,	भदेसर	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला १	भदेसर
६.	श्री कंवरचन्दजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०१९ फाल्गुन शुक्ला ५	बड़ीसादड़ी
७.	श्री प्रेममुनिजी म. सा.,	भोपाल	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
८.	श्री पारसमुनिजी म. सा.,	दलोदा	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
९.	श्री सम्पतमुनिजी म. सा.,	रायपुर	" " " "	"
१०.	श्री रतनमुनिजी म. सा.,	भाड़ेगांव		सोनार
११.	श्री धर्मेशमुनिजी म. सा.,	मद्रास	सं. २०२३ फाल्गुन कृष्णा ९	रायपुर
१२.	श्री रणजीतमुनिजी म. सा.,	कंजार्डा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१३.	श्री महेन्द्रमुनिजी म. सा.,	गोगुन्दा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१४.	श्री सौभागमलजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१५.	श्री रमेशमुनिजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१६.	श्री वीरेन्द्रमुनिजी म. सा.,	आष्टा	सं. २०२९ माघ शुक्ला २	देशनोक
१७.	श्री हुलासमलजी म. सा.,	गंगाशह	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर

फरमाया कि जाओ, आहार पानी मिल जायेगा । संत थके हुए थे लेकिन "आणाए धम्मो" स्वर के अनुपालक थे । चल पड़े, विनम्र भावों व अगाध श्रद्धा को लेकर जिस ग्राम में कुछ नही था, वहीं आहार-पानी और निर्दोष प्रासुक वस्तुएं उपलब्ध थी । यह है आचार्य भगवन् की साधना का अनूठा प्रभाव ।

यों आचार्य भगवन् जहां भी पधारते कही व्याधि-मुक्ति, कही दिव्य दृष्टि की सम्प्राप्ति तो कहीं मानसिक टेन्शनों से मुक्ति दृष्टिगत होती है । सबसे महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि तो यह है कि विघटित स्थितियों में भी साधना से संगठित प्रेम स्नेह का अनूठा चमत्कार जहां तहां देखा पाया जा रहा है ।

जहां मानवों के हृदय-मशीन में स्नेहतार ढीला हो गया हो, स्नेह-स्रोत, प्रेम का नीर सूख गया हो, तनाव व संत्रास से जीवन घुट रहा हो, वहां आचार्य भगवन् अपने धर्मोपदेश व समता-सिद्धान्त से सबको स्नेह-सूत्र में बांध देते हैं, पारस्परिक विग्रह-कलह मिटा देते है । कानोड़ चातुर्मास का प्रसंग है । एक परिवार ऐसा भी था जिसमें वर्षों से मां-बेटे, बाप-बेटे बिन बोले रह रहे थे । काफी प्रयास पर भी स्नेह-मिलन नहीं हो पाया था । श्री संघ भी निराश हो जवाव दे रहा था कि भगवन् हम कोई भी इसमें भाग न लेगे । आचार्य भगवन् आप भी कुछ कहने या करने का प्रयास न करें । यह मामला वड़ा जटिल है । किन्तु आचार्य भगवन् ने ऐसी अनूठी स्नेह-प्रभा बिखेरी कि पिता-पुत्रों ने, मां बेटों ने, भाई-भाई देवरानी-जेठानियो ने राग-द्वेष मन की कलुषता आचार्य भगवन् की झोली मे वहरा दी ।

ऐसे एक नही अनेकानेक प्रसंग है, जहां आचार्य भगवन् अपनी अनूठी प्रतिभा से स्नेह के टूटे तारो को जोडने की कला अपनाते है । आचार्य भगवन उस सेतु वन्ध के समान है, जो दो भिन्न-भिन्न किनारों को जोड़ने का कार्य करते हैं ।

शव्दातीत–वर्णनातीत गुणनिधि के गुणों को किन भावों मे अभिव्यक्त किया जाये, उन घटनाओं को, उन गुणों को शव्दो के माध्यम से अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती है । ऐसे अद्वितीय संयम शिखरारूढ आचार्य भगवन् दीर्घायु प्राप्त जिन शासन के समुत्कर्ष में अपना योगदान प्रदान करें । सदाकाल जयवन्त हो ।

ऐसे आगम-मोहदविका अभिनन्दन-अभिवन्दन करते हुए हम सदा-सदा आत्मोन्नति की प्रेरणा चाहते है । आचार्य श्री नानेश का भव्य दिव्य व्यक्तित्व सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के अज्ञान अंधकार को दूर करते हुए, जन-जन के प्रेरणा स्त्रोत बने । इसी मगल भावना से ५० वी दीक्षा जयन्ती के शुभावसर पर अनंतानंत भाव-समुनों से समर्पणा........

आचार्य प्रवर की नेश्राय में विचरण करने वाले एवं उनसे दीक्षित संत सतियांजी म. सा. की तालिका

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१.	श्री ईश्वरचन्दजी म. सा.	देशनोक	सं. १९९९ मिगसर कृष्णा ४	भीनासर
२.	श्री इन्द्रचन्दजी म. सा.,	माडपुरा	सं. २००२ वैशाख शुक्ला ६	गोगोलाव
३.	श्री सेवन्तमुनिजी म. सा.,	कन्नौज	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला ३	उदयपुर
४.	श्री अमरचन्दजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०२० वैशाख शुक्ला ३	पीपलिया
५.	श्री शान्तिमुनिजी म. सा.,	भदेसर	सं. २०१९ कार्तिक शुक्ला १	भदेसर
६.	श्री कंवरचन्दजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०१९ फाल्गुन शुक्ला ५	बड़ीसादड़ी
७.	श्री प्रेममुनिजी म. सा.,	भोपाल	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
८.	श्री पारसमुनिजी म. सा.,	दलोदा	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
९.	श्री सम्पतमुनिजी म. सा.,	रायपुर	” ” ” ”	”
१०.	श्री रतनमुनिजी म. सा.,	भाड़ेगांव		सोनार
११.	श्री धर्मेशमुनिजी म. सा.,	मद्रास	सं. २०२३ फाल्गुन कृष्णा ९	रायपुर
१२.	श्री रणजीतमुनिजी म. सा.,	कंजार्ड़ा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१३.	श्री महेन्द्रमुनिजी म. सा.,	गोगुन्दा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
१४.	श्री सौभागमलजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१५.	श्री रमेशमुनिजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १३	ब्यावर
१६.	श्री वीरेन्द्रमुनिजी म. सा.,	आष्टा	सं. २०२९ माघ शुक्ला २	देशनोक
१७.	श्री हुलासमलजी म. सा.,	गंगाशह	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१८.	श्री विजयमुनिजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०२९ माघ शुक्ला १३	भीनासर
१९.	श्री नरेन्द्रमुनिजी म. सा.,	बम्बोरा	सं. २०३० माघ शुक्ला ५	सरदारशहर
२०.	श्री ज्ञानेन्द्रमुनिजी म. सा.,	ब्यावर	स. २०३१ जेठ शुक्ला ५	गोगोलाव
२१.	श्री बलभद्रमुनिजी म. सा.,	पीपलिया	सं. २०३१ आश्विन शुक्ला ३	सरदारशहर
२२.	श्री पुष्पमुनिजी म. सा.,	मंडी डब्बावाली	सं. २०३१ आश्विन शुक्ला ३	सरदारशहर
२३.	श्री रामलालजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३१ माघ शुक्ला १२	देशनोक
२४.	श्री प्रकाशचन्दजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३२ आश्विन शुक्ला ५	देशनोक
२५.	श्री गौतममुनिजी म. सा.,	बीकानेर	सं २०३२ मिगसर शुक्ला १३	बीकानेर
२६.	श्री प्रमोदमुनिजी म. सा.	हांसी	सं. २०३३ माघ कृष्णा १	भीनासर
२७.	श्री प्रशममुनिजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वैशाख कृष्णा ७	भीनासर
२८.	श्री मूलचन्दजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३४ मिगसर शुक्ला ५	नोखामण्डी
२९.	श्री ऋषभमुनिजी म. सा.,	बम्बोरा	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
३०.	श्री अजितमुनिजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३५ आश्विन शुक्ला २	जोधपुर
३१.	श्री जितेशमुनिजी म. सा.,	पूना	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३२.	श्री पद्मकुमारजी म. सा.,	नीमगांवखेड़ी	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३३.	श्री विनयमुनिजी म. सा.,	ब्यावर	सं. २०३६ चैत्र शुक्ला १५	ब्यावर
३४.	श्री सुमतिमुनिजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३७ पौष शुक्ला ३	भीम
३५.	श्री चन्द्रेशमुनिजी म. सा.,	फलोदी	सं. २०३८ वैशाख शुक्ला ३	गंगापुर
३६.	श्री धर्मेन्द्रकुमारजी म. सा.,	साकरा	सं. २०३९ चैत्र शुक्ला ३	अहमदाबाद
३७.	श्री धीरजकुमारजी म. सा.,	जावद	सं. २०४० फाल्गुन शुक्ला २	रतलाम
३८.	श्री कांतिकुमारजी म. सा.,	नीमगांवखेड़ी	सं. २०४० फाल्गुन शुक्ला २	रतलाम
३९.	श्री विवेकमुनिजी म. सा.	उदयपुर मांडपुरा	सं. २०४५ माघ शुक्ला १०	मन्दसौर

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१.	श्री सिरेकंवरजी म. सा.,	सोजत	सं. १९८४	सोजत
२.	श्री वल्लभकंवरजी म. सा., (प्रथम)	जावरा	सं. १९८७ पौष शुक्ला २	निम्बलपुर
३.	श्री पानकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. १९९१ चैत्र शुक्ला १३	भीण्डर
४	श्री सम्पतकंवरजी म. सा.,)प्रथम)	रतलाम	सं. १९९२ चैत्र शुक्ला १	रतलाम
५.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा., (प्रथम)	खाचरौद	सं. १९९२	खाचरौद
६.	श्री केसरकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. १९९५ ज्येष्ठ शुक्ला ४	बीकानेर
७.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा. (द्वि.)	जावरा	सं. १९९७	खाचरौद
८.	श्री धापूकंवरजी म. सा., (प्रथम)	भीनासर	सं. १९९८ भादवा कृष्णा ११	भीनासर
९.	श्री कंकूकंवरजी म. सा.,	देवगढ़	सं. १९९८ वैशाख शुक्ला ६	देवगढ़
१०.	श्री पेपकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. १९९९ ज्येष्ठ कृष्णा ७	बीकानेर
११.	श्री नानूकंवर म. सा.	देशनोक	सं. १९९० आश्विन शुक्ला ३	देशनोक
१२.	श्री धापूकंवरजी म. सा. (द्वि.)	चिकारड़ा	सं. २००१ चैत्र शुक्ला १३	भीलवाड़ा
१३.	श्री कंचनकंवरजी म. सा.	सवाईमाधोपुर	सं. २००१ वैशाख कृष्णा २	ब्यावर
१४.	श्री सूरजकंवरजी म. सा.,	बिरमावल	सं. २००२ माघ शुक्ला १३	रतलाम
१५.	श्री फूलकंवरजी म. सा.,	कुस्तला	सं. २००३ चैत्र शुक्ला ९	सवाईमाधोपुर
१६.	श्री भंवरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	बीकानेर	सं. २००३ वैशाख कृष्णा १०	बीकानेर
१७.	श्री सम्पतकंवरजी म. सा.	जावरा	सं. २००३ आश्विन कृष्णा १०	ब्यावर पुरानी
१८.	श्री सायरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	केशरसिंहजी का गुड़ा	सं. २००४ चैत्र शुक्ला २	राणावास
१९.	श्री गुलाबकंवरजी म. सा., (द्वि.)	उदयपुर	सं. २००६ माघ शुक्ला १	उदयपुर
२०.	श्री कस्तूरकंवरजी म. सा. (प्रथम)	नारायणगढ़	सं. २००७ पौष शुक्ला ४	खाचरौद
२१.	श्री सायरकंवरजी म. सा. (द्वि.)	ब्यावर	सं. २००७ ज्येष्ठ शुक्ला ५	ब्यावर

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
२२.	श्री चान्दकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २००८ फाल्गुन कृष्णा ८	बीकानेर
२३.	श्री पानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	बीकानेर	सं. २००६ ज्येष्ठ कृष्णा ६	बीकानेर
२४.	श्री इन्द्रकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २००६ ज्येष्ठ कृष्णा ५	बीकानेर
२५.	श्री बदामकंवरजी म. सा.,	मेड़ता	सं. २०१० ज्येष्ठ कृष्णा ३	बीकानेर
२६.	श्री सुमतिकंवरजी म. सा.,	झुन्झूं	सं. २०११ वैशाख शुक्ला ५	भीनासर
२७.	श्री इचरजकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०१३ आश्विन शुक्ला १०	गोगोलाव
२८.	श्री चन्द्राकंवरजी म. सा.,	कुकड़ेश्वर	सं. २०१४ फाल्गुन शुक्ला ३	कुकड़ेश्वर
२९.	श्री सरदारकंवरजी म. सा.,	अजमेर	सं. २०१५ आश्विन शुक्ला १३	उदयपुर
३०.	श्री शांताकवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ ज्येष्ठ शुक्ला ११	उदयपुर
३१.	श्री रोशनकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ आश्विन शुक्ला १५	बड़ीसादडी
३२.	श्री अनोखाकंवरजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०१६ कार्तिक कृष्णा ८	उदयपुर
३३.	श्री कमलाकंवरजी म. सा., (प्रथम)	कानोड	सं. २०१६ कार्तिक शुक्ला १३	प्रतापगढ़
३४.	श्री झमकूकंवरजी म. सा.,	भदेसर	सं. २०१७ मिगसर कृष्णा ५	उदयपुर
३५.	श्री नन्दकंवरजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०१७ फाल्गुन बदी १०	छोटीसादड़ी
३६.	श्री रोशनकंवरजी म. सा., (द्वि.)	बड़ीसादड़ी	सं. २०१८ वैशाख शुक्ला ८	बडीसादड़ी
३७.	श्री सूर्यकान्ताजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०१६ वैशाख शुक्ला ७	उदयपुर
३८.	श्री सुशीलाकंवरजी म. सा., (प्रथम)	उदयपुर	सं. २०१६ वैशाख शुक्ला १२	उदयपुर
३९.	श्री शान्ताकंवरजी म. सा., (द्वि.)	गंगाशहर	सं. २०१८ फाल्गुन कृष्णा १२	गंगाशहर
४०.	श्री लीलावतीजी म. सा.,	निकुम्भ	सं. २०२० फाल्गुन शुक्ला २	निकुम्भ
४१.	श्री कस्तूरकंवरजी म. सा. (द्वि.)	पीपल्यामण्डी	सं. २०२० वैशाख शुक्ला ३	पीपल्यामण्डी
४२.	श्री हुलासकंवरजी म. सा.	चिकारड़ा	सं. २०२१ वैशाख शुक्ला १०	चिकारड़ा
४३.	श्री ज्ञानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	[illegible]	सं. २०२१ आश्विन शुक्ला ८	पीपलियाकलां

४४.	श्री ज्ञानकंवरजी म. सा., (द्वि.)	राणावास	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४५.	श्री प्रेमलताजी म. सा. (प्रथम)	सुरेन्द्रनगर	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४६.	श्री इन्दुबालाजी म. सा.,	राजनांदगांव	सं. २०२३ आश्विन शुक्ला ४	राजनांदगांव
४७.	श्री गंगावतीजी म. सा.,	डोंगरगांव	सं. २०२३ मिगसर शुक्ला १३	डोंगरगांव
४८.	श्री पारसकंवरजी म. सा.	कलंगपुर	सं. २०२३ मिगसर शुक्ला १३	डोंगरगांव
४९.	श्री चन्दनबालाजी म. सा.,	पीपल्या	सं. २०२३ माघ शुक्ला १०	पीपल्यामण्डी
५०.	श्री जयश्रीजी म. सा.,	मद्रास	सं. २०२३ फाल्गुन कृष्णा ९	रायपुर
५१.	श्री सुशीलाकवरजी म. सा.,(द्वि.)	मालदामाड़ी	सं. २०२४ आश्विन शुक्ला २	जावरा
५२.	श्री मंगलाकंवरजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२४ आश्विन शुक्ला १	दुर्ग
५३.	श्री शकुन्तलाजी म. सा.,	बीजा	सं. २०२४ मिगसर कृष्णा ६	दुर्ग
५४.	श्री चमेलीकंवरजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०२५ फाल्गुन शुक्ला ५	बीकानेर
५५.	श्री सुशीलाकंवरजी (तृ.)म. सा.	बीकानेर	सं. २०२५ फाल्गुन शुक्ला ५	बीकानेर
५६.	श्री चन्द्राकंवरजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०२६ वैशाख शुक्ला ७	ब्यावर
५७.	श्री कुसुमलताजी म. सा.	मन्दसौर	सं. २०२६ आश्विन शुक्ला ४	मन्दसौर
५८.	श्री प्रेमलताजी म. सा.,	मन्दसौर	सं. २०२६ आश्विन शुक्ला ४	मन्दसौर
५९.	श्री विमलाकंवरजी म. सा.,	पीपल्या	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६०.	श्री कमलाकंवरजी म. सा.,	जेठाणा	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६१.	श्री पुष्पलताजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६२.	श्री. सुमतिकंवरजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०२७ कार्तिक कृष्णा ८	बड़ीसादड़ी
६३.	श्री विमलाकंवरजी म. सा.,	मोडी	सं. २०२७ फाल्गुन शुक्ला १२	जावद
६४.	श्री सूरजकंवरजी म. सा.,	बड़ावदा	सं. २०२८ कार्तिक शुक्ला १२	ब्यावर
६५.	श्री ताराकंवरजी म. सा., (प्रथम)	रतलाम	" " " "	"

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
११०.	श्री साधनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वै. कृष्णा ७	भीनासर
१११.	श्री अर्चनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३४ वै. शुक्ला १५	"
११२.	श्री सरोजकंवरजी म. सा.,	धमतरी	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११३.	श्री मनोरमाजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११४.	श्री चंचलकंवरजी म. सा.,	कांकेर	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११५.	श्री कुसुमकंवरजी म. सा.,	निवारी	सं. २०३४ भादवा कृष्णा ११	दुर्ग
११६.	श्री सुप्रतिभाजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ आश्विन शुक्ला २	भीनासर
११७.	श्री शांताप्रभाजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३४ आश्विन शुक्ला २	भीनासर
११८.	श्री मुक्तिप्रभाजी म. सा.,	मोडी	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
११९.	श्री गुणसुन्दरीजी म. सा.,	उदासर	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
१२०.	श्री मधुप्रभाजी म. सा.,	छोटीसादड़ी	सं. २०३४ मिगसर कृष्णा ५	बीकानेर
१२१.	श्री राजश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२२.	श्री शशिकांताजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२३.	श्री कनकश्रीजी म. सा.,	रतलाम	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२४.	श्री सुलभाश्रीजी म. सा.,	नोखामण्डी	सं. २०३४ माघ शुक्ला १०	जोधपुर
१२५.	श्री निर्मलाश्रीजी म. सा.,	देशनोक	सं. २०३५ आश्विन शुक्ला २	जोधपुर
१२६.	श्री चेलनाश्रीजी म. सा.,	कानोड़	" " " "	"
१२७.	श्री कुमुदश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	" " " "	"
१२८.	श्री कमलश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०३६ चै. शु. १५	ब्यावर
१२९.	श्री पद्मश्रीजी म. सा.,	महिन्दरपुर	" " " "	"
१३०.	श्री अरुणाश्रीजी म. सा.	[illegible]	[illegible]	[illegible]

			दीक्षा	दीक्षा स्थान
१३२.	श्री ज्योत्स्नाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३६ चै. शु. १५	ब्यावर
१३३.	श्री पंकजश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३४.	श्री मधुश्रीजी म. सा.,	इन्दौर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३५.	श्री पूर्णिमाश्रीजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३६.	श्री प्रवीणाश्रीजी म. सा.,	मन्दसौर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३७.	श्री दर्शनाश्रीजी म. सा.,	देशनोक	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३८.	श्री वन्दनाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१३९.	श्री प्रमोदश्रीजी म. सा.,	ब्यावर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४०.	श्री उर्मिलाश्रीजी म. सा.	रायपुर	सं. २०३७ ज्ये. शु. ३	बुसी
१४१.	श्री सुभद्राश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३७ श्रा. शु. ११	राणावास
१४२.	श्री हेमप्रभाजी म. सा.,	केसींगा	सं. २०३७ श्रा. शु. ३	राणावास
१४३.	श्री ललितप्रभाजी म. सा.,	विनोता	सं. २०३८ वै. शु. ३	गंगापुर
१४४.	श्री वसुमतीजी म. सा.,	अलाय	सं. २०३८ श्रा. शु. ८	अलाय
१४५.	श्री इन्द्रप्रभाश्रीजी म. सा.,	बीकानेर	सं. २०३८ का. शु. १२	उदयपुर
१४६.	श्री ज्योतिप्रभाश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४७.	श्री रचनाश्रीजी म. सा.,	उदयपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४८.	श्री रेखाश्रीजी म. सा.,	जोधपुर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१४९.	श्री चित्राश्रीजी म. सा.,	लोहावट	,, ,, ,, ,, ,,	,,
१५०	श्री लघिताश्रीजी म. सा.,	गंगाशहर	सं. २०३८ का. शु. १२	उदयपुर
१५१.	श्री विद्यावतीजी म. सा.,	सवाईमाधोपुर	सं. २०३८ मि. शु. ६	हिरणमंगरी
१५२.	श्री विख्याताश्रीजी म. सा.,	विनोता	सं. २०३८ मा. कृ. ३	बम्बोरा
१५३.	श्री जिनप्रभाश्रीजी म सा.,	राजनांदगांव	सं. २०३९ चै. कृ. ३	अहमदाबाद

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
१९८.	श्री वैभव प्रभाजी म. सा.,	अकलकुवा	" " " " "	"
१९९.	श्री पुण्य प्रभाजी म. सा.,	शाहदा	" " " " "	"
२००.	श्री लक्ष्य प्रभाजी म. सा.,	जांगलु	" " " " "	"
२०१.	श्री पराग श्रीजी म. सा.,	कपासन	सं. २०४३ चैत सुदी ४	इन्दौर
२०२.	श्री भावना श्रीजी म. सा.,	भीम	सं. २०४३ चैत सुदी ४	इन्दौर
२०३.	श्री सुमित्रा श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	सं. २०४४ वैशाख सुदी ६	बाड़मेर
२०४.	श्री लक्षिता श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	" " " " "	"
२०५.	श्री इंगिता श्रीजी म. सा.,	बाड़मेर	" " " " "	"
२०६.	श्री दीव्य प्रभाजी म. सा.,	डोंडीलोहरा	सं. २०४४ वैशाख सुदी २	इन्दौर
२०७.	श्री कल्पना श्रीजी म. सा.,	रायपुर	" " " " "	"
२०८.	श्री उज्ज्वल प्रभाजी म. सा.,	राजनांदगांव	" " " " "	"
२०९.	श्री अक्षय प्रभाजी म. सा.,	बड़ीसादड़ी	सं. २०४५ जेठ सुदी २	जावरा
२१०.	श्री श्रद्धा श्रीजी म. सा.,	उदयपुर	" " " " "	"
२११.	श्री अर्पिता श्रीजी म. सा.,	बम्बोरा	" " " " "	"
२१२.	श्री समता श्रीजी म. सा.,	खंडेला	" " " " "	"
२१३.	श्री किरण प्रभाजी म. सा.,	नीमच	सं. २०४५ माघ सुदी १०	मन्दसौर
२१४.	श्री पुनीता श्रीजी म. सा.,	बाडमेर	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	बालोतरा
२१५.	श्री पूजिता श्री जी म. सा.,	वायतु	" " " " "	"
२१६.	श्री विवेक श्रीजी म. सा.,	पाटोदी	" " " " "	"
२१७.	श्री चरित्र प्रभाजी म. सा.,	विल्लूपुरम	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	विल्लूपुरम
२१८.	श्री कल्पना श्रीजी म. सा.,	नांदगाव	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	[illegible]

क्र. सं.	नाम	ग्राम	दीक्षा तिथि	दीक्षा स्थान
२१६.	श्री रेखा श्रीजी म. सा.,	नांदगांव	सं. २०४६ वैशाख सुदी ६	निम्बाहेड़ा
२२०.	श्री शोभा श्रीजी म. सा.,	बोल्ठाणा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२१.	श्री गरिमा श्रीजी म. सा.,	नांदगांव	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२२.	श्री स्वर्ण प्रभाजी म. सा.,	उदयपुर	सं. २०४६ पौष सुदी ७	उदयपुर
२२३.	श्री स्वर्ण रेखा श्रीजी म. सा.,	ब्यावर	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२४.	श्री स्वर्ण ज्योति म. सा.	कोटा	,, ,, ,, ,, ,,	,,
२२५.	श्री स्वर्णलता जी म. सा.,	गंगाशहर	,, ,, ,, ,, ,,	,,

समूची मानवता के सार्थक पर्याय

❀ श्री राजेश

पंच महाव्रतों के प्रतिपालक,
जैन धर्म के गौरव !
आचार्य श्री नानेश! आपका व्यक्तित्व एक सूरज है,
जो नित्य नवीन प्रभात देता है !
एक प्रकाश पुंज है,
जो सत्पथ की ओर ले जाता है,
एक जादू है,
जो सत्रांस हर लेता है ।
एक सागर है,
जो नए रत्न देता है ।

इन सब के मध्य,
मैं आपको खोजता हूं ।
आप मेरी जाति के ही नहीं,
बल्कि समूची मानवता के सार्थक पर्याय हैं !
मेरा प्रणाम स्वीकारें, महामुनि !
जहां आप विराजते हैं,
वहां की माटी,
उजली हो जाती है ।

—जैन बोर्डिंग, भवानीमंडी

□

तपोधनी ! तुमको वंदन हो

❀ डॉ. महेन्द्र भानावत

तुमने तिल-तिल तापी काया,
दागी देह, मोह और माया ।
ज्योति जगाई जल जल हलहल,
मधुरे-मधुरे धूपी छाया ।।
जिस पर सांप जहर देते हैं,
तपसीजी तुम वह चंदन हो ।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ।।१।।

तुमने परम आत्म पहचाना,
साधु संत मुनि जिन को जाना ।
कंचन काया की छलनी में,
पतझर के वसंत को छाना ।।
पत को तप में तपा-खपा कर,
तुम तपसी निखरे कुंदन हो ।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ।।२।।

भारत की आध्यात्म भूमि पर,
संत और सत ही सुर देते ।
तन–भट्टी में मन को महका,
अन्तस के असुर हर लेते ।।
दलदल से ऊपर उठकर तुम,
पंकज से निखरे स्पन्दन हो ।
तपोधनी ! तुमको वंदन हो ।।३।।

—३४२, श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर (राज.)

तृतीय खण्ड

आचार्य श्री नानेश व्यक्तित्व दर्शन
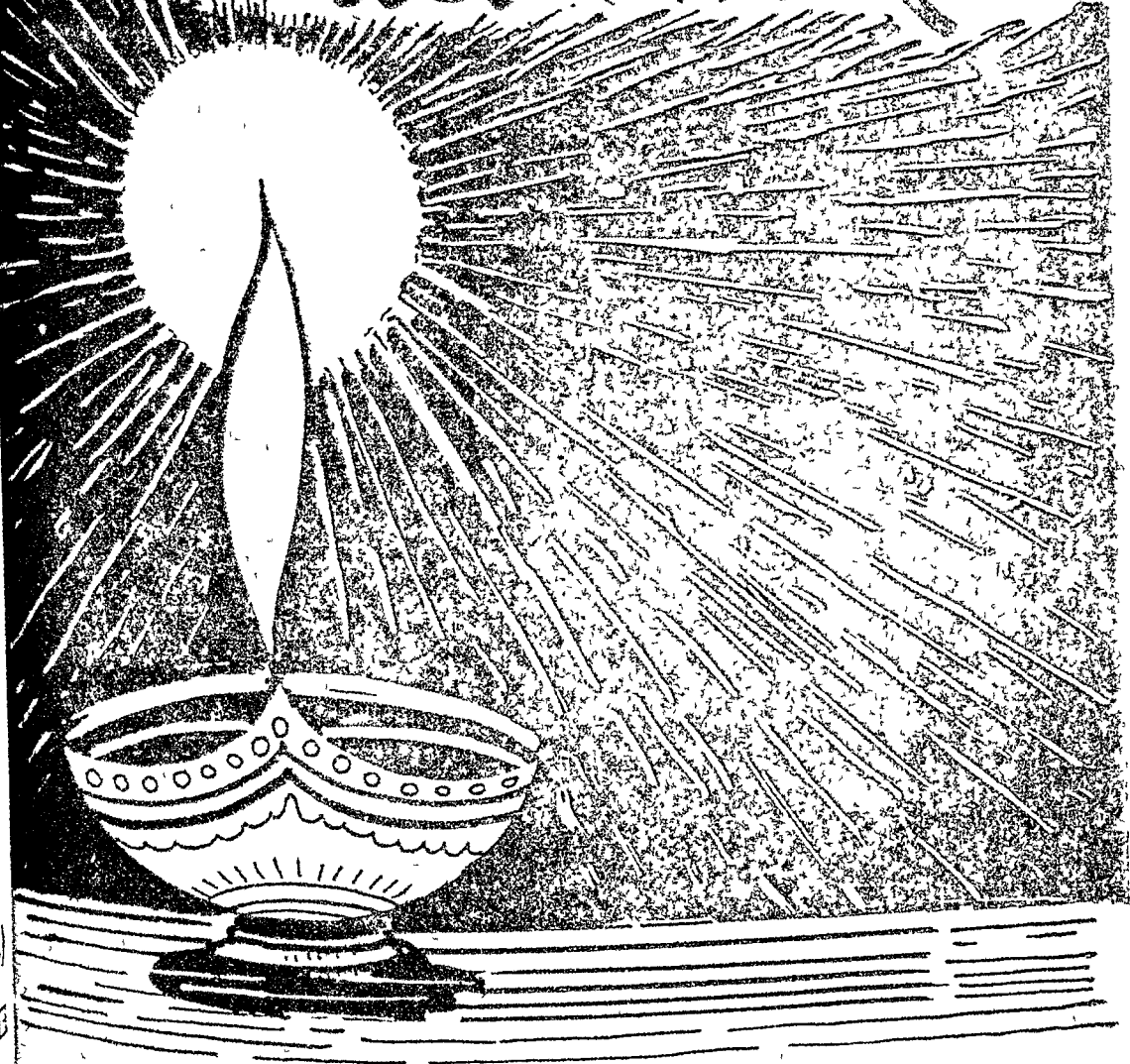
मेरी श्रद्धा के एक मात्र आधार हो तुम !

❀ संकलन–विजय मोगरा

(१)

मेरी जीवन नैया के खेवनहार हो तुम
मेरे हृदय के अनुपम हार हो तुम ।
दिन रात स्मृति रहती है तेरी,
मेरी श्रद्धा के एक मात्र आधार हो तुम ।।

(२)

मेरी साधना सदा तेरा ही अनुगमन करती रहे,
मेरी भावना सदा तेरा ही स्मरण करती रहे ।
एकमेक हो जाय अस्तित्व तुम से,
मेरी धारणा सदा तेरा ही अनुसरण करती रहे ।।

(३)

मन मेरा तेरी ही यादों में खोया रहे,
तन मेरा तेरे ही वादों में पिरोया रहे ।
तेरे ही पथ पर बढता रहूं अविरल,
हृदय मेरा तेरे ही पादों में सोया रहे ।।

(४)

अस्तित्व की विलुप्त शक्ति को तुमने ही जगाया है,
जीवन-पथ प्रशस्त बनाकर जीना सही सिखाया है ।
क्या कहूं मै तेरी गरिमा कही नहीं कुछ जाती,
शासित हो शासक बनकर शासन खूब चमकाया है।।

(५)

सुषुप्त चेतना जगाई तूने शक्ति दीप जगा करके,
प्राण फूंक दिया संघ में तूने ऐक्य भाव अपना करके ।
सुख स्त्रोत भी फूट पड़ा है तेरे अन्तर के तल से,
चमत्कृत किया है जग को तूने समता को अपना करके ।।

(६)

गिरते हुये व्यक्ति को सहारा दिया तूने,
डूबते हुये व्यक्ति को किनारा दिया तूने ।
पालन महाव्रत का करते और करवाते हो,
भ्रमित हुये व्यक्ति को सही इशारा दिया तूने ।।

(७)

चन्द्रमा सम शीतल लग रहा है चेहरा तेरा,
पंकज के सम खिल रहा है चेहरा तेरा ।
देख तुम्हें खुश हो रहा मन मेरा,
सबको आकर्षित करता है चेहरा तेरा ।।

(८)

लौं को जलने के लिये दीपक का सहारा चा
मीन को तिरने के लिये पानी का सहारा चाहि
जीवन नैया को पार करने के लिये मुझको,
हे नरपुंगव ! तुम्हारा सहारा चाहिये ।।

(९)

उठती हुई आहों को भरता चल,
जीवन के कष्टो को सहता चल ।
गुरु 'नाना' के सम्बल को पा,
साधना के पथ पर तू बढता चल ।।

(१०)

ज्ञानदीप जलाकर तुमने अन्धकार मिटाया है,
क्षमाभाव अपनाकर तुमने जीवन खूब सजाया
दुर्गम पथपर अविरल बढ़कर,
जनमन को तुमने समता पाठ पढ़ाया है ।

(११)

रागद्वेष की जड़ें खोखली करने संयम अपनाया है,
समता, शुचिता अरू क्षमा को जीवन में खूब रमाया है ।
निर्भय होकर विकट विपत्तियों की रजनी मे,
चन्द्र द्वितीया सम बढ़कर तुमने शासन खूब चमकाया है ।।

(१२)

अथक परिश्रम को जिसने जीवन मे अपनाय
चिन्तन की धारा को जिसने जीवन में बहाया
झुक जाता है मस्तक मेरा ऐसे ही के चरण
समता के निर्झर में जिसने अपने को नहलाया

(१३)

मेरे जीवन के अमूल्य शृंगार हो तुम,
मेरी कल्पनाओं के जीवन्त साकार हो तुम ।
बिखरी सरिताएं मिलती तव सागर में,
मेरी अभेद सुरक्षा के प्राकार हो तुम ।।

(१४)

समता की है सच्ची आराधना तेरी,
समता ही है सच्ची साधना तेरी ।।
विश्वशान्ति के प्रतीक हो तुम,
समता ही है सच्ची विचारणा तेरी ।।

(१५)

का विस्तार करना है जग में,
को ही आधार बनाना है जग में ।
की सुरभि फैलाने के लिये,
का ही विचार भरना है अग-जग में ।।

(१६)

समता साधना के प्रतीक हो तुम,
निशा के जगमगाते दीप हो तुम ।
अपनी ही निर्मित राह पर चलने वाले,
इस दुनिया के आदर्श निर्भीक हो तुम ।।

(१७)

दीपों को जलाने वाले हो तुम,
जीवों को तिराने वाले हो तुम ।
प नमंसामि करता हूं तुमको,
दु:खों को मिटाने वाले हो तुम ।।

(१८)

हजारों हजार पुरुषों के हृदय सम्राट् हो तुम,
हजारों हजार गुणों के धारी गणिराज हो तुम ।
आत्म-शान्ति-पथ दर्शाने वाले,
हजारों हजार आत्माओं के अधिराज हो तुम ।।

(१९)

म-विकास के पथ पर बढ़ते ही जा रहे तुम,
क की ओर प्रयाण करते ही जा रहे तुम ।
ता-संयम तप से आप्लावित होकर,
ोन्नति भी निरन्तर करते ही जा रहे हो तुम ।।

(२०)

भक्तिशील भक्तों के लिये भगवान हो तुम,
भयभीत आत्माओं के लिये सुरक्षित स्थान हो तुम ।
समतारस की सुर-सरिता में कर अवगाहन,
मुक्ति-पथ वतलाने वाले विशिष्ट विद्वान् हो तुम ।।

—६५ कुशलपुर, बड़ा बाजार उदयपुर (राज.)

"यादों की परतों से"

❀ पीरदान पारख
मंत्री–श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

कई दिनों से सोच रहा था कुछ लिखूं पर क्या लिखूं ? लिखना भी ऐसे महापुरुष के संयमी जीवन तथा उनके सान्निध्य में हुए अपने अनुभवों से, जिनकी महानता का कोई ओर-छोर ही नहीं। फिर भी साहस करके लिखने बैठा। आंखें बन्द करके याद करने लगा कहां से शुरू करूं। धीरे-धीरे चिन्तन सन् १९८२ के अहमदाबाद चातुर्मास के आसपास घूमने लगा।

उदयपुर चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् गुर्जर धरा की ओर आचार्य श्री नानेश के चरण बढ रहे थे। लम्बे अन्तराल बाद हुक्म शासन के पट्टधर के कदम इस धरती की तरफ बढ़ रहे थे। होली चातुर्मास होना था, साथ ही १५ दीक्षाओं का प्रसंग था। अनेक व्यवस्थाएं होनी थीं, करनी थीं। अहमदाबाद जैसी जैन नगरी में यह प्रसंग होने जा रहा था, एक चुनौती जैसी लग रही थी। दिन-रात एक ही चिन्तन रहता था कैसे इस प्रसंग को यादगार बनाया जाय, कैसे यह सब हो सकेगा ? सारी गुजराती स्थानकवासी जैन समाज इस प्रसंग का उत्सुकता पूर्वक इन्तजार कर रहा था। विभिन्न संप्रदाय व संघ सभी तरह सहयोग हेतु तत्पर थे पर दो मुख्य समस्यायें सामने थी--होली चातुर्मास पर शासनेश का का विराजना कहां हो तथा इतने बाहर से पधारने वाले आगन्तुक महानुभावों की आवासीय व्यवस्था किस प्रकार हो। काफी विचार विमर्श राजस्थान स्थानकवासी जैन संघ अहमदाबाद के साथियों में चल रहा था। सभी में एक उत्साह था कि इस कार्य को जैसे भी हो सफल बनाना है।

काफी चिन्तन के बाद एक भवन पर विचार सभी का ठहरा वह था नवनिर्मित लाजपतराय हॉस्पीटल भवन। कई महीनों से प्रस्तुत भवन बनकर तैयार था पर कुछ आर्थिक कारण, कुछ आपसी विचार भेद कार्य को आगे बढने नही दे रहे थे।

सभी साथियों ने मिलकर प्रस्तुत भवन के ट्रस्टीगणों से निवेदन किया पर सीधा उत्तर मिला कि आज तक किसी धार्मिक प्रसंग पर इस भवन को दिया नहीं गया अतः कैसे संभव है। काफी निवेदन किया पर स्वीकृति मिल नहीं रही थी। अचानक एक विचार सूझा तथा उन्हें निवेदन किया गया कि आप प्रयोग के तौर पर ही सही एक बार इस भवन का धार्मिक उपयोग होने दें। धर्म के प्रभाव से सब शुभ होगा शायद यह आपका अधूरा कार्य जो विचार भेद से रुका है शान्त होकर सुलट जावेगा। तब चिन्तन का आश्वासन मिला।

इधर शासनेश नजदीक पधार रहे थे,गुर्जर सीमा में प्रवेश हो चुका था । अनायास भवन के ट्रस्टीगण की तरफ से स्वीकृति की सूचना प्राप्त हुई । सभी साथियों के मन में हर्ष की लहर दौड़ गई ।

एक बात का समाधान तो हो गया पर आवासीय व्यवस्था का प्रश्न अभी वैसे ही खड़ा था । जानकारी मिल चुकी थी कि पास में ही पुलिस कर्मियों वास्ते नये क्वार्टर्स बने हैं जिनका कब्जा अभी सोंपा जाना है तथा संख्या भी काफी थी सारा कार्य सुगमता से सलट सकता था । पुलिस कमिश्नर साहब से निवेदन किया गया पर पता चला कि अभी तक ठेकेदार ने कब्जा नहीं दिया है अतः बात उनके अधिकार मे नहीं है । बिल्डिग ठेकेदार से वार्तालाप करने पर पहले इनकारी मिली पर बाद में पता चला कि यदि कमिश्नर सा. थोड़ा आग्रह करें तो वह शायद राजी हो जावे । काम कठिन था सभी सोच रहे थे कि कैसे क्या किया जावे कुछ सूझ नही रहा था । अचानक कमिश्नर कचहरी से सूचना मिलने वास्ते आई । वहां जाने पर तत्काल अर्जी देने की राय मिली । उसी अनुसार अर्जी पेश की गई जिसकी स्वीकृति भी आश्चयजनक शीघ्रता से प्राप्त हुई ।

सभी अत्यन्त प्रफुल्लित थे सारा कार्य निर्विघन बढ़ता जा रहा था । यथा समय होली चातुर्मास तथा १५ दीक्षाओं का यादगार प्रसंग जो अहमदाबाद के इतिहास में अनूठा था, सानन्द सम्पन्न हुआ । सभी जगह हर्ष व्याप्त था, सभी साथी संतुष्ट थे । बाहर से पधारे हुए मेहमान प्रसन्न थे । स्थानीय स्थानकवासी समाज में भी कुछ प्रशंसात्मक बाते सुनने को मिल रही थी । इन सभी बातों के होते हुए भी मन में एक अदृश्य भय समाया हुआ था कि क्या वास्तव में यह सभी इतना अच्छा हुआ ? क्या हम कसौटी पर खरे उतरे ? इसका निर्णय अभी होना था ।

आगामी चातुर्मास की घोषणा बाकी थी एक ही चिन्तन था क्या हमारी वर्तमान की सफलता में एक चांद और लगेगा ? अथवा चातुर्मास कहीं और घोषित हो जावेगा ?

चातुर्मास घोषणा का दिन था । व्याख्यान पंडाल खचाखच भरा था । अनेक स्थानों की विनंतिया प्रस्तुत थी । आचार्य श्री की अमृतवाणी अबाध गति से प्रसारित हो रही थी । अन्य-अन्य चातुर्मास घोषित हो रहे थे । अब बारी थी स्वयं के चातुर्मास घोषित होने की । एक मिनट का सन्नाटा दूसरे मिनट सारा पण्डाल जयघोष से गूंज रहा था । अहमदाबाद की सफलता में एक चांद और लगने पर ।

आज भी वही दृश्य सामने है । सोच रहा हूं कि क्या बिना ऐसे उत्तम संयमी महापुरुष के उत्तम एवं त्यागमय जीवन के प्रभाव के यह सब संभावित था ?........

—जयपुर (राज.)

विलक्षण व्यक्तित्व

❀ श्री गुमानमल चौरड़िया

परम पूज्य चारित्र चूड़ामणि, समतादर्शन प्रणेता, जिन शासन प्रद्योतक, समीक्षण ध्यान योगी, जिन नही पर जिन सरीखे, प्रातः स्मरणीय, अखड बाल-ब्रह्मचारी १००८ आचार्य श्री नानालालजी म. सा. जैन समाज के विरल आचार्यो मे से एक है । आचार्य के लिए जो छत्तीस गुण होने चाहिये, वे आप में सब परिपूर्ण हैं ।

बाल्यकाल में आपको धर्म के प्रति कोई विशेष रुचि नही थी, लेकिन जब से आप संतों के सम्पर्क में आये, तभी से आपकी प्रवृत्ति में काफी परिवर्तन आया एवं आपकी जिज्ञासा चिन्तनशील बनी, तत्त्वो के प्रति आकर्षित हुई । आप शान्त प्रकृति के एवं गंभीर है । दीक्षा लेने के पश्चात् आप सामान्य संतों की तरह ज्ञानाभ्यास करते हुए भी गंभीरता एव सेवा भावना से ओत-प्रोत थे । आपने स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की जिस समर्पित भाव से सेवा की, उसी का आज यह प्रतिफल है कि आप एक महान् आचार्य के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है । सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र का विशुद्ध पालन करना व करवाना आपको शुरू से विरासत में ही मिला है ।

आप में विशिष्ट ज्ञान हो ऐसा सहज ही प्रतीत होता है । उदयपुर मे जब आप स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की, जिन्हे कैंसर जैसी भयकर व्याधि थी, सेवा में थे, डाक्टरों ने यह कहा कि अब आचार्य श्री का समय नजदीक है, आप अपना अवसर देख सकते है, तब आपने कहा कि मुझे ऐसी बात नजर नही आती । उसके पश्चात् आचार्य श्री काफी महीनों तक विद्यमान रहे । सेवा करते-करते आपको यह ज्ञान हुआ कि अब आचार्य श्री अधिक समय नही निकालने वाले है, तब आपने डॉ. साहब से पूछा कि आपकी क्या राय है । डॉ साहब ने एक ही जबाब दिया कि आपके ज्ञान के आगे हमारी डाक्टरी चल नही पाती है । आपने समय पहचान कर आचार्य श्री से अर्ज किया एवं तदनुरूप स्व आचार्य श्री को संलेखना-संथारा कराया जो अधिक समय नही चला । ऐसा आपमे विशिष्ट ज्ञान एवं दृढ आत्म-विश्वास दृष्टिगोचर होता है ।

आप पूर्ण अतिशयधारी है । जब आपको आचार्य पद प्रदान किया गया, तब आपके पास अल्प मात्रा में शिष्य समुदाय था, उसमें भी अधिकतर स्थविर ही थे । यदि आपका अतिशय नही होता तो शायद इस संघ की जाओजलाली जो आज दृष्टिगोचर हो रही है, नही होती । आपके हाथ से लगभग २६३ भागवती दीक्षाएं हो चुकी है, जो अपने आप में ही एक विशिष्टता लिए हुए है । आपके

पास रतलाम में २५ दीक्षाओं का एक साथ प्रसंग बना, जो इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है, कारण लोंकाशाह के पश्चात् आज तक इस स्थानकवासी समाज में एक आचार्य के पास इतनी दीक्षाएं सम्पन्न नहीं हुई ।

आपकी प्रेरणाएं अप्रत्यक्ष ही होती हैं । जो आपके प्रवचन सुनते है या आपके चरित्र से प्रभावित होते हैं, वे मुमुक्षु आत्माएं आपके पास प्रर्वजित हो जाती है । प्रत्यक्ष मे आप किसी को विशेष प्रेरणा नही देते, लेकिन आपका संयम, आपका जीवन सबके लिए विशेष प्रेरणास्पद है । आपने भगवान का एक वाक्य हृदयंगम कर रखा है "अहा सुहं देवाणुप्पिया" अत: हे देवताओं के प्रिय, जैसा सुख उपजे वैसा ही करो । पर धर्म करने में विलम्ब मत करो ।

आपने स्व. दादागुरु आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. की भावना लक्ष्य मे रखकर अछूतोद्वार का कार्य किया । जब आप रतलाम का प्रथम चातुर्मास पूर्ण कर आस-पास के ग्रामों मे विचर रहे थे, तब आपके पास बलाई जाति के लोग आये और उन्होंने अपनी व्यथा व्यक्त की एवं कहा कि हम धर्मपरिवर्तन कर ले, इसाई बन जाये या मुसलमान बन जावें या आत्महत्या कर लें, कारण हमें कोई गले नहीं लगाता, पशुओं से भी बदतर मारी हालत है । तब आचार्य प्रवर ने एक बात फरमाई कि आप व्यसन बुराइयों, मदिरा, मांस का सेवन वन्द कर दें, समाज आपको गले लगा लेगा । तदनुरूप उन लोगों ने आपकी बात स्वीकार की, बुराइयों का त्याग किया और धर्मपाल बने । आपने आहार-पानी के परिषह की परवाह किये विना उधर के ग्रामों मे विचरण किया, जिसका प्रतिफल यह है कि आज लाखों लोग व्यसन-मुक्त हुए हैं, एवं हजारों लोग धर्मपाल बने है । यह एक ऐतिहासिक कार्य हुआ है ।

साहित्य के लिए आपसे निवेदन किया कि साहित्य संघ का दर्पण होता है, इसके बारे में आप कुछ चिन्तन करें ताकि संघ से हम साहित्य प्रकाशित कर सकें । तदनुरूप आपने बड़ी कृपा करके जो पाण्डुलिपियां संघ को परठी, वह साहित्य संघ द्वारा प्रकाशित किया गया और हमें लिखते हुए परम संतोष है कि जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, एवं होने वाला है, वह अपने आपमें विशिष्टता रखता है ।

संयम-साधना के लिए समता एवं ध्यान दोनों ही आवश्यक है, और दोनों ही दिशाओं में आचार्य प्रवर ने पूर्ण शक्ति लगाकर जो कार्य किया, वह अपने आपमें एक उपलब्धि प्रतीत होती है । समता के बारे में आपका साहित्य पठन करने से पाठक समता के आनंद में रस लेने लगता है, आप्लावित हो जाता है । समीक्षण ध्यान के वारे में आपने जो कुछ लिखा वह भी वहुत ही अनुभवगम्य पाण्डित्य पूर्ण है ।

कषाय-समीक्षण के बारे में जो विशद विवेचन आपने किया है, उसमे

और कितने संसार में रहते हुए भी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं। फिर भला पूरे देश मे परम पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. के सम्प्रदाय के आचार्यों व सतियो ने कितनी आत्माओं का कल्याण किया होगा, गिनती सम्भव नही है। पूज्यश्री के सम्प्रदाय में आढ्यापाठ चल रहा है जिसकी व्याख्या करना तो मेरे लिए सम्भव नहीं है। परन्तु इतना जरूर जानता हूं कि मेरे पूज्य नानाजी श्री बुद्धमलजी दफ्तरी परम भक्त थे और उन्हीं की कृपा से मेरी माताजी का संयम पालने वाले संतों से सम्पर्क बना रहा। उनके आशीर्वाद से हमारा पूरा भीखमचन्द भूरा परिवार इस सम्प्रदाय को मानने वाला है। पुण्योदय के कारण चरित्रवान संतो का ही मुझे सान्निध्य मिला है जिनके संबल और कर्मठ कार्यकर्ता श्री सरदारमलजी काकरिया की प्रेरणा से मैं श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की किंचित सेवा कर सका।

मैं इस लेख को अनुभूत घटनाओं के आधार पर व्यक्तिपरक बनाते हुए आचार्यश्री के सम्पर्क द्वारा जीवन मे हुए परिवर्त्तन पर प्रकाश डालना चाहता हूं। गुरुदेव के सम्पर्क में आने से मैंने आत्म विश्लेषण करने पर पाया कि अपने जीवन में कार्य एवं व्यवहार द्वारा वहुत पाप किए हैं और उस पाप की गठड़ी का वोझ ढोना वहुत दुष्कर है। सुयोग से आचार्यश्री का चातुर्मास देशनोक में वि. सं. २०३२ में हुआ। मैंने अपने मन का वोझ विनीत भावना के साथ गुरुदेव के चरणों में वैठ कर समर्पित किया। अपने दोष मन खोलकर प्रकट किए। करुणानिधान आचार्यश्री ने असीम कृपा कर मुझे कुछ प्रायश्चित दिए जिनका मैंने पालन शुरू किया और १४ वर्षों से कर रहा हूं। तभी से मेरे मन मे शान्ति का स्फुरण और जीवन में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ है। महापुरुषों की शरण मे आने वालों को उनके कृपा प्रसाद से वड़ी शान्ति मिलती है।

पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म. सा. की अर्द्ध शताव्दी दीक्षा महोत्सव के उपलक्ष में स्वर्ण जयन्ती समारोह प्रत्येक गांव, कस्वा, नगर में त्याग और तपस्या के साथ मनाया जा रहा है। मैं भी अपने हृदय से उनके दीर्घजीवी होने की कामना करता हूं कि वे चतुर्दिक अपनी मधुरवाणी से ज्ञानामृतपान कराते रहें और हमारे जीवन को आलोकित करते रहें। आप तो स्वयं सूर्य है, प्रकाश पुंज हैं। आपके जीवन पर हम क्या प्रकाश डालें, हम तो उसके प्रकाश में अपनी राह पाते हैं। आप तो चन्द्र है, हम चक्कोर है। आप तो पूज्य हैं, हम पतित हैं। आपके आशीर्वाद के लिए हम नतमस्तक है।

.....जे पीर पराई जाणे रे।

❀ श्री फतहलाल हिंगर
मंत्री, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान

परम श्रद्धेय आचार्य-प्रवर श्री नानेश का यह दीक्षा अर्धशताब्दी वर्ष है। उनकी अपनी संयम साधना के पचास वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इस काल में हमारे आराध्य देव ने अपनी कठोर संयम साधना द्वारा जिनशासन की अपूर्व अनुपम सेवा की है। यह सर्व विदित है। इन्द्रिय संयम के साथ-साथ प्राणी संयम द्वारा अपने व्यक्तित्व के अन्तरतर में अहिंसा-संयम-तप की त्रिवेणी को निरन्तर प्रवहमान करके आचार्य-प्रवर ने नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। समता दर्शन की गहराइयों में बैठकर अपने जीवन को समता की कसौटी पर कसते और अपने जीवन में पूर्ण स्थान देते हुए कथनी और करनी को साकार किया है आचार्य श्री नानेश ने। वैराग्य अवस्था संयम साधना क्षेत्र में प्रवेश का प्रथम चरण है, प्रथम सीढी है। इस अवस्था में रहते हुए संयम मार्ग में उपस्थित होने वाले कठोर परिषहों को सहन करते हुए संयम पथ पर निरन्तर अग्रसर होने की स्पष्ट भूमिका निर्माण करनी होती है। मनसा, वाचा, कर्मणा-'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के स्वरों को आत्मसात करना होता है।

आचार्य-प्रवर ने अपनी मुमुक्षु अवस्था में ही आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को समझते हुए भोग को रोग एव इन्द्रिय विषयों को विष तुल्य माना था। पूर्ण विरक्ति-शरीर सम्बन्धी ममत्व के परित्याग द्वारा आत्माराधना की—तल्लीनता युक्त अपने मानस सरोवर में पूर्ण वैराग्य की उर्मिया लहराने लगी थी। इस अवस्था के इनके जीवन संस्मरण को याद करते हुए उक्त कथन की पुष्टि होती है।

उदयपुर नगर की ही बात है जब हमारे श्रद्धा के केन्द्र आचार्य–प्रवर वैराग्य अवस्था मे भागवती दीक्षा अंगीकार करने के कुछ ही समय पूर्व नगर में ही मुमुक्षु जीवन व्यतीत करते हुए अध्ययनरत थे। सभी जैन परिवारों की इच्छा सदैव प्रबल बनी रहती थी उनको इनके आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हो।

इसी शृंखला में (मेरे पितामह के अनुसार) हमारे परिवार को अतिथि सत्कार का सौभाग्य मिला-मिलता रहा। एक दिन की बात। प्रासुक भोजनोपरात-हस्तशुद्धि के प्रसग से एक स्थान की ओर इंगित कर दिया गया। स्थान को अयोग्य ठहराते हुए जल को ऊंचे स्थान से गिरने पर पृथ्वी पर चलने वाले जीवों की हिंसा होना स्वाभाविक है, ऐसा निरूपित किया। ऐसी आदर्श अहिंसक

वृत्ति की उच्चतम धारणा के प्रति पारिवारिकजन मन ही मन नतमस्तक हो रहे थे शीघ्र ही अन्य व्यवस्था द्वारा समस्या का समाधान हो सका।

आत्म एवं परात्म का रूप समान है। सब आत्माएं जीना चाहती है। ऐसा साम्य भाव वैराग्य काल में ही अंकुरित हो गया था। कठोर संयमी जीवन की आराधना का मार्ग प्रशस्त कर लिया था। प्राणीमात्र को किंचित मात्र भी कष्ट अपने कर्म द्वारा नहीं पहुंचे। इस पाठ को आत्मसात कर लिया गया है ऐसा सब को आभास हुआ, सब मन ही मन इनके जागरूक संयमी जीवन की इस पूर्व भूमिका की सराहना करने लगे।

जनसाधारण के लिये यह प्रसंग कथन भले ही सामान्य प्रतीत हो पर यह भावात्मक प्रसंग हम सबके लिये निश्चित ही प्रेरणादायक है। सन् १९८१ का उदयपुर का ऐतिहासिक वर्षावास सदा ही स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। समीक्षण-ध्यान का प्रारम्भिक प्रथम सार्वजनिक कथन-उपदेश-विवेचन-जन-जन की तीव्र भावनाओं को लक्ष्य में रखते हुए—श्रद्धेय आचार्य–प्रवर ने किया और इसी वर्ष ध्यान-साधना का यह स्वरूप पुस्तिका के रूप में जनता के समक्ष उपस्थित हो सका।

आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान का शुभारम्भ भी इसी वर्ष हुआ। नगर मे उस समय अन्य सम्प्रदायो के साधु-साध्वीगण भी वर्षावास काल नगर के विभिन्न स्थानों मे व्यतीत कर रहे थे।

एक दिन की बात है श्रद्धेय आचार्य–प्रवर ने सकेत पूर्वक अन्य सम्प्रदाय विशेष की साध्वीजी को उनके निवास स्थान के समीप ही एक ईसाई परिवार द्वारा निरन्तर अशिष्ट अभद्र व्यवहार से हो रहे कष्ट का करूणाजनक विवरण स्वयं साध्वियों के मुंह से सुनकर उचित आवश्यक व्यवस्था-निरापद स्थान की करने हेतु साधु भाषा मे मुझसे कहा। व्यवस्था समुचित हो चुकी है ऐसे समाचार ज्ञात होने पर उनके मुख मंडल पर सन्तोष की झलक हमें दिखाई दी। इससे सहज ही अनुमान लगता है उनकी रग–रग मे प्रवाहमान करूणाभाव का।

उदयपुर के वर्षावास की समाप्ति पर गुरुदेव का विहार गुजरात प्रान्त की ओर हो रहा था। मेवाड़ की अरावली पहाड़ियो का मार्ग दुर्गम होने के साथ ही आदिवासी बाहुल्य है। श्रमण जीवन की समुचित आराधना हो सके उस स्थिति से कठोर तो है ही, फिर उन दिनों आचार्य श्री का स्वास्थ्य पूर्ण अनुकूल नही होने से 'डोली' साधन के प्रयोग का आग्रह शिष्य मण्डली का रहा। साथ संयोगवश कुछ समय के लिये विहार में साथ रहने का सौभाग्य-सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ।

मैंने देखा आचार्य श्री जब डोली मे विराजते हुए कंटीले और पथरीले मार्ग पर संतों के कंधो नही चाहते हुए भी विहार कर रहे थे तो मुख-मुद्रा

अत्यन्त म्लान थी। लगता था संतों को डोली उठाकर चलते हुए देखकर उनके हृदय में तीव्र वेदना हो रही है। वे सबके कष्टों को समझ रहे थे अनुभव कर रहे थे—पराई पीर जान रहे थे—पर स्वास्थ्य की प्रतिकूलता एवं सन्तों का आग्रह जो था।

इन्ही दिनों मैं आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान द्वारा शीघ्र प्रकाश्य समता दर्शन एवं व्यवहार का अंग्रेजी अनुवाद देख रहा था। मेरे मन में यह विचार उठा कि प्रत्येक दर्शन किसी न किसी सीमा तक आबद्ध है। परन्तु 'समता दर्शन' की किसी सीमा का कोई निर्धारण नहीं है। यह तो सम्पूर्ण मानव जीवन के कल्याण हेतु उसे उन्नत नैतिक एवं सामाजिक बनाने की ओर संकेत करता है। समता दर्शन-विश्व दर्शन है। इसके अध्ययन के पश्चात् किसी अन्य दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती।

३०६/४, अशोक नगर, उदयपुर (राज.)

□

चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व

❀ श्री शांतिलाल रांका

अजमेर चातुर्मास सम्पूर्ण कर आप ग्रामानुग्राम विहार करते हुए होली चातुर्मासार्थ हेतु सोजत की तरफ पधार रहे थे। उस समय माघ सुदी में जयनगर भी आपका दो रोज के लिये विराजना हुआ। उस समय आपके पधारने पर पूरे ग्राम पर केसर की वर्षा हुई जिसको बच्चे, बूढ़ों, नवयुवकों सभी ने बड़े ही हर्ष के साथ प्रातः ही अपने-२ घरों की छतों पर जाकर साक्षात् देखा। सभी आपके प्रति श्रद्धान्वित हो गये।

उसी सन्दर्भ में दो रोज में एक रोज रविवार का था। बाहर व ग्राम के दर्शनार्थियों की उपस्थिति विशेष थी। बाहर श्रीसघों में ब्यावर, विजयनगर, गुलाबपुरा, भीम, आसीन्द, बदनोर, अन्टाली, खेजडी, बाखी, शम्भूगढ़ व कई ग्रामों से पधारे हुए करीब तीन हजार की जनमेदिनी थी। श्रीसघ को चिन्ता थी कि रसोई (भोजन) केवल पन्द्रह सौ आदमियों की है, कैसे क्या होगा? परन्तु सभी तीन हजार आदमी भोजन से निवृत्त हो गये। शेष और बच गया। यह सब न जाने कैसे हुआ? उस घटना को याद कर अब भी आश्चर्य होता है। आप जैसे महापुरुष के चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व को शत-शत वन्दन।

मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ
मु. जयनगर, पो. शम्भूगढ (जि. भीलवाड़ा)

शास्त्रों के उद्भट विद्वान्

❀ श्री धनराज बेताला

आचार्य पूज्य श्री नानालाल जी म. सा. के जैन भागवती दीक्षा के अर्धशताब्दी वर्ष के दृश्य देखने वाले हम सब अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं। आचार्य श्री जी ने अपनी साधना के इन ५० वर्षों में कितनी क्या उपलब्धि की है, इस निरन्तर साधना से वे कितने आगे बढ़ गये हैं इसका आकलन विशेष तो उनके सान्निध्य मे साधनारत साधक ही कर सकते है हम श्रावकों के द्वारा तो संभव नहीं है।

आचार्य श्री जी का संयमी जीवन, साधना के क्षेत्र में जहां एक विशिष्ट स्थिति तक पहुंचा हुआ प्रतीत होता है वहां ज्ञान के क्षेत्र में वे जितनी ऊंचाइयों तक पहुचे है उसकी झलक तो कई अवसरो पर विद्वानों के उल्लेख से प्राप्त होती है। आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यानों में प्रतिपादित समता दर्शन व आगमों के निचोड़ रूप जो व्याख्याएं प्राप्त हुई है उसका जिन्होने अध्ययन किया है वे इतने प्रभावित हो जाते हैं कि हृदय आदर से ओत-प्रोत हो जाता है।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने आचार्य श्री जी द्वारा उद्घाटित आगमो के विचारों के कुछ अंशों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया है लेकिन संघ भी अपने सीमित साधनों के कारण आचार्य-प्रवर से जो प्रज्ञा प्राप्त कर सकता है वह नहीं कर पा रहा है फिर भी जो प्रकाशन संघ ने समाज के सन्मुख किया है उसका इतना सुन्दर प्रभाव अंकित हुआ है कि वह अपने आप में बेमिशाल है।

इसी अर्धशताब्दी वर्ष के चातुर्मास काल के प्रारम्भ में कानोड़ मे श्री जैन विद्वद् परिषद द्वारा समता संगोष्ठी का आयोजन किया गया था जिसमें भारत भर के विद्वान सम्मलित हुए। उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री डॉ. प्रेमसुमन जैन ने बतलाया कि मैंने एक शोध विद्यार्थी को जैन सिद्धान्त के एक विषय पर शोध निबन्ध लिखवाया। उक्त विद्यार्थी ने विभिन्न विद्वानो के ग्रन्थों के आधार पर लेख तैयार किया व उक्त लेख के सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख किया। श्री जैन ने बताया कि उन सब सन्दर्भों में हर सन्दर्भ स्थान पर आचार्य पूज्य श्री नानालालजी म. सा. द्वारा व्याख्यायित पुस्तक "समता दर्शन और व्यवहार" का उल्लेख था। तात्पर्य यह कि उक्त एक पुस्तक से उसने सारे सन्दर्भ प्राप्त किये।

जैन दर्शन के जो भी विद्वान् आचार्य पूज्य श्री के सम्पर्क मे आया वह उनसे अत्यन्त प्रभावित हुआ। ध्यान के क्षेत्र में आचार्य श्री जी की समीक्षण ध्यान विधि जब साधकों के सामने आई तो उसका एक अनूठा प्रभाव पड़ा।

वर्तमान युग में समीक्षण ध्यान विधि के सामने आने से पूर्व कई ध्यान विधियां प्रचलित हो गई थीं अतः सबका ध्यान उन विधियों से तुलनात्मक दृष्टि से देखना अस्वाभाविक नहीं लगता । अन्यान्य ध्यान पद्धतियों के प्रायोजकों की आलोचना भी सामने आई प्रेक्षाध्यान पत्रिका में आलोचना प्रकाशित हुई । तो आचार्य-प्रवर के सन्मुख समीक्षण ध्यान के विषय में विवेचन हेतु निवेदन किया गया । जो समाधान प्राप्त हुआ वह विद्वदजनों के लिए मार्ग दर्शक रूप था । वह श्रमणोपासक में प्रकाशित किया गया । श्रमणोपासक में प्रकाशन से पूर्व डॉ. श्री नरेन्द्र भानावत से मैंने समीक्षण ध्यान के सम्बन्ध में प्राप्त समाधान के अवलोकन का निवेदन किया तो डॉक्टर श्री भानावत ने फरमाया कि उत्तर प्रत्युत्तर में नहीं पड़ना चाहिए किन्तु मैंने पुनः निवेदन किया तो डॉक्टर सा. ने आद्योपान्त अवलोकन किया व हर्ष मिश्रित विस्मय पूर्वक कहा कि समीक्षण ध्यान के इतने शास्त्रीय उदाहरण तो विशिष्ट ज्ञाता ही दे सकते हैं ।

समीक्षण ध्यान की चर्चा के साथ ही आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यायित एवं क्रोध समीक्षण, मान के रूप में प्रकाशित पुस्तकें पाठक वृन्द के हाथों में है । क्रोध समीक्षण की पांडुलिपि पं. शोभाचन्द्र जी भारिल्ल को अवलोकनार्थ प्रेषित की गई जिसको सरसरी तौर पर देखकर पंडित सा. ने बिना किसी टिप्पणी के लौटा दी । इस पर पांडुलिपि उनको भेजकर पुनः निवेदन किया कि आप इस पांडुलिपि को देखकर यह बताएं कि इस में कहीं शास्त्रीय विचारणा के विरुद्ध कोई सामग्री तो नहीं है । पंडित सा. ने पांडुलिपि का सावधानी पूर्वक अवलोकन किया और पुस्तक के बारे में बताया कि क्रोध समीक्षण के संबंध में इतने शास्त्रीय प्रसंग भी हो सकते हैं यह तो शास्त्रीय ज्ञान में विशिष्ट पैठ रखने वाले अनुभवी प्रज्ञाशील आचार्य-प्रवर जैसे ज्ञाता द्वारा ही संभव है ।

उपर्युक्त उदाहरणों को प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह है कि आचार्य भगवन् से जो विशाल ज्ञान का नवनीत हमें उपलब्ध कर लेना चाहिए वह नहीं कर पाये है । इसके लिए आचार्य श्री के इस दीक्षा अर्ध-शताब्दी प्रसंग के अवसर पर हम संकल्प पूर्वक संलग्न होकर उन अनुपलब्ध अप्रकाशित ज्ञान बिन्दुओं को प्रकट कर जनमानस के सन्मुख यदि प्रस्तुत कर सकें तो हमारे प्रयत्नों की सार्थकता होगी । इसी शुभाशंसा के साथ ।

मंत्री, श्री सु. सांड शिक्षा सोसायटी, नोखा
पूर्व मंत्री, श्री अ. सा. साधुमार्गी जैन संघ

भंते ! आपकी घोषणा से हम बड़े भयभीत हो रहे हैं । कहां सरदारशहर व
कहां गोगोलाव ? भयंकर गर्मी का मौसम रहेगा । पूरा पानी भी आपके कल्पनीय
मिलना कठिन है । उस समय आचार्य भगवन् ने फरमाया कि चिंता जैसी कोई
बात नहीं है । हम लोग परिषहों से घबराने वाले नही है । उस समय देखें क्या
कुदरत बनती है । आचार्य भगवन से पुनवानी से आपके मुखारविन्द की निकले
शब्दों से ऐसा हुआ कि गोगोलाव दीक्षा प्रसंग पर जोरदार बरसात होकर ऐसा
दिखने लगा मानो सावन-भादो आ गया है । इतना ही नही बल्कि गोगोलाव से
लेकर सरदारशहर तक समय-समय पर बरसात होकर मौसम ऐसा ठंडा रहा कि
गर्मी बिल्कुल शांत रही ।

(३) चरण-रज का प्रभाव

गंगाशहर-भीनासर प्रवासकाल की घटना है । श्री गंगानगर (राज.)
में एक अजैन भाई के मस्तिष्क में काफी अर्से से भयंकर दर्द हो रहा था । उसने
अनेक जगह जाकर बड़े-बड़े डाक्टरों व वैद्यों से इलाज करवाया लेकिन कोई
लाभ प्रतीत नहीं हुआ । वह बिल्कुल निराश हो गया । वह इस बीमारी से अति
चिन्तित भी हुआ । उस समय देशनोक निवासी श्री तोलारामजी आंचलिया ने
उस भाई को कहा कि आचार्य श्री नानालालजी महाराज साहब अभी भीनासर
विराज रहे हैं । वे बड़े प्रतापी व उच्च कोटि के आचार्य है । हालांकि मैं तेरा
पंथ को मानने वाला हूं, लेकिन मेरी आचार्यश्री जी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व आस्था
है । तुम गंगाशहर-भीनासर जाकर आचार्य श्री जी म. सा. जब बाहर जंगल के
लिए पधारें तो तुम पीछे-पीछे जाकर उनके चरणों की रज लेकर अपने मस्तिष्क
पर रगड़ लेना । ऐसा प्रयोग थोड़े दिन करने पर ही तुम्हें आरोग्य लाभ प्राप्त
हो जाएगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है । वह अजैन भाई बीमारी से बहुत दुखित
था । श्री तोलारामजी के कहने पर तुरंत गंगाशहर-भीनासर आकर आचार्य भग
वन के चरणों की रज लेकर श्रद्धा से लगाने लगा । उस अजैन भाई को ऐसा
चमत्कार हुआ कि अति शीघ्र बिल्कुल स्वस्थ हो गया । इस घटना का वृतांत
मैंने एक अति विश्वसनीय व्यक्ति से दिल्ली में सुना था । जब कुछ समय बाद
मेरा बीकानेर जाने का संयोग बना तो श्री तोलारामजी आंचलिया मुझे हॉस्पिटल
में अनायास ही मिल गए । मैंने उपर्युक्त घटना की उनसे जानकारी लेनी चाही
तो श्री आंचलियाजी ने मुझे कहा कि आपने जो सुना, बिल्कुल सत्य घटना है
वैसे आचार्य भगवन के चरण-रज में पूर्ण श्रद्धा रखने वाले कई व्यक्तियों को
लाभ पहुंचा सुन रहे हैं, लेकिन यह घटना मेरी जानकारी में बिल्कुल सत्य है।

—देशनोक

मेरे अटूट श्रद्धा केन्द्र : आचार्य श्री नानेश

❀ श्री चम्पालालजी डागा

सहमंत्री–श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

समता विभूति, परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, जिन-शासन प्रद्योतक, चार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अंगीकार किये पचास वर्ष ण्न्न हो रहे हैं। जिसको प्रतीक वर्ष मानकर हम श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन घ के सदस्यगण दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के रूप में मना रहे हैं। आचार्य प्रवर क ऐसे महान संत, एक ऐसे विशिष्ट योगी है जिनके साधनामय जीवन में जो नके निकट आया वह अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका है। आचार्य श्री के ीवन-साधना के विभिन्न आयामों से यदि हम उनके जीवन प्रसंगों को उद्घाटित रने लगें तो प्रचुर सामग्री हो जाती है।

हम धन्य है कि चरम आधुनिकता के इस युग में श्रमण संस्कृति के अडिग रक्षक के रूप में आचार्य श्री जी की जीवन साधना युगों-युगों तक साधकों को प्रेरित करती रहेगी। आज चारों ओर से वैज्ञानिकता को आधार मान कर कई प्रवृत्तियों में युगान्तरकारी परिवर्त्तन हेतु वातावरण बनाकर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाता है लेकिन संयम मार्ग में सिद्धान्तों की सुरक्षा के साथ यदि कोई परिवर्त्तन की बात सामने आती है तो उस पर आचार्य श्री जी द्वारा मार्ग दर्शन व मान्यता प्राप्त हो जाती है लेकिन सिद्धान्तों के विपरीत परिवर्त्तन की बात पर आचार्य श्री जी कभी समझौता स्वीकार नही करते हैं। ऐसे विशिष्ट योगी के समक्ष अपनी बात प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति स्वयं ही नतमस्तक हो जाता है।

आचार्य प्रवर के दीक्षा का यह अर्द्ध शताब्दी वर्ष हमें प्राप्त हुआ है। आचार्य प्रवर के सान्निध्य स्मरण मात्र से अनेक संस्मरण प्रस्फुटित होते है जिनको लिपिबद्ध किया जाय तो न मालूम कितने पृष्ठ चाहिए।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के क्षेत्र विस्तार, आचार्य प्रवर के विचरण, आचार्य प्रवर से प्रेरित होकर दीक्षित होने वाले साधक–साधिकाओं, आचार्य श्री जी द्वारा मालव प्रान्त में प्रदत्त उद्बोधन मात्र से सप्त कुव्यसन त्याग कर बने धर्मपाल बन्धुओं के विशाल क्षेत्र, समीक्षण ध्यान निधि के प्रयोग एवं उन पर व्याख्यायित अनुभवों को पिरोकर पुस्तकाकार प्रस्तुति इत्यादि अनेकानेक कार्यो को सम्पन्न करने में मेरा भी जो योगदान रहा है। उसमें कई बार कई स्थलों को यथोचित विधि से न समझ पाने के कारण मेरे एवं संघ कार्यालय द्वारा त्रुटियां होती रही हैं। लेकिन उन स्थलों की समीक्षा के समय आचार्य

सेवा की अनुपम साधना एवं विनम्रता की अनूठी भावना से । अपने गुरु आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की जो आपने वर्षो तक भाव-प्रवण सेवा की, वह सेवा के क्षेत्र में एक आदर्श है । छोटे-बड़े, सभी सन्तों की सेवा के प्रति आप सदा उत्सुक एवं सचेष्ट रहे हैं । अपने को सदा 'नाना' कहने और मानने वाला यह निखरा हुआ स्वर्ण आज महानता की दीप्ति से प्रदीप्त है । अष्टम पाट की भविष्य-वाणी को सत्य सिद्ध करता हुआ यह स्वर्ण आज दप् दप् दमक रहा है आत्मिक एवं आध्यात्मिक तेजस्विता से ।

विचारों का सुदृढ़ धरातल आपके पांवो के नीचे है—चाहे वह आगमो का विश्लेषण हो या समता-दर्शन का प्ररूपण, आधुनिक वैज्ञानिक विषयों की समीक्षा हो या सामाजिक समानता की चर्चा । आपकी प्रवचन धारा, प्रश्नोत्तरी एवं ज्ञान वार्ता सदा ठोस चिन्तन पर आधारित होती है । कहने को माइक्रोफोन का साधु द्वारा प्रयोग एक छोटी-सी बात लगती है किन्तु इसका प्रयोग न करने के सम्बन्ध में आपका तर्क अकाट्य है कि मूल अहिंसा व्रत में स्पष्ट दोष (माईक से अग्नि-वायु के जीवों की हिसा होना विज्ञान सिद्ध है) लगाकर साधु अपने साधुत्व को स्थिर और शुद्ध नही रख सकता है । साधुत्व खोकर कोई साधु कितना लोकोपकार कर लेगा ?

स्वर्ण की दमक प्रखर होती ही गई माघ कृष्णा द्वितीया वि. सं. २०१९ से, जब आप आचार्य पद से प्रतिष्ठित किये गये । 'जय गुरु नाना' लाखो युवक युवतियों, वृद्धों बालकों, धनिको व निर्धनो का कंठ स्वर बन गया । आपके प्रति लोगों की भक्ति का आवेग देखते ही बनता है । अपनी जयकार के गगनभेदी नारो के बीच में भी आपकी विनम्र मुखाकृति नई क्रांति, नई शान्ति की सम-न्वित प्रेरणा बन जाती है ।

आज यह स्वर्ण दमक रहा है अपने सम्पूर्ण निखार के साथ । वह नई चेतना दे रहा है, नया दर्शन दे रहा है, नई कान्ति फूंक रहा है । परन्तु प्रश्न है कि उनकी भक्ति क्या उनके तेज-दर्शन तक ही सीमित है या उसे दृढ़ता के साथ कर्म क्षेत्र मे भी उतरना चाहिये ? कर्म क्षेत्र मे वह नहीं उतरी है, ऐसा मैं नही कहता किन्तु समता मय एक नया और व्यापक परिवर्तन लाने के लिये इस भक्ति को अतिशय कर्मठ बनना होगा । स्वर्ण को कुन्दन के स्वरूप मे संस्थापित करने के लिये ऐसी कर्मठता अनिवार्य है ।

आचार्य श्री दीर्घायु हों, उनकी तेजस्वी क्रान्तिकारिता अमर बने ।

धैर्य, क्षमा, शान्ति और दृढ़निष्ठा की सजीव मूर्ति

❀ श्री जोधराज सुराणा

विरल विभूतियों के विषय में लिखना अनधिकार चेष्टा ही नहीं, गूंगे के गुड़ के स्वाद की भांति माना जायगा, फिर भी भक्तिवश श्रद्धानत होकर कुछ लिखने के लिए आशान्वित हूं ।

आचार्य श्री की दीर्घ संयम-साधना के ५० वर्षों में जैसे सोना अग्नि में तप कर अपने वास्तविक गुणों से निखर उठता है, उसी तरह आचार्य श्री अपनी संयम-साधना के अनेक झंझावातों को पार कर धैर्य, क्षमा, शान्ति और दृढ़निष्ठा की सजीव मूर्ति के रूप में विराजमान हैं । उनकी संयम-साधना तीव्रगति से आगे बढ़ती जा रही है और 'चरैवेति–चरैवेति' के शब्दों को सफल करती हुई अपने प्रकाण्ड पांडित्य से आह्वान कर रही है ।

आपका आगम की तरह खुला हुआ पावन जीवन, गंगा के निर्मल स्रोत की तरह, प्रवाहित होता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र के शीतल जल से चतुर्विध संघ का सिंचन कर रहा है ।

आप ध्यान, स्वाध्याय, व्याख्यान, प्रश्नोत्तर और अपने शिष्य–समुदाय के साथ धार्मिक चर्चाएं, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन और आगमों के तत्त्वों को गूढ़ रहस्य समझाना और बड़े स्नेह और आत्मीयता के साथ वर्तमान गतिविधियों की समालोचना करते हुए, साधु-समाचारी का दृढ़ता के साथ पालन करने का बोध देते है, वीर-संदेश को हर क्षण स्मरण कराते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा देते है । यही कारण है कि आज साधु-साध्वी समुदाय की आचार्य श्री नानेश के प्रति अनुशासनात्मक पूरी निष्ठा है, जो जीवन उत्थान के लिए आवश्यक है ।

पद–प्रतिष्ठा की आपको चाह नहीं । आप साधु समाचारी का जीवन–व्यवहार में पालन करते और कराते हुए निरन्तर गतिशील है साध्य की ओर ।

मुझे स्मरण है, सन् १९३० को जब मैं बीकानेर में पढ़ता था, तब से आचार्य श्री के निकट रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, आपके प्रति मेरी श्रद्धा दिनोंदिन बढ़ती ही रही है ।

मेरी हार्दिक कामना है कि आपके अन्तःकरण और रोम-रोम में समाई हुई समता, शान्ति और करुणा का घर-घर में प्रचार हो । आपकी कर्त्तव्य निष्ठा और साहस का सम्मान करते हुए हम आगे बढ़ें । इसी मंगलमयी श्रद्धा और भक्ति के साथ शत-शत वन्दन, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।

—श्री जैन शिक्षा समिति,
नं. २०, प्रीमरोज रोड़, बैंगलोर–२५

भीड़ में भी अकेले

❀ डॉ. महेन्द्र भानावत

वे भीड़ में भी अकेले रहते । न वे उसे जोड़ पाते न भीड़ ही वहां थम पाती । वे अकेले के अकेले होते । अपने गुरु के पास । गुरु जो आचार्य था । वहुत वड़े संघ का । संघ स्थानकवासी जैनों का । भीड बारहों मास । उफनती नदी की तरह । चातुर्मास में तो जैसे समुद्र उमड़ता ।

भीड़ धर्म की । अध्यात्म की । त्याग की । विराग वैराग्य की । समता की । व्रतधारियों की । संयमशीलों की । साधकों की । भाइयों की । वाइयों की । जैनों की । अजैनों की ।

यह भीड़ रूकती नहीं थी मगर झुकती तो थी । धर्म संदेश नहीं सुनती थी मगर जीवन मंगल की मुस्कान तो लेती थी । एक ऐसी मुस्कान जो वच्चा सोते में दे जाता है । जो उसकी समझ की नहीं होती । होने के लिए होती है । यह मुस्कान सवको प्यार देती है । सवका स्नेह लेती है । वच्चा किसी का हो । कोई हो ।

यह सब देखा मैंने वीकानेर में । एक बत्तीसी पूर्व । जब कॉलेज का छात्र था ।

और आज देख रहा हूं वे भीड़ से घिरे हैं । थमती हुई भीड़ नमती हुई नदी की तरह । तब वे साधु थे । अव आचार्य हैं । तव वे नानालाल थे । अव नानेश है ।

उदयपुर के दांता गांव में पोखरना परिवार से जुड़े आचार्य नानेश १९ वर्ष की उम्र में दीक्षित हुए । २६ वर्ष पूर्व उदयपुर में ही आचार्य पद पाया । साधु जीवन में सर्वाधिक सान्निध्य अपने गुरु आचार्य गणेशीलालजी का ही लिया ।

मालवा में शोषित एवं दलित बलाई जाति के लोगों को धर्म संदेश देकर धर्मपाल बनाया जिनकी संख्या आज अस्सी हजार के करीव है ।

अपने दीक्षा जीवन के ५० वर्ष में हजारों मीलों की पदयात्रा कर प्रांत-प्रांत घूमने और जन-जन में सुधर्म का जागरण किया ।

जन-जीवन में व्याप्त विषमता की विविध ग्रन्थियों को दूर कर उन्हें शुद्धाचार और स्वच्छ वायुमण्डल प्रदान करने के लिए समता दर्शन सिद्धांत का प्रतिपादन किया ।

मानसिक विकारों के शमन और परिशोधन के लिए समीक्षण ध्यान पद्धति का सूत्रपात किया ।

बाल-विवाह दहेज मृत्यु भोज जैसी सामाजिक कुरीतियों को त्यागने की रेरणा दी। समाज में अण्डा, मांस और नशीले पदार्थों के सेवन की बढ़ रही वृत्ति को घातक बताते हुए संकल्पपूर्वक इनका त्याग करने और जीवन शुद्धि को ढ़ावा दिया।

समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भाईचारा बढ़े। समता भाव जागे। नावों व टकरावों से मुक्ति मिले। विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त हो। चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों का विकास हो, इसके लिए आचार्य नानेश ने जहां अपने साधु-साध्वियों के सिंघाड़े तैयार किये हैं वहां श्रावक-श्राविकाओं के कई संगठन इस कार्य में लगे हुए।

आगामी ४ जनवरी को आचार्य श्री नानेश ने अपने दीक्षा जीवन की अर्द्ध शताब्दी को पूरी की है। वे इस आधी शताब्दी को पूरी शताब्दी दें और जन-जन को अपने समता रस से समरसता प्रदान करते रहें, यह मंगल-कामना हमारी सबकी है।

—निदेशक, भारतीय लोकल मण्डल, उदयपुर

□

विनम्रता और सेवाभाव

❀ श्री शंकर जैन

[१]

ब्यावर चातुर्मास हेतु गुरुदेव भीम से विहार यात्रा पर थे। प्रवास में एक युवा संत बीमार थे, फिर भी पैदल प्रवास कर रहे थे, ब्यावर जो पहुंचना था। रात्रि में संत थकान से शिथिल होकर लेट रहे थे। थकान के कारण कराहने की धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। कुछ ही दूरी पर गुरुदेव सो रहे थे, वे जग गये तो उठकर संत के निकट गये व उनके पैर दबाने लगे। संत बोले—गुरुदेव आप ! कष्ट मत कीजिये। गुरुदेव बोले—मैं नाना हूं बोलो मत, अन्य संत जग जायेंगे और संत के पैर दबाने का क्रम जारी रखा।

[२]

घटना उन दिनों की ही है जब जवाजा के आसपास एक संत बीमार हो गये और उन्हें दस्त लगने लगे। गुरुदेव खुद मल साफ करते, मल बाहर डाल कर आते। रोगी संत की विनम्रतापूर्वक उन्होंने सेवा की। वे आचार्य थे किन्तु अनुशासन के कठोर आचार्य को इस प्रकार की सेवा करते देख सब कोई अचम्भित थे। सतों में सनसनी थी—आचरण में नियमों के प्रति कठोर दिखने वाले गुरुदेव कितने विनम्र हैं।

—एडवोकेट, भीम (उदयपुर) राज.

संयम जिनका जीवन है

❀ डॉ. प्रेमसुमन जै

जिस युग में प्रचार-प्रसार के, आत्म-प्रदर्शन के, सम्मान-प्रतिष्ठा आयोजन-समारोहों के इतने द्वार खले हों कि व्यक्ति भ्रमित हो जाय अप प्रसिद्धि और पदपूजा के लिए, उस युग में अपने मूल धर्म और समाचारी ग्रह के समय ली गयी प्रतिज्ञाओं के निर्वाह में सहजता से लगे रहना किसी सच्चे निस्पृही साधु के ही वश की बात है। ऐसे साधु ही साधुमार्ग/मुनिमार्ग के स पथिक कहे जाते हैं। उनका जीवन और संयम एक दूसरे के पर्यायवाची होते है ऐसे संयमी साधकों मे अग्रणी है—समता-दर्शन प्रणेता आचार्य श्री नानालाल महाराज। जन-जन के मन में प्रतिष्ठित आचार्य श्री नानेश।

आचार्य नानेश ने संयम को वह प्रतिष्ठा प्रदान की है, जिससे जैन ध श्रमण धर्म का प्राचीन/असली स्वरूप उजागर होता है। महावीर की वाणी धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। इस त्रिगुणी धर्म की जो परम्परा इस मे चली, उसमें तप को प्रमुखता मिली। तप के कठोर से कठोर रूप साधु-सम में अपनाये जाते रहे। अहिंसा भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली गयी। खान-प में विभिन्न रूपों में वह प्रविष्ठ हो गयी, किन्तु संयम की पकड़ दिनों-दिन समाज के घटकों से शिथिल होती गयी। उसी का परिणाम है कि साधुवर्ग श्रावक समुदाय उन अनेक क्षेत्रों मे प्रवेश कर गया, जहां जाने की अनुमति श्रमण धर्म नहीं देता। परिग्रह की वृद्धि, व्यवसाय में हिंसा, संस्कारों मे शिथिल प्रदर्शन हेतु भागदौड़, साहित्य-लेखन मे प्रवंचना आदि सब असंयमित जीवन ही परिणाम हैं। समाज के कुछ इने-गिने जिन साधु-सन्तों ने असंयम की प्र त्तियों को रोकने का प्रयत्न किया है, उनमें आचार्य नानेश के संयमी प्रयत्न वि ध्यान देने योग्य हैं, मननीय हैं।

आज से बाईस वर्ष पूर्व जब आचार्य श्री नानेश के सम्पर्क में आने सौभाग्य मुझे मिला तब उनके स्वयं के जीवन में और उनके संघ में संयम जो मशाल प्रज्वलित थी, वह आज और अधिक देदीप्यमान हुई है। उसने आयाम ग्रहण किये हैं। आचार्य श्री ने संयम को समता के साथ जोड़ा उनके चिन्तन का निष्कर्ष है कि यदि साधु ने, श्रावक ने जीवन में संयम पालन किया है, व्रत-नियम धारण किये हैं, सामायिक की है तो उसके जीवन समता के फूल झरने चाहिए। संयम के वृक्ष का समता फल है। और समता फल लगता है तो वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को बिना शा

प्रदान किये नहीं रह सकता । इसीलिए आचार्य ने **समता-दर्शन** को स्पष्ट आकार प्रदान किया है । वे कहते हैं कि संयम का पालन बिना **सिद्धान्त-दर्शन** के नहीं हो सकता । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दृष्टि यथार्थदृष्टि बनानी होगी, जिससे वह हेय-उपादेय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को पहिचान सके । सिद्धान्त-दर्शन से हम जीवन को समझ सकेंगे । जीव-मूल्य की पहिचान से ही व्यक्ति उसके जीवन को मूल्यवान समझ सकेगा । 'जियो और जीने दो' की सार्थकता **जीवन-दर्शन** को आत्मसात् करने से ही आयेगी । समस्त जीवों के प्रति समता के भाव को प्रतिष्ठित करने से ही हम अपनी आत्मा के विभिन्न आयमों को समझ सकेंगे । आत्मा के गुणों का विकास तभी सम्भव होगा । यही हमारा **आत्म-दर्शन** होगा । आत्म-साक्षात्कार की निरन्तर साधना हमें समता के उस विकास पर ले जायेगी जहां आत्मा परमात्मा का स्वरूप ग्रहण करता है । आत्मा के श्रेष्ठतम ज्ञान के द्वार समता की साधना से ही खुलते हैं । यही **परमात्म-दर्शन** है । इस तरह आचार्य नानेश ने संयम से समता का न केवल उद्घोष किया है, अपितु समता को व्यवहार में लाने के लिए अनेक मार्ग भी प्रशस्त किये है ।

समता-व्यवहार का एक आयाम है—धर्मपाल प्रवृत्ति । इस अभियान के द्वारा न केवल हजारों अनपढ़. ग्रामीण और साधनहीन लोगों के जीवन में संयम के बीज बोये गये है, अपितु उनको समाज में प्रतिष्ठा देकर समता का प्रथम पाठ भी उन्हें पढ़ाया गया है । समाज-सेवा का संयम के साथ यह गठबन्धन है । व्यसन-मुक्ति से जन-जीवन को ऊंचा उठाने का यह नैतिक प्रयास है । समता-व्यवहार का दूसरा आयाम है—समीक्षण ध्यान । संयम की साधना केवल लौकिक उपलब्धियों में ही न रम जाय, प्रदर्शन की वस्तु न बन जाय, इसलिए आचार्य नानेश ने संयमी व्यक्ति को, समताधारी को समीक्षण-ध्यान में उतरना अनिवार्य किया है । समीक्षण ध्यान का अर्थ है—राग-द्वेष के बन्धनों से निरन्तर मुक्त होने का प्रयत्न करना । साधुजीवन का प्रमुख प्रतिपाद्य यही है । अतः वह संयम की यात्रा से समीक्षण के पड़ाव तक पहुंचे, यही साधना का लक्ष्य है चाहे वह साधु हो या श्रावक । संयम के इन आयामों का पालन करने में, उपचार करने में, व्याख्या करने में दीक्षा-जीवन के इन पचास वर्षों में आचार्य नानेश ने असंयम के साथ कोई समझौता नहीं किया, यही मात्र उनकी कठोरता है, कट्टरता है, अन्यथा उनके जसे निरभिमानी, सौम्य सरल, समताधारी व सन्त व आचार्य आज हैं कितने ? जो हैं, सादर प्राणम्य है । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि संयम जिनका सत्य है, संयम जिनका जीवन है, उन नानेश के चरणों में शत-शत प्रणाम ।

—अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग.
सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

□—□
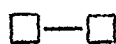
महान् तेजस्वी आध्यात्मिक संत

❀ सेवाभावी श्री मानवमुनि

भगवान महावीर के २५०० सौ वर्ष बाद भी महावीर का चातुर्विध तीर्थ श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी हैं । यही जैन धर्म भी कहता है । युग पुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने स्वराज्य के पूर्व देश को निर्भयता के साथ खादी-ग्रामोद्योग एवं आत्म साधना का संदेश दिया जिसके कारण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, श्री ठक्कर बापा आदि अनेक राष्ट्र नेता प्रभावित हुए । जैन धर्म का गौरव बढ़ाया । उन्ही सिद्धांतों को स्वराज्य को गतिशील बनाने में वर्तमान अहिंसक क्रांति के मसीहा, बालब्रह्मचारी, समतादर्शनधारी, समीक्षण ध्यान योगी, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म. सा. विज्ञान युग के महान तेजस्वी आध्यात्मिक संत है जो निर्भय-निर्वैर है । आपने स्थानकवासी जैन समाज का एवं अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ का गौरव बढाया है ।

समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय के विचारों का गहराई से चिन्तन करके आपने कहा-हिंसा का मूल कारण परिग्रह है, असमानता है । आपने समता का नया दर्शन दिया । स्वयं के समतामय जीवन से परिवार का नया ढांचा ढलेगा इस परिवर्तन के साथ समाज राष्ट्र एवं विश्व में भी आध्यात्मिक अनुशासन का प्रसार हो सकेगा । संयम साधना द्वारा ही जीवन-विकास आत्मोन्नति एवं परमात्म स्थिति तक सहजता से पहुंचा जा सकता है ।

पूज्य आचार्य श्री से मेरा विशेष सम्पर्क धर्मपाल प्रवृत्ति से प्रारंभ हुआ मैंने देखा कि गांधीजी ने अछूतोद्धार का जयघोष किया पर समाज उसे अपना नहीं सका पर आचार्य श्री नानेश ने २५ वर्ष पूर्व धर्मोपदेश देकर बलाई जाति का हृदय-परिवर्तन कर उसे व्यसनमुक्त करवा कर नये समाज का अभ्युदय किया धर्मपाल प्रवृत्ति के रूप में इसका प्रभाव अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ पर हुआ इन्दौर अधिवेशन में संघ ने इसे अपनी प्रवृत्ति मान ली । हजारों परिवारों को अहिंसक बनाया । स्व. राज्यपाल पाटस्करजी ने तो चर्चा के दौरान कह दिया था कि गांधी का अधूरा कार्य आपने पूर्ण किया, स्वप्न साकार किया । यह इस युग का महान क्रांतिकारी कार्य हुआ जिससे मैं अधिक प्रभावित हुआ ।

आचार्य श्री के प्रभाव का एक प्रसंग स्मरण आ रहा है । गुजरात से रतलाम की ओर आपका विहार हुआ । मध्यप्रदेश का झाबुआ आदिवासी क्षेत्र पूर्ण पहाड़ी इलाका । वहां प्रत्यक्ष देखा कि आदिवासी परिवार वालों में आपको देखकर अपनी भाषा में कहते **'यो धोला कपड़ा वाले भगवान आवी गयो ।'** आप कुछ समय रूक जाने व उनको समझाने 'मनुष्य जन्म मिल्यो है तो पाप नहीं

करणो, किणी जानवर को नहीं मारणो । तुम सब राम का भगत हो । मनख
जमारो पवित्र अच्छो बणाश्रो ।' इतनी बात सुनते ही उनके मन का अज्ञान रूपी
'धकार दूर हो जाता व धर्म रूपी ज्ञान का प्रकाश उनके हृदय में प्रवेश पा जाता ।
यम-साधना आध्यात्म का ऐसा प्रभाव देखा । आदिवासी लोगो ने कहा—'पहिलां
णा साधुड़ा आया पण तमारा जैसा हमणो पहिली बार देखा ।' थोड़ी देर तक
साथ भी चले । आदिवासी महिलाओं ने भीलड़ी भाषा में राम का गीत
गाया । अनेक परिवारों ने शराब, मांस का त्याग किया । ऐसे अनेक प्रसंग हैं ।
लिखने लगू तो समय भी लगेगा व लम्बा भी होगा । इतना अवश्य है कि आपके
संग के सहवास से मुझे संयम साधना में शक्ति मिली, भोजन में भी २० द्रव्य
की मर्यादा थी, जीवित संथारा भी पच्चक्खाण किया ।

मैने देखा है कि आपने समय को साधा है । एक क्षण भी आपके जीवन
प्रमाद नही है । भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कहा था—'समयं गोयम
मा पमायए ।' हे गौतम ! एक क्षण भी प्रमाद मत कर । वही दर्शन आचार्य
श्री जी के जीवन का है । ऐसे महापुरुष के चरणों में कोटि-कोटि वंदन ।

□

नानेश वाणी

❀ **संकलन–श्री धर्मेशमुनिजी**

० क्या आप अपनी मृत्यु को जल्दी से जल्दी बुलाना चाहते
है ? यदि नहीं, तो छोटे और बड़े सभी प्रकार के दुर्व्यसनों को तुरन्त
त्यागने की तैयारी कर लीजिये ।

० सच्चा योग यही है कि कोई अपने मन, वचन एवं काया
की योग-वृत्तियों को संवृत बनाकर उन्हें 'कु' से 'सु' की दिशा में मोड़
दे । जो योग का सच्चा अर्थ नहीं समझते हैं, वे विचारहीन शारीरिक
क्रियाओं में योग को ढूढ़ते हैं ।

कर्कश, कठोर, मर्मकारी, असत्य आदि भाषा के दूषणों का
त्याग हो तथा मन में सरलता का निवास हो तभी मौन व्रत का ग्रहण
करना सार्थक एवं सफल कहलाता है ।

० हे साधक, तू यदि सहज योग की साधना के साथ जीवन
को अति उत्कृष्ट बनाने का इच्छुक है तो इर्या समिति की सम्यक्
पालना के साथ चल ।

वर्षावास का आनन्द ले लिया

❀ श्री फकीरचन्द मेहता

आज से २० वर्ष पूर्व आचार्य श्री नानालाल जी महाराज अमरावती (महाराष्ट्र) का वर्षावास करके खानदेश की ओर पधार रहे थे। उनकी सेवा में मैं अकोला पहुंचा। उनसे विनम्र निवेदन किया कि कृपया भुसावल पधारे।

महाराज जी ने फरमाया कि मैं उस तरफ आ रहा हूं। आपकी विनती मेरी झोली में है। फिर फतेहपुर होते हुए जामनेर पधारे तब वहां के श्री राजमलजी सा. ललवानी का फोन आया कि आचार्य श्री संत मण्डली सहित जामनेर पधारे हैं, आप आ जावें।

इस तरह भुसावल के कुछ श्रावकों को लेकर मैं जामनेर पहुंचा। होली चातुर्मास पर भुसावल पधारने बाबत विनती की। जवाब मे उन्होंने स्वीकृति फरमाई। यह वार्ता भुसावल के कुछ विशिष्ट श्रावको के हृदय मे अच्छी नहीं लगी क्योकि वे श्रमण संघ में नही है। यह क्षेत्र श्रमण संघ का मानने वाला है इस वास्ते भुसावल के कुछ लोग आचार्य जी की सेवा में जामनेर पहुंचे। उनसे कहने लगे कि आप भुसावल नही पधारना। यह श्रमण संघ का क्षेत्र है। आचार्य श्री ने फरमाया कि मैंने मेहताजी की विनती स्वीकार करली है। मै भुसावल आऊंगा और होली चातुर्मास का प्रतिक्रमण करूंगा। यह बात सुनकर गए हुए श्रावकों के मन में खलबली मच गई।

आचार्य श्री ने अपने निर्णयानुसार भुसावल की ओर विहार किया। मेरे विद्यालय के २५००/३००० बच्चों को लेकर मैं आचार्य श्री की अगवानी में भुसावल शहर के बाहर पहुंचा। उस दिन मुस्लिम लोगों का त्यौहार भी था। उसी रोड से वे लोग भी हजारों की तादाद में निकलते रहे थे। इस तरह आचार्य श्री का भव्य स्वागत भुसावल मे दिखाई दिया। वहां से शहर में होते हुए आचार्य श्री संत मण्डली सहित हिन्दी विद्यालय के प्रांगण में पधारे। उनका ८ दिवसीय कार्यक्रम तय किया जिसमें वहां के नगर निगम हाल व अन्य विद्यालयों में प्रवचन रखे गये। हजारों की तादाद में जनमेदिनी उनके व्याख्यान मे आती रही। यह सब चर्चा भुसावल के श्रावकों के नजर मे आई और उनका भी आना शुरू हो गया।

आचार्य श्री फरमाने लगे कि 'मेहता! तुमने तो वर्षावास का आनन्द ले लिया।' महाराज श्री विराजे तब तक उनके धर्मानुरागी श्रावक-श्राविकाएं बाहर गांव से सैकड़ों की तादाद में आते रहे। मुझे भी इन सबकी सेवाओं का लाभ मिला। तब से अभी तक आचार्य श्री के नजर मे भुसावल का वह होली चातुर्मास अमिट छाप लिया हुआ है।

—पारस, ६ भंडारी मार्ग, न्यू पलासिया, इन्दौर-१

प्रभावशाली व्यक्तित्व

❀ श्री रतनलाल सी. बाफना

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. ने महती कृपा कर सं. २०४६ का चातुर्मास यहां किया ! चातुर्मास के प्रवेश पर आचार्य श्री का सर्वप्रथम प्रभाव हम पर यह पड़ा कि प्रवेश पर किसी मुहूर्त का विचार न करते हुए नवकार मंत्र के उच्चारण के साथ प्रवेश किया। प्रवेश के मुहूर्त की जब हमने चर्चा की तो आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा कि मै मुहूर्त मे विश्वास नहीं करता।

चातुर्मास प्रवेश पर आचार्य श्री ने जो उद्‌गार फरमाए, मेरे मन-मस्तिष्क में तरोताजा हैं—"यह जल का गांव है। जहां जल है वहां क्या कमी रहती है ? जहां प्राणीमात्र के लिए जरूरी है वहां समृद्धि का कारणभूत होता है," सच मानिए जब से इन आचार्यों की कृपा-दृष्टि जलगांव पर हुई, जलगांव की समृद्धि में उतरोत्तर वृद्धि हुई। यह सब गुरु कृपा का ही चमत्कार समझता हूं।

पहले ऐसा सुनने में आया था कि आचार्य श्री व उनके संत 'गुरु आम्नाय' का चक्कर बहुत चलाते हैं, पर चार मास में किसी संत के मुंह से गुरु आम्नाय का चक्कर सामने नही आया। पूरा चातुर्मास धर्मध्यान के साथ सानन्द वीता। श्रावक व्यवस्था में आचार्य श्री ने किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जव कभी व्यवस्था के बारे में पूछा जाता, यही जवाव मिलता—आपकी व्यवस्था आप जानो।

हमें डर था कि आचार्य श्री लाउडस्पीकर वापरने की मान्यता वाले नही होने से व्याख्यान का मजा नहीं आयेगा पर आचार्य श्री की ओजस्वी वाणी से संवत्सरी महापर्व के दिन भी इस कमी का अहसास नही हुआ। पूरे चातुर्मास में आपको समता विभूति के रूप में देखा। समय की पावन्दी, क्रिया मे निष्ठा व प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले आचार्य श्री वस्तुत: दर्शनमूर्ति है।

भौतिकवाद के इस युग में जहां तक मुझे ख्याल है आचार्य श्री के आचार्य काल में सबसे ज्यादा संत-सतियों की वृद्धि हो रही है। सामूहिक दीक्षाएं इसका प्रमाण है।

आचार्य श्री दीर्घायु प्राप्त करे व अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से समाज का मार्गदर्शन करते रहें, ऐसी नम्र कामना के साथ वन्दन करता हूं।

—"नयनतारा" सुभाष चौक, जलगांव ४२५००१

अन्तरावलोकन का राजपथ : समीक्षण ध्यान

❀ श्री मगनलाल मेहता

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश की मानव समाज को आज जो सबसे बड़ी देन है वह है 'समीक्षण' और 'समता' की विचारधारा। समता प्रतिफल है और समीक्षण वह राजपथ है जिसके द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य श्री का अद्भुत व्यक्तित्व, उनकी अनुपम शांत मुखमुद्रा और एक क्रांतिमय आभामंडल इस बात का प्रतीक है कि उन्होने इन सिद्धान्तों को केवल उपदेशित ही नही किया है वरन् जीवन में आत्मसात् भी किया है। हम जब भी उनके सामने होते हैं ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक शान्त अमृतमय सुधारस हमारे में प्रविष्ट हो रहा है और हमे भी पवित्र कर रहा है। उनके सामने से हटने की इच्छा ही नहीं होती। यही कारण है कि आज वे हजारों लाखो लोगों के श्रद्धा के केन्द्र बने हुए हैं और लोग केवल उनकी एक पावन झलक के लिये तरसते है। उनका सान्निध्य प्राप्त कर उपदेशों के हृदयंगम करने वाले तो निश्चय ही सौभाग्यशाली है।

समीक्षण का सीधा-सा अर्थ है स्वयं का आत्म निरीक्षण, अन्तरावलोकन और उसके द्वारा समता भाव की प्राप्ति। आज हमारे देखने का दृष्टिकोण ही भिन्न बना हुआ है। हम लोग सदैव बाहर दूसरे की ओर देखते है लेकिन स्वयं को कभी नही देखते। दूसरे के पास क्या है और क्या कह रहा है इसे भी मैं अपने दृष्टिकोण से देखता हूं। लेकिन मै स्वयं क्या हूं और क्या करता हूं इसे देखने का मैंने कभी प्रयास नही किया। जिस व्यक्ति को मैं अपना समझ रहा हूं, वह मुझे प्रिय है लेकिन वही व्यक्ति यदि किसी दूसरे का हो जाता है तो मुझे अप्रिय हो जाता है। जो सम्पत्ति मेरी है वह मुझे प्रिय है लेकिन वही सम्पत्ति यदि दूसरे के पास होती है तो मुझे द्वेष हो जाता है। इस तरह जीवन की प्रत्येक घटनाओ के और व्यवहारो के देखने के मेरे दृष्टिकोण भिन्न-२ होते हैं। इन्ही कारणों से हमारे भीतर कषायों की उत्पत्ति होती है और हम राग और द्वेष की भयंकर अग्नि में अपने आपको जलाते हुए दुःख, क्लेश और संतापो को आमंत्रित करते रहते हैं।

समीक्षण विचारधारा सबसे पहले हमारे दृष्टिकोण को बदलने पर जोर देती है। हम बाहर की ओर देखना बन्द करे और स्वयम् की ओर देखने का प्रयास करें। मैं कौन हूं ? क्या हूं ? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? मैं क्या कर रहा हूं ? और क्या मुझे करना चाहिये ? यद्यपि भीतर की ओर दृष्टि

मोड़ना कोई सरल कार्य नही है क्योंकि हमारा मन एक बेलगाम घोड़े की तरह प्रतिक्षण बाहर की ओर भागने का अभ्यस्त है । अतः साधना के मार्ग पर अग्रसर हुए व्यक्ति के लिये सबसे पहले इस मन को एकाग्र करना अत्यन्त आवश्यक है। मुझे वह क्षण आज भी अच्छी तरह याद है जब रतलाम चातुर्मास के पूर्व आचार्य भगवन ने मेरे तथा हमारे कुछ साथियों पर अत्यन्त अनुकृपा कर साधना का वह मार्ग हमें बताया और उस पर चलने के लिये हमें प्रेरित किया । मन की एकाग्रता के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि के साथ श्वास और प्राणायाम के प्रयोग बहुत ही लाभकारी होते हैं । स्वतः श्वास पर मन को केन्द्रित करना, पूरक, रेचक और कुंभक की क्रिया, अरहम् अथवा किसी भी शुद्ध स्वरूप या ध्वनि पर मन को केन्द्रित करना, भ्रामरिक गुंजार, शरीर में स्थित विभिन्न शक्ति केन्द्रों पर मन ही एकाग्र करना आदि अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो मन को एकाग्र करने में सहायक होते है । यद्यपि इसके लिये भी सतत प्रयास और प्रतिदिन के अभ्यास की आवश्यकता होती है ।

मन की एकाग्रता साधने के बाद हमें हमारे बाहरी नेत्रों को बन्द कर भीतर की ओर देखना होता है । हमारे भीतर कितना गहन अन्धकार और कषायों की गन्दगी भरी पड़ी है, यह हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगा । मै चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति मेरी आज्ञा का पालन करे, मेरी इच्छा के अनुसार चले और मेरी स्वार्थ पूर्ति में किसी प्रहार की बाधा न बने । इन्ही असंभव अपेक्षाओ और आशाओ के कारण मैं स्वयं का कितना बड़ा अहित कर लेता हूं । मानसिक तनाव, बुद्धिविनाश, हेमरेज, हार्ट अटेक आदि अनेक बीमारियों को मैं अनायास ही आमंत्रित कर लेता हूं । अहंकार का भूत दूसरों को तुच्छ समझने के लिये मुझे सदैव प्रेरित करता रहता है । जरासा सुख, जरासी सम्पत्ति, जरासा अधिकार, थोड़ा-सा ज्ञान, थोड़ा-सा तप मुझे आसमान पर बिठा देता है । अपने इसी अहंकार के नशे में मैं बड़े-छोटे, मान-सन्मान के सब रिश्ते भूल जाता हूं । स्वार्थ पूर्ति और लोभ की भावनाओं के वशीभूत होकर मैं कितने छल, कपट, झूठ, चोरी, हिंसा, व्यभिचार और यहां तक की हत्या जैसे भयंकर दुष्कृत्य भी करने को तत्पर हो जाता हूं । स्वार्थ की पूर्ति के अवसर पर मुझे भाई–बहन, पिता–पुत्र, प्रिय गुरुजन, बड़े–छोटे किसी का कोई भान नहीं रहता है । मैं अन्धा हो जाता हूं । "मैं" और "मेरा" शब्द मेरे राग की उत्पत्ति के कारण हैं और "तू" और "तेरा" मेरे भीतर द्वेष की वृत्ति को जागृत करते है ।

समीक्षण साधना अन्तरावलोकन का राजपथ हमें बताता है कि इस भौतिक संसार में कुछ भी मेरा नहीं है । परिवार और भौतिक वस्तु मे तो ठीक यह शरीर भी मेरा नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति खाली हाथ आता है और खाली हाथ ही चला जाता है । केवल अपने सुकृत्य और ज्ञान दृष्टि ही प्रत्येक आत्मा के

सहायक तत्व हैं। जैसे–तैसे व्यक्ति अन्तरावलोकन, आत्म निरीक्षण और वस्तु के चिन्तन की ओर अग्रसर होता है उसे स्वयं के कषाय और राग-द्वेष की वृत्तियां स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। एक बार जब हम हमारी बुराई और अज्ञान को समझ लेते है, उसे दूर करने की स्वतः प्रेरणा जागृत हो जाती है। सतत प्रयास से हम निश्चित रूप से अपने मन को निर्मल करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं, कषायों से मुक्त राग-द्वेष हीन दशा ही आत्मा की मुक्त अवस्था है। यही मोक्ष है जिसके हम अभिलाषी है।

पूज्य गुरुदेव के आत्म बोध के इस सन्मार्ग का ज्ञान कराने और उस पर अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिये पुनः शत्–शत् वन्दन, अभिनन्दन और उपकार के लिए नतमस्तक।

—चांदनी चौक, रतलाम

□

नानेश वाणी

❀ संकलन–श्री धर्मेशमुनिजी

∘ प्रतिकार करने का सामर्थ्य है, किन्तु सात्विक भावना के साथ वह प्रतिकार के बारे मे सोचता भी नहीं तथा हृदय से सदा के लिये उसको क्षमा कर देता है—यही वास्तविक एवं सात्विक क्षमा होती है।

∘ क्रोध से बच गये तो समझिये कि जीवन के पतन से बच गये।

∘ भेद–भाव के विचार मनुष्य के आचरण में बराबर हिंसा को स्थान देते रहते है। भेद समानता की विरोध स्थिति होती है। भेद का अर्थ हैं कि या तो अपने को बड़ा समझे या अपने को हीन मान्यता के साथ छोटा समझें। बड़ा समझने पर मदोन्मत हिंसा आती है और हीन समझने पर प्रतिक्रियात्मक हिंसा का जन्म होता है। अभिप्राय यह है कि जहां भेद–भाव आता है, वहां किसी न किसी रूप में हिंसा भी आती ही है।

∘ बुद्धि, धन, बल या विद्या–किसी की भी शक्ति स्वयं के पास हो तो उसका कर्त्तव्य माना जाना चाहिये कि वह अपनी शक्ति का दूसरों के हित के लिये सदुपयोग करें।

अनेक गुणों के धारक : आचार्य नानेश

❀ पं. लालचन्द मुणोत

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो
दीव समा आयरिया दिव्वंति परं च दिवति

जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित होकर अन्य सैकड़ों दीपकों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आचार्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा स्वयं प्रकाशित होकर न्य को प्रकाशित करते है ।

इसी शास्त्रीय कथन को परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री नानालालजी . सा. के सत्सान्निध्य में रहकर वर्षो तक संघीय कार्य करते हुए मैने उनके जीवन अनेक रूपों में देखा तथा अनुभव किया। आचार्य श्री नानेश समता की अद्वितीय क्षात् प्रतिमूर्ति, अदम्य साहसी, उत्साही, आत्मबली, कष्ट सहिष्णु, निराभिमानी, त तपस्वी, प्रवचन प्रभावक समभावी, समीक्षण-ध्यान योगी, दीर्घ द्रष्टा, यशस्वी, जस्वी, छुआछूत की कृतिमता के विरोधी, दलितोद्धारक, धर्मपाल प्रतिबोधक, ासन के सफल संचालक, अनुशास्ता, संगठन के हिमायती, चमत्कारिक वचनसिद्धि नशासन प्रद्योतक कर्मठ सेवाभावी चारित्रनिष्ठ अद्वितीय ज्योतिर्धर महापुरुष है। स्वयं इन गुणों से प्रकाशित है तथा जन-जीवन को प्रकाशित किया है और र रहे है ।

आचार्य श्री नानेश के जीवन में ये उपयुक्त गुण कितने सार्थक हैं। इनसे बन्धित घटनाएं यथावत तो मेरे स्मृति पटल पर नहीं है पर कई घटनाएं मेरी मृति मे है उनमें से कुछ इस प्रकार है—

१. आचार्य श्री नानेश के जीवन में क्रोध जनित कोई भी समस्या उत्पन्न ई तो आपने उसे धैर्यपूर्वक सहनशीलता एवं समता भाव से सहन किया। प्रकट प में उत्तेजित होना तो दूर मुख मंडल पर भी क्रोध की किंचिदपि रेखाएं तक रिलक्षित न हुई और न होती है ।

२. आचार्य श्री नानेश अदम्य उत्साही एवं कष्ट सहिष्णुता के परम उपाक हैं। आचार्य पद प्राप्त होने के पश्चात् जब आप रतलाम का प्रथम ऐतिहासिक चातुर्मास पूर्ण करके मालव प्रान्त के छोटे-२ अंचलों में विचरण कर रहे तब उनको ज्ञात हुआ कि इधर छोटे-२ गांवों में खेती करने वाले बलाई जाति हजारों हिन्दू परिवार रहते हैं, उनको ईसाई बनाने के लिए ईसाइयों की मिशनरी प्रचार कर रही है तो आचार्य श्री का करुणामय हृदय द्रवित हो उठा और ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड गर्मी में गांवों की ओर विहार कर भूख-प्यास व सर्दी-गर्मी आदि के परिषहों को सहन करते हुए उन गांवों में अहिंसा का मार्मिक उपदेश दिया एवं हजारों लोगों को मद्य-मांसादि कुव्यसनों का त्याग कराकर जीवन मे सदाचार की ओर प्रवृत किया तथा अछूत कही जाने वाली बलाई जाति को धर्मपाल नाम से घोषित किया ।

आचार्य श्री नानेश अपने मुनि जीवन में हमेशा एकान्त में ज्ञान-ध्यान,

चिन्तन-मनन आदि में तल्लीन रहते। क्योंकि आप गृहस्थों से विशेष परिचय को मुनि जीवन के लिए हानिकारक समझते हैं। आचार्य पद प्राप्त होने के बाद शासन को चलाने के लिए श्रावको से सात्विक परिचय रखना आवश्यक हो जाता है सो रखते हैं। फिर भी उसमे विशेष रुचि हो, ऐसा नहीं लगता।

आचार्य श्री नानेश आभ्यन्तर एवं गुप्त तप के महान तपस्वी हैं। तप के बारह भेदों में से बाह्य तपो में शारीरिक क्रिया की मुख्यता रहने से वे प्राय: दूसरों को दृष्टिगोचर होते है और आभ्यन्तर तप में मानसिक वृत्तियो की मुख्यता रहने से वे प्राय: दूसरों को दृष्टिगोचर नहीं होते। बाह्य तपो में भी जितना अनशन तप दृष्टिगोचर होता है, उतने अन्य पांच तप नही।

आचार्य श्री नानेश को बेला, तेला, पंचोला, अठाई आदि बाह्य अनशन तप करते प्राय: बहुत कम देखा गया। आप बाह्य तप नहीं करते हो ऐसा नहीं बल्कि आपकी बाह्य तपस्या भी ऐसी होती है जो प्राय: हर व्यक्ति को मालूम नही होती। मैंने देखा है तथा संतों से भी सुना है कि आपकी अधिकतर ऐसी तपस्या होती है कि अमुक आहार अमुक मात्रा में ही ग्रहण करना, अधिक नही। अमुक समय तक गोचरी आ जावे तो ग्रहण करना अन्यथा नही। निर्धारित समय मे लाये गये आहार मे से अमुक चीज हो तो नहीं लेना स्वादिष्ट, रसयुक्त व चट-पटे पदार्थ हो तो नहीं लेना या लेना तो अमुक ही लेना या अमुक मात्रा से अधिक न लेना।

आचार्य श्री नानेश व्यक्ति की अपेक्षा गुणों को विशेष महत्त्व देते हैं व्यक्ति की श्रेष्ठता गुणो पर आधारित है अत: छुआछूत की कृत्रिमता पर करारा प्रहार करते हैं और फरमाते है कि—

गुणी पूजा स्थानं न च लिंगं न च वय

आचार्य श्री नानेश चारित्र निष्ठ, शुद्ध संयम पालक कुशल महान् अनु-शासक हैं। आप स्वय शास्त्रीय नियमोपनियमो का पालन करने में हर समय तत्पर रहते है और अपने शिष्य परिवार के लिए भी संयमी मर्यादाओं का पालन कराने में हर समय जागरूक रहते है। आप नवनीत के समान अतिकोमल पर सयमीय मर्यादाओं के पालन कराने में अनुशासन की दृष्टि से महान् कठोर अनु-शासक है।

आचार्य श्री नानेश चारित्र के साथ-२ ज्ञान की तरफ भी विशेष लक्ष्य रखते है जिससे संयमी मर्यादाओं का पालन करते हुए आपके सत्सान्निध्य में कई साधु-साध्वी उच्च कोटि के विद्वान तैयार हुए है और हो रहे है।

आचार्य श्री नानेश दीर्घ दृष्टा महापुरुष हैं। परम श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के जावरा चातुर्मास में शारीरिक अस्वस्थता ने उग्र रूप धारण कर लिया। ऐसी स्थिति में जिस क्षेत्र में उपचार के सब साधन उपलब्ध हों, वहां ले जाना अत्यावश्यक था। अत: संत महात्मा अपनी भुजाओं पर उठा

कर रतलाम ले आये। पर आचार्य श्री नानेश को रतलाम उपयुक्त नहीं लग रहा था। कारण वहां उपचार के पर्याप्त साधन उपलब्ध होना कठिन था। फिर वहां से मदसौर नीमच ले आये। सभी संघ अपने यहां उपचार कराने हेतु आग्रह भरी विनंती कर रहे थे। पर आचार्य श्री नानेश को उदयपुर के सिवाय अन्य कोई क्षेत्र उपयुक्त नहीं लग रहा था। आखिर डाक्टरों की राय भी उदयपुर की होने से उदयपुर ले आये। ज्योतिषियों का कहना हुआ कि अब उम्र अधिक नही है पर आचार्य श्री नानेश की अन्तरात्मा साक्षी नही दे रही थी। आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का उदयपुर में किड़नी का आपरेशन हुआ। तत्पश्चात् धीरे-२ स्वास्थ्य मे सुधार आया और फिर अधिक अस्वस्थ हो गये तब अनेकों की राय हुई कि अब पूर्ण संथारा करा दिया जाय पर आचार्य श्री नानेश ने नाड़ी देख कर कहा अभी पूर्ण संथारा कराने जैसी स्थिति नहीं है। अतः तीन दिन तक अचेतनावस्था में सागारी संथारा चलता रहा। तीन दिन बाद चेतना आई और करीब तीन वर्ष तक जीवित रहे। यह सब आचार्य श्री नानेश की दीर्घदृष्टि का प्रतीक है।

आचार्य श्री नानेश कर्मठ सेवाभावी हैं। स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की रुग्णावस्था में यह देखा गया कि आपने अहर्निश अनन्यभाव से जो सेवा की उसका शब्दों द्वारा वर्णन किया जाना अशक्य है। इतना ही नही, छोटे से छोटे साधु के अस्वस्थ हो जाने पर भी रात-दिन अपनी सारी शक्ति सेवा में अर्पण कर देते है।

आचार्य श्री नानेश महान् आत्मबली, साहसी एव उत्साही महापुरुष है। उदयपुर में स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का स्वर्गवास हो जाने के बाद अब आपका साधु मर्यादा के अनुसार विहार होना आवश्यक होने से हाथीपोल से विहार होने की हलचल मची। तो स्थानीय संघ के तथा अन्य सदस्यो ने प्रार्थना की कि हाथी पोल होकर जाने में आज उस तरफ दिशा शूल है। अन्य दरवाजे से विहार होना उपयुक्त है। आपने फरमाया सीधे मार्ग को छोड़कर चक्कर खाकर अन्य दरवाजे से विहार करना उपयुक्त नहीं है। मुहूर्त के चक्कर मे न पड़ें। जिस समय जिस कार्य को करने में जिसका अतिउत्साह हो वही समय उसके लिए अत्युत्तम मुहुर्त है आदि कहकर हाथीपोल के दरवाजे से विहार कर दिया।

आचार्य श्री नानेश जो कुछ कहते वह सोच-समझ कर फरमाते। इस पर कोई बाधा उपस्थित हो जाती तो कष्टों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने वचन का पूरा ध्यान रखते है। अतः आपकी कथनी-करनी में एकरूपता है।

आचार्य श्री नानेश उच्च कोटि के महान् प्रभावक महापुरुष है। आपके प्रवचन प्रभाव से अनेक जगह अनेक परिवार झगड़े समाप्त कर परस्पर आत्मीयता के साथ आनंद ले रहे हैं।

आचार्य श्री नानेश महान चमत्कारिक महापुरुष है। नोखा मंडी में एक

प्रज्ञा चक्षु वृद्धा बहिन की विनंती पर आपश्री उसको दर्शन देने के लिए उ
घर गये और मांगलिक सुनाकर वापस लौटे कि उसके बाद उस वृद्धा की आ
में रोशनी आ गई।

आचार्य श्री नानेश अलौकिक महापुरुष हैं। आपके प्रति जो व्यक्ति
सात्विक श्रद्धा भक्ति रखता हुआ सच्चाई के साथ यथाशक्ति न्याय नीतिपूर्वक चल
है और धर्म पर भी श्रद्धा रखता है वह उपस्थित आपत्ति से जल्दी या देरी
अवश्य छुटकारा पाता है और अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से वं
नहीं रहता है।

आचार्य श्री नानेश अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्मय दी
ही नही वल्कि सूर्य हैं। विपमता के युग में समता का पाठ पढ़ाने वाले मह
समताधारी है। शिथिलाचार के विरुद्ध कड़ा प्रहार करने वाले क्रांतिकारी महाप
है। पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान के विरोधी हैं और शुद्ध सात्विक संगठन के
हिमायती है।

आचार्य श्री नानेश समीक्षण ध्यान के महान योगी पुरुष है। आप प्रति
दिन नियमित रूप से प्रातः ३ बजे से पूर्व अपनी शय्या त्याग कर ध्यानारूढ़
जाते है। ध्यानावस्था में आपके मुखमंडल पर अलौकिक तेज प्रस्फुटित हुआ दे
गया है।

आचार्य श्री नानेश प्रदर्शन एवं आडम्बरी प्रवृत्तियों से सदा विलग र
है पर भक्तजन भक्ति के वश होकर विहार, नगर प्रवेश, तपस्या आदि की सूचनाअ
को तथा जन्मोत्सव, दीक्षा महोत्सव, अर्द्धशताब्दी वर्ष महोत्सव, स्वर्ण जयन्त
महोत्सव आदि को धर्म प्रचार-प्रसार व प्रभावना में सहायक समझकर आयोज
करते है। पर इसमे केवल यही वात नही है। दूसरी तरफ भी देखना चाहिए
यदि इन वाह्याडर मे संत जन भी लिप्त हो जाते है तो संयम-साधना मे धीरे-
शिथिलता आकर सयम विघातक वड़ी-वडी त्रुटियों का पनपना भी सहज स्वा-
भाविक है यही कारण है कि आचार्य श्री नानेश समय-२ पर आडंबरी प्रवृत्तिय
का निषेध करते रहते हैं।

अन्त में मेरा यह निवेदन है कि परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश के इस
दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के प्रसंग से आचार्य श्री के उपरोक्त गुणों से प्रेरणा लेकर
निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा हो। कोई भी श्रावक साधु मर्यादा से विपरीत
किसी भी छोटे-से-छोटे कार्य में भी न तो साधु समाज को प्रेरित करे और न
ऐसे कार्य में साधु समाज का सहयोगी वने।

दूसरी वात दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में ५० हजार श्रावक-
जन-आजन्म के लिए सप्तकुव्यसन के तथा मांगणी करके दहेज लेने के त्यागी हो
साथ ही ५० हजार आयम्बिल तप भी करें।

—विचरली मोहल्ला, ब्यावर (राज.)

सागरवर गंभीरा आचार्य श्री

❀ श्री रखबचन्द कटारिया
अध्यक्ष श्री साधुमार्गी जैन संघ

चरित्र चूड़ामणि, समता दर्शन प्रणेता अध्यात्म योगी, जिनशासन प्रद्योतक, समता विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. में इतने गुण विद्यमान हैं कि उनका वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ तैयार हो सकता है फिर भी मैं संक्षिप्त में लिख रहा हूं।

एक समय उदयपुर की बात है जब आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. उदयपुर विराज रहे थे। उस समय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. का स्वास्थ्य व्यवस्थित रूप से नहीं चल रहा था। आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. भी सेवा में लगे रहते थे। उस समय हम चार पांच जने दर्शनार्थ उदयपुर गये थे और आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. से वातचीत चल रही थी कि युवाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. को ही बनाया जावे। तब श्री सूरजमल जी सिरोदिया ने कहा कि आप किनको युवाचार्य बना रहे हैं ? ये किसी से भी बोलते नहीं है। हम तो जब तक आप रहेंगे तब तक स्थानक आवेंगे उसके वाद स्थानक में नहीं आवेगे। तब आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने फरमाया कि तुम अभी तक नही जान सके, मैने इनकी सारी परीक्षा करके देख ली है। ये सब बातें बाद में नजर आयेंगी ये संयम पालन में एकदम चुस्त है। सेवा का गुण भी इनमें गजब का भरा हुआ है। यह आप देख ही रहे हैं। सरलता, नम्रता आदि अनेक गुणों से ये सम्पन्न है। जिनशासन को ऐसा दीपायेगा कि लोग देखते रह जायेगे। वास्तव में ये सभी बातें आज प्रत्यक्ष मे दिखाई दे रही हैं। चारों दिशाओं में आचार्य श्री नानालालजी म. सा. की जय-जयकार हो रही है।

दिल्ली, बम्बई, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पूना, मद्रास, बैंगलोर आदि क्षेत्रों को संत-सतियों ने फरसा है, उधर धर्म की ध्वजा फहराई है और चारों ओर नानागुरु की जय-जयकार हो रही है। ऐसे आचार्य श्री सागरवर गंभीरा हैं। रतलाम की वात ले लीजिये, जितने लोग रतलाम के दर्शनार्थ जाते है प्राय: सभी मे वातचीत होती है। कोई किसी की बुराई करता है तो कोई किसी की अच्छाई बताता है फिर भी आचार्य श्री सभी की वातों को पी जाते हैं एक भी बात सामने नहीं आती है।

हम दो व्यक्ति श्रीसंघ की आज्ञानुसार भावनगर गये थे और आचार्य श्री

अन्त में परमपूज्य श्री चरणों के कृपा प्रसाद की सदा सर्वदा याचना करते हुए मेरी हार्दिक कामना है:—

अल्प ना हो कल्पना, रहने निकटतम भाव की ।
दित्व सारा दूं मिटा, सृष्टि हो अविनाभाव की ।
गुम हो गहरे गर्त्त में, प्रत्यक्षता का प्रश्न फिर,
स्वर्ण रंजित हों अमर, अक्षर मेरे इतिहास के ।
चीर 'काजल'—आवरण, अपने मनोऽहंकार के,
तव वचन से हो विपुल घन छिन्न तुच्छाभास के,
वन सकूं तव तुल्य तव प्रसाद से, तव आस के ।।

—द्वारा-भैरूलालजी सरूपरिया, भदेसर (चित्तौड़)-३१२६०२

नानेश वाणी

○ प्रवचन-प्रभावना के लिए आप झूठी प्रतिष्ठा पाने के प्रदर्शनकारी आडम्बरों को छोड़िये और गिरे हुए स्वधर्मी व अन्य भाईयों के जीवन को ऊपर उठाने के लिए अपनी वात्सल्य-वर्षा को वरसाइये ।

○ आत्म-प्रशंसा क्षुद्रता का दूसरा नाम होता है ।

○ आप जब दूसरे के गुणों को देखें तो उसे भरपूर सम्मान दें और उन गुणों को अपने जीवन में भी उतारने का प्रयास करें । गुणपूजा से गुणग्राहकता की वृत्ति पनपती है ।

○ दूसरों के दोष देखने की वजाय दूसरों के केवल गुण देखें और अपने केवल दोष देखें—तव देखिये कि आत्म-विकास की गति किस रूप में त्वरित वन जाती है ।

○ जिन धर्म की तात्विक दृष्टि सिद्धान्तों के जगत् में अलौकिक मानी गई है । स्याद्वाद रूपी गर्जना से मन घड़न्त सिद्धान्तों के हरिण झाड़ियों में घुसकर अपने को छिपा लेते हैं ।

○ अपनी निष्ठा और कर्मठता में किसी भी आयु में यदि तरुणाई समा जाय तो नया और नई खोज उसके लिये स्फूर्ति का विषय वन जाती है ।

○ दहेज सट्टे से भी वढ़कर है ।

भविष्य के अध्येता

❀ डॉ. सुभाष कोठारी

मेरा परिवार बचपन से ही साधुमार्गी जैन संघ के अनन्य भक्तों में
रहा है और इसी का प्रभाव मेरे पर भी प्रारम्भ से ही पड़ना शुरू हो गया
। प्रतिवर्ष आचार्य श्री के दर्शनार्थ जाना एक नियमित क्रम सा हो गया परन्तु
 तक मैं आचार्य श्री द्वारा पारिवारिक स्तर से जाना जाता था ।

१६–१७ वर्ष तक की आयु में मेरा विचार व्यापार अथवा सी. ए. करने
 था इसी कारण मैंने स्नातक तक कॉमर्स विषय पढ़ा । इन्हीं दिनों उदयपुर
श्वविद्यालय में जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग की स्थापना भी श्री अ. भा. सा.
 संघ के सहयोग से हुई तब महज कुतुहल से मैंने भी जैन विद्या में डिप्लोमा
प्रवेश ले लिया । डिप्लोमा कोर्स में सर्वाधिक अंक आने के बाद जब आचार्य
 से मिलना हुआ तो उन्होंने जैन विद्या एवं प्राकृत के क्षेत्र में ही निरन्तर
र्य करते रहने की प्रेरणा दी और न जाने किस भावना के वशीभूत होकर मैं
 क्षेत्र की ओर मुड़ गया और इसी पथ पर अग्रसर होता गया । आज मैं
चता हूं तो लगता है कि मैंने उस समय आचार्य श्री की प्रेरणा से जो रास्ता
नाया वह कितना नैतिक एवं पवित्र है । वरना अन्य कोई व्यवसाय, व्यापार
सर्विस करने पर मेरा पेशा उज्ज्वल रह पाता या नहीं । अतः मेरी सफलता
सारा श्रेय आचार्य श्री के चरणों में ही न्योछावर है ।

बाद में १९८३ से आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान से जुड़ने
बाद मेरा आचार्य श्री से व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ता गया कभी संस्थान के कार्य
बहाने कभी लेखों के माध्यम से, कभी समता युवा संघ की गतिविधि के बारे
एवं कभी साधु-साध्वियों को अध्ययन–अध्यापन के माध्यम से । मैं निरन्तर
श्री के सम्पर्क में आता रहा और हर सम्पर्क मेरे लिए अविस्मरणीय बनता
 ।

ऐसे जीवन निर्माणकारी, समताधारी दीर्घदृष्टा एवं भविष्य के अध्येता
ार्य श्री नानेश दीर्घायु हों एवं सदा स्वस्थ रहें, यही प्रार्थना है ।

—आगम योजना अधिकारी, आगम अहिंसा, समता एवं
प्राकृत संस्था पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राज.) ३१३००१

४. श्री नौरतमलजी डडिया ब्यावर के पेट में एक दिन इतना दर्द हुआ कि अत्यन्त कष्ट हो रहा था। रात्रि जैसे-तैसे निकाली प्रातःकाल उठते ही उनकी पत्नी, आचार्य भगवन् जंगल जाते हैं, वहां रास्ते में खड़ी हो गई। आचार्य भगवन् के पैरों की धूल लाई और पेट पर फिरा दी। ठीक एक घण्टे में आराम पड़ गया। तुरन्त बाद आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ डेडिया सा. पहुंचे।

उक्त घटनाओं से आचार्य भगवन् के प्रति श्रद्धा व भक्ति बढ़ना स्वाभाविक है।

—मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, कानोड़

नानेश वाणी

- यह कैसा मानस हो रहा है कि आज कुत्ते और मोटर की सार-सम्हाल करेंगे किन्तु गाय-भैंस को रखने का विचार नहीं होता। शहरों में बाजार के खाने-पीने पर ज्यादा निर्भर करते हैं जबकि ग्रामों में ऐसा कम होता है। बाजार के खाने-पीने में त्रस जीवों तक की घात का कितना प्रसंग रहता है—यह आप श्रावकों के लिए सोचने की बात है।

- आप कुछ भी सोचें या करें किन्तु यह तथ्य है कि स्वयं का विवेक सर्वाधिक शुद्ध और प्रभावशाली होता है।

- सन्तति-निरोध भी अंग-विच्छेद के जरिये नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्य एवं संयम के जरिये होना चाहिये। स्वाभाविक उपाय छोड़कर कृत्रिम उपाय का सहारा लेना विवेक-हीनता ही कहलायेगी। यह अंग-विच्छेद श्रावक के लिये अतिचार है।

- आगम उन वीतराग देवों की उस वाणी का संग्रह है, जो उन्होंने अपने ज्ञान एवं चारित्र की परिपक्वता की अवस्था में सर्वज्ञ व सर्वदर्शी के रूप में संसार के कल्याणार्थ उच्चरित की। इसी पवित्र वाणी में विश्व निर्माण का अमोघ उपाय छिपा हुआ है।

"समता-विभूति"

॥ गोकुलचन्द सूरा

समता विभूति नाना पूज्यवर, सबकी आंखों का तारा ।
घोर विषमता के इस युग में, जनमानस का सबल सहारा ।टेर।

दांता की माटी में जन्मा, पोखरणा कुल शान महा ।
मोडीजी के राज दुलारे, उज्ज्वल सूर्य समान जहां ।
ऐसी अमूल्य निधि को पाकर, धन्य हुई माता शृंगारा ॥१॥

समतामय बना निज जीवन, फिर समता संदेश दिया ।
विषम भाव की कलुष कालिमा, परित्यागत उपदेश दिया ।
समता दर्शन का प्रणेता, अखिल विश्व का दिव्य सितारा ॥२॥

भारत के कोने-कोने में घूम-घूम सद् ज्ञान दिया ।
व्यसनमुक्त बन लाखों जन ने, समता रस का पान किया ।
धर्मपाल प्रतिबोधक कितने भव्य जीवों का जन्म सुधारा ॥३॥

समीक्षण ध्यानी योगीश्वर ध्यान का मर्म बताते हैं ।
जैन जगत की विरल विभूति, समता सबक सिखाते हैं ।
पति पावन विश्व वंदनीय. आप जगत के तारणहारा ॥४॥

जिनशासन की अभिवृद्धि हो, यही भावना भाते हैं ।
दीक्षा जयंती मना हम, फूले नहीं समाते हैं ।
तुम जीयो हजारों साल, साल के दिवस हो पचास हजार ॥५॥

—हैण्डलूम कारपोरेशन,

समत्व भावों का प्रत्यक्ष अनुभव

❀ श्रीमती कांता बोरा

भारतीय संस्कृति का मूलाधार उसकी धार्मिक चेतना है। भारत वसुन्धरा को ऋषि मुनियों की अमूल्य निधि प्राप्त है। ऋषि मुनियों ने अपनी तपो साधना से इसे अलोकित किया है। उसी परम्परा के हुक्म संघ के अनुशास्ता अष्टम पट्टधर मुमुक्षों के प्राणाधार आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. अपना प्रमुख स्थान रखते है।

आप यथा नाम तथा गुण के धनी है। आपकी अनेक विशेषताओं ने अगणित अज्ञानी (अबोध) जीवों को कल्याण मार्ग पर लगाया है। कठोर तप साधना के साथ विद्वता एवं समता सहिष्णुता के अनुपम समन्वय ने आपके आकर्षक व्यक्तित्व को चुम्बकीय शक्ति के दिव्य–प्रकाश से आलोकित कर दिया, केवल जैन ही नहीं अन्य धर्मावलम्बी भी आपके दर्शन मात्र कर लेता है तो वह आपके प्रति अटूट श्रद्धावान हो जाता है। आप में साम्प्रदायिकता और आग्रह नही है। आप सदा समता सिद्धान्त के अनुरूप प्राणीमात्र के साथ समत्वभाव रखते है तभी तो अनेक जिज्ञासु एवं विभिन्न धर्मो के अनुयायी भी नतमस्तक होकर आपके सान्निध्य में बैठकर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करते हैं एवं परम सन्तुष्ट होते है।

आचार्य भगवान के लगभग ११ माह इन्दौर में विराजने पर हमने प्रत्यक्ष देखा कि आपके जीवन में सरलता की सौरभ महक रही है एवं स्वाध्याय और सुध्यान का शीतल समीर बह रहा है। आपका बाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम है उतना ही आभ्यांतर व्यक्तित्व भी। इन्हीं गुणों के कारण सहज ही विषमता समाप्त हो जाती है ऐसे कई उदाहरण हमें प्रत्यक्ष देखने को मिले है।

इन्दौर का इन्दु प्रभा कांड समस्त जैन समाज के लिये बड़ा ही कलंकित काण्ड हुआ, उन दिनों में इन्दौर में साधु-साध्वियों के प्रति जनमानस मे आशंका के भावों का प्रादुर्भाव हो गया था। ऐसे में इन्दौर में दीक्षा होना बड़ा ही विचारणीय प्रश्न था। आचार्य श्री नानेश के कदम जैसे-जैसे म. प्र. की ओर बढ़ रहे थे, वैसे–वैसे स्वतः ही जनता का मानस बदलने लगा।

मुझे पूना प्रवास में सतीवृन्द का दर्शन करने का सौभाग्य मिला। महासतियांजी म. सा. ने कहा कि आचार्य श्री के सान्निध्य में कई दीक्षायें होती है यदि इस समय में भी दीक्षा प्रसंग हो तो इस माहोल का रंग वदल जावेगा। मैंने कहा—इस समय दीक्षा होना वड़ा कठिन काम लगता है। लेकिन जैसे–जेसे आचार्य श्री इन्दौर के समीप पधारे वातावरण स्वतः ही शांत हो गया, यह सब आपके तप, संयम और साधना का ही प्रतिफल है और उस समय इन्दौर में पांच बहिनों की भागवती दीक्षायें सानन्द सम्पन्न हो गई।

कल्याणकारी उपदेशों के प्रकाशमान स्वरूप

❀ पं. विद्याधर शास्त्री

आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के प्रवचनों का प्रत्येक वाक्य महाराज ाहब के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक ज्ञान से ओत-प्रोत होने के साथ । प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक एवं आत्मिक समुत्थान हेतु प्रेरणा प्रदान करने ाला है ।

महाराज का प्रत्येक सुझाव व्यावहारिक होने के साथ ही व्यक्ति की ाधना-शक्ति से बहिर्भूत नहीं है । आपका यह दृढ़ अभिमत है कि कोई भी आत्मा ्रभाव से निःशक्त और निःसार नही है । हम सब आध्यात्मिक वैभव के अधि-ारी और भगवान् विमलनाथ के समान विमलता एवं नाना प्रकार की शक्तियों ा सम्पन्न हो सकते है ।

वर्तमान युग के जीवन की सबसे अधिक शोचनीय विडम्बना यह है कि हमारा भावना-पक्ष प्रबल होने पर भी हमारा कार्य-पक्ष अत्यन्त निर्बल है । हम सब में अमृतमय जीवन बिताने और बनाने की कला विद्यमान है । हम अपने आप उसका सृजन कर सकते हैं परन्तु प्रयत्न के बिना उन शक्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । यदि हम अपने जीवन की क्रियाओं का प्रयोग शुद्ध आत्मिक लक्ष्य की ओर करें तो यह निश्चित है कि उससे आत्मिक शक्ति प्राप्त होगी ही—

'यदि आप अपने जीवन को विमल बनाना चाहते है तो दुनिया की मलिनता के कांटों को छू-छू कर अपने आपको दुःखी क्यो बना रहे हैं ? क्यों नहीं आप अपने जीवन मे ऐसे आवरण लगा लेते, जिससे कि सारी दुनिया मलिन कांटों से भरी रहे परन्तु आपका जीवन तो आबाध गति से इस प्रकार चले कि कोई आपका कुछ बिगाड़ ही नहीं कर सके ।'

खेद है कि आज के लोग अपनी बुराइयों को समझ कर भी उनको हटाने की अपेक्षा उनमें अधिक से अधिक रस ले रहे हैं—

'आज का तरुण-वर्ग कानों में तेल डाल कर सोया हुआ है। तरुण सोचते है कि धर्म करना तो वृद्धों का काम है । हमको तो राजनीति में भाग लेना है या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है । यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है।'

'आज की युवा-पीढ़ी कई कुव्यसनों से लाछित है । आज का युवक-वर्ग उनका दास बन गया है । क्या यह जीवन के साथ खिलवाड़ नही है ? जो नैति-कता के धरातल को भूल कर उससे गिर जाये तो क्या ऐसे युवक युवा-पीढ़ी के योग्य है ? अरे, इनसे तो वे बूढ़े ही अच्छे हैं, जो कुव्यसनों से दूर है ।'

महाराज के इन वाक्यों से यह प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध हो रहा है कि आप
हृदय में सामाजिक परिष्करण की जो भावना है, वह कितनी प्रवल है और
आज के युवकों से किस प्रकार के जीवन की अपेक्षा रखते हैं।

यह जीवन साधना का जीवन है—पद-पद पर विषमता को पनपाने व
अपेक्षा यह समता-दर्शन के अनुपालन और सर्वत्र क्रिया-शुद्धि का जीवन है
इसमें 'कथनी' की अपेक्षा सर्वत्र 'करनी' की प्रधानता है। महाराज का दृढ़ अभि
मत है कि यदि हम क्रिया-शुद्धि के साथ आगे वढ़ें तो हम सव श्रीकृष्ण आदि
के समान नाना गुणों के आगार वन सकते है—

'आप अपनी शक्ति के अनुसार अपने अन्दर हरि का जन्म कराइये। वह
जन्म आपके लिए हितावह होगा।'

'जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में अपने जीवन को नैतिकता के साथ रखा है
जिन्होंने नैतिकता को प्रधानता देकर आध्यात्मिकता की मंजिल तैयार करने की
सोची है और जिनका लक्ष्य शुद्ध है, वे इस सृष्टि के वीच चमकते हुए सितारे
की तरह हजारों वर्षों तक प्रकाश देते रहेंगे।

किं वहुना, महाराज का प्रत्येक वाक्य श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्या-
सितव्य है। शुद्ध नैतिकता की अपेक्षा इसमें किसी विकृत राजनीति या अन्य किसी
भी धर्म या वाद विशेष पर किसी तरह का आक्षेप नहीं है। सर्वत्र कल्याणकारी
उपदेशों का प्रकाशमान स्वरूप है, जो शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टान्तों से सम-
र्थित है। □

वन्धन-मुक्त

श्री मोतीलाल सुराना

तालाव को रोना आ गया, सामने कल-कल करती वह रही
नदी को देखकर। उसने नदी से पूछा—कहां जा रही है वहन ? तो
नदी वोली—अपने घर, पिताजी के पास, वहां मेरी वहनों से मिलने।
नदी का मतलव था समुद्र के पास जा रही हूं। तेरे पिताजी को
कहना—तालाव वोला—मुझे भी वहां वुला लें। पास ही खड़े एक
महात्मा तालाव और नदी की वात सुन रहे थे। महात्मा वोले—अरे
तालाव, तूने तो अपने आपको चार दीवारी मे रोक रखा है। जव
तक ये चारों दीवारें दूर न हो, तव तक तू वहाँ कैसे जा सकता है ?

सच तो है, मनुष्य जव तक वंधन से अलग न हो तव तक
परमात्मा के पास कैसे पहुंच सकता है ? वन्धन-मुक्त होना आवश्यक
है। —१७/३, न्यू फलासिया, इन्दौर-४५२००१

समता-दर्शन : व्यापक मानव-धर्म

❀ श्री रणजीतसिंह कूमट

वर्तमान जीवन में व्यक्ति से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक व्याप्त विषमता एवं उनकी विभीषिका, विग्रह एवं विनाश की कगार, असन्तुलन एवं आन्दोलन आचार्य श्रीजी ने अपनी आत्म-दृष्टि से देखा एवं मानवता के करुण क्रन्दन से द्रवित हो उसको बचाने के लिये उपदेशामृत की धारा प्रवाहित की है।

समता-सिद्धान्त नया नहीं है—वीर प्ररूपित वचन है व जैन दर्शन का मूलाधार है। परन्तु इसे धर्म की संकीर्णता में बंधा देख व उसकी व्यापक महत्ता का ज्ञान जन-जन को न होने से इसे नये सन्दर्भ व दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। यह किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं वरन् प्राणीमात्र के लिये है। यदि मानवता के किसी भी वर्ग ने समता-सिद्धान्त को न समझकर विषमता की ओर कदम बढाये तो समग्र विश्व के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसी दृष्टि-कोण को ध्यान में रखकर व्यापक मानव-धम के रूप में समता-दर्शन को प्रति-पादित किया है।

समता जीवन की दृष्टि है। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मानव देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यदि एक साधारण रस्सी को मनुष्य भ्रमवश सांप समझ ले तो उसमे भय, क्रोध व प्रतिशोध की प्रतिक्रिया होती है। यदि कदाचित् सांप को ही रस्सी समझ ले तो निर्भीकता का आचरण होता है। यही सिद्धान्त जीवन के हर पहलू पर लागू होता है। यदि किसी भी वस्तु को सम्यक् व सही रूप से समझने की दृष्टि रखें व उसी रूप से आचरण करने का प्रयत्न करें तो सामाजिक असन्तुलन, विग्रह व विषमता समाज में हो नहीं सकती। यही आचार्य श्रीजी का मूल-सन्देश है।

आचार्यश्री ने सिद्धांत प्रतिपादित कर छोड़ दिया हो ऐसी बात नहीं है। सिद्धान्त को कैसे व्यवहार में परिणत किया जाय, इस पर भी पूरा विवेचन किया है। सिद्धान्त दर्शन के अतिरिक्त जीवनदर्शन, आत्मदर्शन व परमात्मदर्शन के विविध पहलुओं में कैसा आचरण हो, इसका पूरा निरूपण किया है।

आज की युवा-पीढ़ी पूछती है—धर्म क्या है ? किस धर्म को मानें ? मन्दिर में जायें या स्थानक में—? अथवा आचरण शुद्धता लायें ? धर्म-प्ररूपित आचरण आज के वैज्ञानिक युग में कहाँ तक ठीक है व इस का क्या महत्त्व है ? कतिपय धर्मानुरागियों के 'धर्माचरण' व 'व्यापाराचरण' में विरोध को देखकर भी युवा-पीढ़ी धर्म-विमुख होती जा रही है। धर्म ढकोसले में नही है। आचरण मे है। धर्म जीवन का अंग है। समता धर्म का मूल है। इस तर्कसंगत विवेचन व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्यश्री ने आधुनिक पीढ़ी को भी आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

□

आचार्य नानेश के प्रवचन-साहित्य का अनुशीलन

❀ डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

आजकल लोग 'प्रवचन' (Sermonizing) शब्द सुनकर चिढ़ से जाते है। कोई यदि उन्हें 'प्रवचन' देने लगता है तो वे उस व्यक्ति को 'वोर' कहने लगते है। दरअसल, प्रवचनों से हम सभी ऊब से गये है। बहुत कम लोग प्रवचन सुनना पसन्द करते हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण संभवतः यह है कि प्रवचनकर्ता और श्रोताओं के बीच अपेक्षित संबंध नहीं पनप पाता, पारस्परिक संप्रेषणीयता का अभाव रहता है। आदाता और प्रदाता मे समीकरण नही बैठ पाता। प्रवचनकर्ता के शब्द श्रोताओं को उज्जीवित नहीं कर पाते। प्रवचन, मात्र वाचिक खिलवाड़ बनकर रह जाते है और प्रवचनकर्ता एक महज मशीन। यही कारण है कि 'प्रवचन' शब्द इतना अवमूल्यित हो गया है कि लोग प्रवचन सुनने से कतराने लगे है। यह स्थिति इसलिए भी पैदा हुई है क्योंकि प्रवचनकर्ताओं में वह ऊर्जा और प्रेरणा नहीं रही जो कि आदर्श और तपोनिष्ठ प्रवचनकर्ताओं में हुआ करती थी। शब्द और कर्म, चिन्तन और आचरण का अद्वैत अब बहुत कम देखा जाता है। प्रवचनकर्ता प्रायः वे ही बातें दोहराते रहते है जो स्वयं न करके, दूसरों से करने की अपेक्षा करते है। परिणाम यह होता है कि प्रवचनकर्ताओं के प्रवचन, मात्र शाब्दिक-व्यायाम बनकर रह जाते है, श्रोताओं पर उनका इच्छित प्रभाव नही पड़ता, पर दोष प्रवचनो का नही है। मानव जाति के संचित ज्ञान का कोष महान् व्यक्तियो के प्रवचनो का ही कोष है। विश्व की निखिल संस्कृति प्रधान रूप से प्रवचन प्रेरित रही है। महान् संतों के प्रवचन, उनकी आर्षवाणी, उनके आप्त वाक्य—विश्व संस्कृति के सतत प्रेरणास्रोत रहे है। इन प्रवचनों ने मनुष्य को अन्धकार से बाहर निकालकर प्रकाश की राह दिखाई है। मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर प्रेरित किया है। उसके अनुदात्त जीवन को उदात्त बनाया है, आगम, वेद, उपनिषद्, गीता, कुरान, गुरु ग्रन्थ साहब, बाइबिल मूल रूप से प्रवचन ही तो है। बुद्ध, महावीर, नानक, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गांधी—इनके प्रवचनो ने ही तो मनुष्य को अमृतत्व का मार्ग दिखाया है। क्या कारण है कि इन दिव्य पुरुषो के प्रवचनो को हम बार-बार सुनना और पढ़ना पसन्द करते है? कारण बिल्कुल स्पष्ट है, ये प्रवचन इन महात्माओं की प्राण ऊर्जा से अभी तक प्रोद्भासित एव ऊर्ज्वसित है। इन महाप्राण संतो मे वाणी और व्यवहार का द्वैत नहीं था। जो कुछ वे कहते थे, स्वयं करते थे, जो करते थे वही कहते थे। मानव संस्कृति का इतिहास वाणी और व्यवहार के स्वस्थ समीकरण का ही इतिहास है। ऐसे महात्माओं का ही लोकानुगमन होता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते ।।

(गीता ३, २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष वैसा ही आचरण करते है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है ।

इन संतों में प्रवचनों में इसलिए अधिक प्रभाव और सम्मोहन होता है क्योंकि ये प्रवचन इन महात्माओं के स्वयं के अनुभवों पर आधारित होते हैं । कुछ वे बोलते है वह स्वानुभूत होता है, मात्र पुस्तकीय अथवा शास्त्रीय प्रलाप नहीं । फिर, ये प्रवचन दिव्य-तत्त्व से तरंगायित होते हैं और जब ये प्रवचन तपोपूत संतों के मुख से निकलते है, तो ये सीधे ही श्रोताओं के कर्ण-रंध्रों को लांघते हुए उनके मन-प्राणों की गहराइयों में उतरते चले जाते हैं । अन्ततः ये प्रवचन श्रोताओं की संवेदना और चेतना का मूलाधार बन जाते हैं । इस प्रकार के प्रवचन, प्रवचनकर्ता और श्रोता—दोनों के लिए ही हितकर होते हैं । इनसे न केवल श्रोता ही लाभान्वित होते है अपितु प्रवचनकर्ता भी इनके माध्यम से लोक-मंगल और 'आत्मोत्थान' गुरु-गंभीर दायित्व पूरा करते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः ।।

(गीता, १८, ६८)

जो पुरुष मुझ में परम प्रेम करके इस 'परम ज्ञान' को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं ।

व्यष्टि और समष्टि के सम्यक् विकास में उदारचेतसमयी प्रेरणा से समन्वित संतों और महात्माओं के प्रवचनों की प्रभूत भूमिका रही है । दरअसल, धर्म के संस्थापन, प्रचार-प्रसार में प्रवचनों का अमूल्य योगदान रहा है । मानव को उदात्त जीवन की ओर प्रेरित करने वाले प्रवचन किसी धर्म, सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में नहीं बंधे रहते । इन प्रवचनों का क्षितिज निस्सीम होता है, इनका आकाश व्यापक और विराट । इसलिए वे ही प्रवचन चिरस्थायी और कालजयी होते है जो सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक होते है । वे ही प्रवचन प्रभावशाली और सनातन होते हैं जिनका लक्ष्य लोक-मंगल होता है, व्यष्टि-समष्टि का सतत क्षेम होता है । इन प्रवचनों की अपनी एक शैली होती है । प्रवचनकर्ता के भास्वर व्यक्तित्व को पूर्ण उजागर करने वाली । सरल, सहज, बोधगम्य, दृष्टांत सम्पन्न, सम्प्रेष्य यह शैली प्रवचन का प्राण होती है । प्रवचन-कर्ता के अपने अनुभवों का नवनीत इन प्रवचनों में सम्पृक्त रहता है ।

जैन धर्म के प्रातः स्मरणीय संत आचार्य नानेश जी के प्रवचन इसी शैली

दिव्य रेखायें' नामक संकलन मे इस भाव की सरलता एवं वोधगम्यता की एक बानगी देखी जा सकती है—

'मेरा काम उपदेश देना है, मार्ग वताना है परन्तु उस पर चलना तो आपका स्वयं का काम है। यह आपका दायित्व है कि अपना उद्धार स्वयमेव करें। एक व्यक्ति कमरा बंद कर रजाई ओढ़े सो रहा है। वह आंखों पर पट्टी वांध लेता है और फिर चिल्लाता है कि इस कपड़े ने मेरे आंखें बांध दी हैं, रजाई ने मुझे ढक लिया है, कोई आकर मुझे बचाओ। अन्दर से सांकल लगी हुई है। दूसरा व्यक्ति अन्दर नहीं जा सकता। बाहर से कोई व्यक्ति उसे सुझाव देता है कि अरे भाई! तुमने अन्दर से सांकल लगा रखी है, रजाई तुमने ओढ़ रखी है, आंखों पर पट्टी तुमने वांध रखी है। अपने हाथों से ही पट्टी ढीली कर लो, रजाई फेंक दो, अन्दर की सांकल खोल दो, बाहर की हवा लो, स्वयमेव तुम मुक्त हो जाओगे। वह कहता है कि 'मैं तो यह सव नहीं कर सकता, आप ही मेरी मदद कीजिए। ऐसे व्यक्ति के विषय में आप क्या सोचेंगे? यही न कि वह मूर्ख है। ठीक इसी तरह अपने-अपने कर्मों के आवरण को स्वयमेव हटाने में समर्थ है, दूसरा कोई नही।' (पृ. २८-२९)

उनका कहना है कि 'आत्मोद्धार' की प्रक्रिया में, मनुष्य की आत्मा पर पड़ी हुई भारी शिलाओं को हटाना वहुत जरूरी है। ये शिलाएं बाहरी नहीं हैं। वाहरी शिलाये तो दूसरों की सहायता से भी हटाई जा सकती है परन्तु आत्मा पर पड़ी हुई आठ कर्मो की भारी शिलाओं को हटाने के लिए स्वयं को ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति निमित्त मात्र हो सकता है, उपादान नही। इस भाव को आचार्य श्री की प्रवचन शैली के माध्यम से सुनें या पढ़ें तो कैसा लगता है—

'मैं आपसे एक सीधा सा प्रश्न करूं। यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना के कारण पत्थर की शिला के नीचे दव जाये तो वह क्या करेगा? आप चट उत्तर देंगे कि वह किसी भी तरीके से निकलने की कोशिश करेगा। यदि उसके हाथ खुले है तो उनसे शिला को हटाने का प्रयास करेगा। उस समय यदि कोई उसे कहे कि कलकत्ते से सोहन-हलवा आया है, अपने हाथों से उसे ग्रहण करो। क्या वह व्यक्ति उस समय अपने हाथों को हलवा ग्रहण करने में लगायेगा? या अपने पर पड़ी हुई शिला को हटाने के लिए हाथो का उपयोग करेगा। स्पष्ट है कि वह पहले शिला को हटाने का प्रयास करेगा।....इन आठ कर्मो की शिलाओं को हटाने का काम आसान नहीं है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु प्रबल पुरुपार्थ के द्वारा साध्य है।" (वही पृ. ५-६)

'आत्मोत्थान' के शुभ-कर्म को विना प्रमाद के प्रारम्भ कर देना श्रेयस्कर है क्योंकि—

परिजुरई ते सरीरयं, केसा पडुंरया हवन्ति ते ।
से सव्व वलेण हावई, समयं, गोयम, मा पमायए ।।

तुम्हारा शरीर जब ढल जायेगा, मुंह पर झुरियां पड़ जायेंगी, बाल सफेद होंगे और अंगोपांग जर्जर हो जायेंगे, तब क्या कर पाओगे ? मुहूर्त के भरोसे मत बैठे रहो । प्रमाद मत करो । आत्मोत्थान के शुभ कार्य को आरम्भ कर दो ।

'आत्मोत्थान' की प्रक्रिया में जीवन को संस्कारित करना बहुत आवश्यक है क्योंकि असंस्कारित जीवन में आत्मोत्थान संभव नही । आचार्य श्री के प्रवचन का एक अंश द्रष्टव्य है—

'असंस्कारित जीवन में किसी तत्त्व को डाल दोगे तो उसका संस्कार नहीं हो पायेगा, उसका दुरुपयोग होगा । अपरिक्व घड़े में यदि अमृत डाल दोगे तो घड़ा भी चला जायेगा और अमृत भी ।' (प्रावस-प्रवचन भाग १ पृ. १७)

इसलिए संस्कारित जीवन बनाने के लिए सुमति जागृत करना बहुत आवश्यक है । सुमति के बिना जीवन संस्कारित नहीं बन सकता । कुमति का जीवन असंस्कारित जीवन है, अज्ञान का जीवन है । इस भाव को कितनी सरलता से नानेश जी अपने प्रवचन में प्रस्तुत करते है—

'आप देख रहे हैं, एक बच्चे के सामने बहुमूल्य रत्न रख दीजिए । आप अपनी अगूंठी का तीन लाख या पांच लाख का हीरा रख दीजिए । वह बच्चा उस हीरे की कीमत क्या करेगा ? वह बच्चा उस हीरे को क्या समझेगा? वह बच्चा उस हीरे को यत्न से रखने का प्रयत्न करेगा ? नही । वह तो उसे उठाकर फेंक देगा । बच्चे के जीवन में हीरे की पहचान का संस्कार नहीं है । इसलिए वह बच्चा उस ज्ञान के अभाव में, प्रारम्भिक स्थिति मे असंस्कारित होने के कारण हीरे के विषय में कुछ नहीं जान पा रहा है ।' (वही पृ. १७)

संस्कारित जीवन 'विमलता' का जीवन है । विमलता के अभाव में ही, विषमता की ज्वालाएं सुलग रही है । यदि मनुष्य का मन विमल बन जाता है, इसमें पवित्र संस्कारों का संचार हो जाता है तो तमाम कुटिलताएं और मलिनताएं समाप्त हो जाती हैं ।

आचार्य नानेश जी के प्रवचनों में जिस प्रमुख 'भाव' का सौरभ बिखरा रहता है वह 'समता' का भाव है । आचार्यजी का मानना है कि व्यक्ति से व्यक्ति तभी जुड़ सकता है जबकि उसमें 'समता' दृष्टि हो । 'समता' के अभाव में विषमताओं का जन्म होता है और विषमता से विघटन और बिखराव । समता की विरोधी स्थिति होती है ममता की स्थिति । ममता मे 'मम' शब्द का अर्थ होता है 'मेरा' और ममता का अर्थ है 'मेरापन' । जहां 'मेरापन'—ममता है, वहां स्वार्थबुद्धि है, संग्रह वृत्ति है और पदार्थो के प्रति लोलुपता है । जहां ममता है वहां समता नही है या यों कहें कि सबको अपने तुल्य आत्मवत् समझने की क्षमता नहीं । नानेश जी का यह कथन कितना युगानुकूल और सांदर्भिक है—

'भौतिक विषमता के कुप्रभाव से दृष्टि कितनी स्थूल बन गई है कि जब मुद्रा के अवमूल्यन का प्रसंग आता है तो देश के अर्थशास्त्री और राजनेता चिन्तित होते है किन्तु दिन-रात जो भारतीय-जन के चारित्र का अवमूल्यन होता जा रहा है, उसके प्रति चिन्ता तो दूर उसकी तरफ नेता लोगों की कार्यकारी दृष्टि नहीं जाती। विषमता के इस सर्वमुखी संत्रास से विमुक्ति समता को जीवन में उतारने से ही हो सकेगी। समता की भूमिका जब तक जन-जन के मन में स्थापित नहीं होगी, तब तक जीवन की चेतना-शक्ति के भी दर्शन नहीं होगे। (**जीवन और धर्म**, पृ. ३२)

समता की दृष्टि, व्यष्टि और समष्टि, दोनों स्तरों पर आवश्यक है। आज के विश्व की अनेकानेक समस्याओं का समाधान 'समता दृष्टि' से ही संभव है। आज के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री के ये शब्द कितने सारगर्भित हैं—

'समता-जीवन-दर्शन के बिना शांति होने वाली नहीं है। अन्य अनेक प्रयत्न चाहे किसी धरातल पर होते हों, वे किसी भी लुभावने नारे के साथ हों परन्तु जीवन मे जब तक समता-दर्शन नहीं होगा, तब तक वे सब नारे केवल नारो तक सीमित रहेंगे और उनके साथ विषमता की जड़ें हरी होती हुई चली जायेगी। इसलिए समता-जीवन-दर्शन को मुख्यता अपने जीवन में उतारने के लिए तत्पर हो जाते है तो मानव-जीवन में एक नये आलोक और एक नई शांत क्रांति का प्रादुर्भाव हो सकता है। (आध्यात्मिक वैभव, पृ. ६५)

'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की ऐसी व्यापक एवं सर्वग्राह्य व्याख्या अन्यत्र कहां मिल सकती है? नानेश जी मात्र स्वप्नदर्शी (arm–chair philosopher) न होकर सही अर्थो मे एक कर्मयोगी है। स्थित प्रज्ञ एवं स्थिरधी है। उनके लिए समस्त मानवज्ञान 'हस्तामलकवत्' है और ये उस ज्ञान को व्यक्ति और समाज के परिष्करण में लगाना अभीष्ट समझते है। शास्त्रीय ज्ञान की व्यावहारिक एवं जनसवेद्य व्याख्या उनके प्रवचनों का प्राणतत्त्व है। वे गगन विहारी दार्शनिक न होकर जीवन की कठोर भूमि पर विचरण करने वाले कर्मठ तापस हैं। ऐसे तपस्वी जो कन्दरावासी न होकर समाज की धड़कनों को समझते हैं, आज के तरुण-वर्ग को उद्बोधित करते हुए वे कहते है—

'आज का तरुण वर्ग कानों में तेल डालकर सोया हुआ है। तरुण सोचते हैं कि धर्म करना तो वृद्धों का काम है। हमको तो राजनीति में भाग लेना है, या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है। यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है।' (वही पृ. ७०)

'ऐसे जीए' नामक संकलन में आचार्य श्री ने जीवन जीने की कला का मर्म उद्घाटित किया है—जो भी काम करे, चाहे वह छोटा से छोटा भी क्यों न हों, उसे मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करने का प्रयास करें, जिससे कि आपको सही ढंग से

ीने की कला प्राप्त हो सके ।' (पृ. १६-१७) 'योगः कर्मेषु कौशलम्' की कितनी ल व्याख्या !

आचार्य नानेश जी के प्रवचनों में बुद्ध, महावीर, ईसा, नानक, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी प्रभृति महात्माओं के भाव और कर्मलोकों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है । इस दृष्टि से इन प्रवचनों में एक विशेष प्रकार की विश्वजनीनता (Universality) है । मानव की 'समग्र चेतना' को इन प्रवचनों में संजोना नानेश जी जैसे तपस्वी संत का ही कर्म हो सकता है । उनके प्रवचन-साहित्य का अनुशीलन, चिन्तन-मनन तथा तदनुसार आचरण व्यक्ति और समाज दोनों के हित में है । वे व्यक्ति एवं संस्थायें धन्य हैं जो आचार्य श्री की वाणी को जन-जन तक पहुंचाने का मंगलमय कार्य कर रही हैं ।

—७ च-२ जवाहरनगर, जयपुर–३०२००४

■

समता के स्वर

❀ **आचार्य श्री नानेश**

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सारी दिशाओं में गुंजायमान करने की आवश्यकता है । समस्त जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना होगा, क्योंकि इस विषम वातावरण में मनुष्यता का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है ।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु मनुष्यता कभी समाप्त नहीं होगी, उसका सूरज डूबेगा नही । वह सो सकती है, मर नहीं सकती । अब समय आ गया है कि जब मनुष्य की सजीवता को ले कर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति-पताका को उठा कर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा । क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यों को हटा कर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाए । इसके लिए प्रबुद्ध एवं युवावर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और एक व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा ताकि समता के समरस स्वर उद्बुद्ध हो सकें ।

आचार्य श्री नानेश के उपन्यास : कथ्य और शिल्प

❀ प्रो. महेन्द्र रायजादा

आचार्य श्री नानेश जैन आगमों तथा शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। वे समता दर्शन के अध्येता, व्याख्याता तथा पुरस्सरकर्त्ता हैं। श्री नानेश जैन धर्म के अनन्य साधक होने के अतिरिक्त साहित्य के साधक और सृजनात्मक प्रतिभा के धनी भी हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। वे अपने तात्त्विक और गूढ़ विचारों को सीधी-सादी एवं सरल भाषा में अभिव्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने प्राचीन लोक-कथाओं के द्वारा मानव जीवन के सत्य एवं मर्म को अपनी कथा-कृतियों के माध्यम से उद्‌घाटित किया है।

कथा-कहानिया सुनने के प्रति मानव का आकर्षण चिरकाल से रहा है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी को कथा-कहानियों द्वारा जीवन के यथार्थ और आदर्श को आसानी से समझाया जा सकता है। आचार्य नानेश ने अपने चातुर्मास के दौरान अपने प्रवचनों मे समय-समय पर अपने नैतिकतापरक मूल्यवान धार्मिक विचार कथा-कहानियों के माध्यम से रोचक ढंग से व्यक्त किये हैं। उन्हीं आख्यानों को विद्वानों ने संकलित सम्पादित कर उपन्यासों के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास, साहित्य की एक ऐसी विधा है जो जीवन के गूढ़ विषयों को सरस और सुगम बना कर प्रस्तुत करती है। आचार्य नानेश ने अपने सद्‌विचारो को समता दर्शन में निरूपित कर अस्पृश्यता-निवारण हेतु महान् कार्य किया है। मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र के अस्पृश्य कहलाये जाने वाले बलाई आदि जातियों के लोगों को सुसंस्कारी बनाने में आचार्य श्री नानेश के सदुपदेशों तथा प्रवचनो ने प्रेरणादायी कार्य किया है। जनमानस में संयम, नियम, समताभाव, त्याग और विवेकशीलता को जागृत करने में इन कथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

आचार्य श्री के चार उपन्यास अब तक प्रकाशित होकर सामने आये हैं, जिनका कथ्य और शिल्प इस प्रकार है—

१. ईर्ष्या की आग :

यह लघु उपन्यास आचार्य नानेश के प्रवचनों का अंश है। आचार्य श्री द्वारा अपने प्रवचनों में कही गई रोचक कहानी को श्री ज्ञान मुनिजी ने संकलित एवं सम्पादित कर उपन्यास के कलेवर मे सजाया-संवारा है। आधुनिक युग में कहानी और लघु उपन्यास अधिक लोकप्रिय हैं। इस दृष्टि से यह कथाकृति पाठकों के लिये मार्गदर्शन का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास में मेढनीपुर निवासी संपत सुभद्र सेठ के दो पुत्र सुषेण

और अवधेश तथा पुत्र वधुएँ भामिनी और यामिनी की कथा प्रस्तुत की गई है। बड़ा भाई सुधेश बचपन से ही स्वार्थी और कपटी है। छोटा भाई अवधेश उसके विपरीत परमार्थी, सरल और ईमानदार है। पिता की मृत्यु के बाद घर-गृहस्थी का भार बड़े भाई सुधेश पर आया। सुधेश विवाहित था और उसकी पत्नी भामिनी भी उसी की तरह स्वार्थी, कपटी और ईर्षालु थी। अवधेश अपने बड़े भाई सुधेश और भाभी की बहुत इज्जत करता था और आज्ञाकारी भी था। अवधेश को उसकी भाभी जो कुछ रूखा-सूखा खाने को देती, उसे वह समभाव से संतोषपूर्वक ग्रहण कर लेता था। अवधेश साधु और मुनियों का सत्संग करता था। अतः वह निन्दा और प्रशंसा में समभाव रखता था तथा बड़े भाई और भाभी द्वारा दिये गये कष्टों को सहन करता था। सुधेश ने अपने छोटे भाई अवधेश का विवाह एक गरीब घराने की कन्या यामिनी से कर दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् सुधेश और भामिनी ने अवधेश और यामिनी को अपमानित कर अलग रहने के लिये बाध्य किया। अवधेश अपनी पत्नी यामिनी के साथ एक खण्डहर वाले टूटे-फूटे मकान में रहकर मेहनत-मजदूरी कर जीवन-निर्वाह करने लगा। दूसरी ओर सुधेश व्यापार करने लगा और अपनी पत्नी भामिनी सहित सुख और वैभव का जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन अवधेश लकड़ी काटने जंगल में गया। वहाँ उसे एक योगी मिले और उन्होंने अवधेश को त्याग-प्रत्याख्यान की बात कही और गीली लकड़ी काटने का निषेध किया। कई दिनों तक अवधेश को सूखे वृक्ष दिखलाई नहीं दिये और उसे अपनी पत्नी सहित निराहार रहना पड़ा, किन्तु उस स्थिति में भी वे संतोष पूर्वक प्रसन्न रहे। एक दिन देवालय के कपाट कुल्हाड़े से तोड़ते समय सोमदेव प्रकट हुए और अवधेश के संयम-नियम का प्राणपन से पालन करने को देखकर उसे वरदान दिया। फलस्वरूप सूखी लकड़ियां चन्दन बन गईं और उसे उन्हें बेचने पर बीस हजार रुपये प्राप्त हुए। बाद में वह ईमानदारी से व्यापार कर सदाचारिणी यामिनी सहित सुखपूर्वक रहने लगा। भामिनी यामिनी से सारी बात जानकार अपने पति सुधेश को सोमदेव से वरदान लेने भेजती है। किन्तु वहां जाकर सुधेश को जान के लाले पड़ जाते है। और देव के समक्ष प्रतिज्ञा करने पर उसे छुटकारा मिलता है।

अन्त में सुधेश और भामिनी को अपने किये पर पश्चाताप होता है। सुधेश सोमदेव के आदेशानुसार अपने पिता की सम्पत्ति का आधा भाग ब्याज सहित अवधेश को देने पर विवश होता है। अवधेश के यहां पुत्रोत्सव का आयोजन होता है। सुधेश और भामिनी अवधेश और यामिनी के साथ सद्भावना-पूर्वक रहने लगते है। अन्ततोगत्वा महायोगी के दर्शन प्राप्त कर अवधेश और यामिनी परम शांति और आनन्द की अनुभूति से सम्यक् साधना की गहराइयों में पैठकर महामानव की दिशा की ओर अग्रसर होते हैं।

आचार्य श्री नानेश और समता दर्शन

❀ वैराग्यवती कुमुद दस्साणी

युगद्रष्टा युगपुरुष चिन्तन के नवीनतम आलोक में युगीन समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक उच्चभूमिकापरक दृष्टि से करते है। अपने समय में संव्याप्त कुरीतियों का वहिष्कार कर, जन-समुदाय को नवीन दिशा-बोध देना उनका प्रमुख ध्येय रहता है। इस कड़ी में आचार्य श्री नानेश ने आज चहुंओर विषधर की तरह फुफकार मारती हुई विषमता के प्रतिघात में जनता को एक नवीन आयाम दिया—समता-दर्शन।

आज का जनजीवन आसक्ति रूपी मदिरा में आसक्त विषमता के गहन दल-दल में फंसता जा रहा है। हिंसा का तांडव नृत्य मानव-मन की भयाक्रान्त बना रहा है। विषम विभीषिका के दावानल मे प्रज्वलित सभ्यता एवं संस्कृति को सुरक्षित वनाने के लिए पयोधिवत् गम्भीर, मेदिनीवत् क्षमा-शील समता की आवश्यकता है। पतन के गर्त मे गमनस्थ जीवन में शाश्वत सुख की सम्प्राप्ति समता से ही सम्भव है। कहा है—

> अज्ञान कर्दमे मग्नः जीवः संसार सागरे।
> वैषम्येण समायुक्तः, प्राप्तुमुर्हति नो सुखम्॥

अर्थात्—संसार-सागर मे अज्ञानरूपी कीचड़ में लीन, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नही कर सकता। प्रत्येक प्राणि इस वैज्ञानिक युग में सुख की साँस ले सके, एतदर्थ आचार्य श्री नानेश ने अपनी मौलिक देन प्रस्तुत की, **समता-दर्शन।**

समता-दर्शन की व्याख्या—दर्शन शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है—"दर्शन वह उच्च भूमिका है, **जहां पर तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है।**" समता-दर्शन मे चेतना के समत्वमय स्वरूप को जानकर उसे क्रियान्विति देने का स्वर प्रस्फुटित होता है। इसलिए यह भी दर्शन—कोटि में समाहित है। गीता मे '**समत्व**' की मूर्धन्य प्रतिष्ठा संस्थापित करते हुए, उसे मुक्ति अवाप्ति का साधन वतलाते हुए कहा है—

> "योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में समान भाव ही समत्व योग है। अतः हे धनञ्जय! तू अनासक्त भाव से योग में स्थित होकर कर्म कर। यहां समत्व को योग वतलाया है। सुख-दुःख में समत्व की अनुभूति जीवन में सर्वश्रेष्ठ सफलता

है। यही समत्व वीतरागत्व प्राप्ति में परम सहायक है। 'आचाराङ्ग सूत्र' में इसी समत्व की श्रेष्ठता द्योतित करते हुए कहा है—**'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।'** अर्थात्—आचार्यों ने समत्व में धर्म कहा है। अतः प्राणिमात्र के प्रति समत्व की उदार भावना से समन्वित आत्मोत्थान के लिए प्रशान्त वृत्ति ही समता है। प्रभु महावीर का **'जियो और जीने दो'** सिद्धान्त इसी समत्व का परिपोषक है। वस्तुतः समता मानव जीवन की महान् एवं अनुपम उपलब्धि है।

समता-दर्शन का उद्देश्य—अन्तर्बाह्य विषमताओं का अन्त करना ही समता दर्शन का उद्देश्य है। समता का समुज्ज्वल आदर्श चिरन्तन साधना का समुपयोगी तत्त्व है। समग्र आचार दर्शन का सार समत्व की साधना में समाहित है। मानसिक चंचलता को संयम से वशीभूत कर भौतिकता की भीषण ज्वाला को आध्यात्मिकता के शीतल पय से शमित करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, समन्वय, सयम, सद्भाव इसके महास्तम्भ है।

'एगे आया' के सिद्धान्त को अपनाकर **'सव्वेसिं जीवियं पियं'** की सद् शिक्षा को प्रत्येक मानव के उदात्त मस्तिष्क में भरना ही समता-दर्शन का मूल उद्देश्य है। भौतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संव्याप्त विषमता की दुष्ट प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाना, भावात्मक एकता की ओर अग्रसर करना ही इसका मूल प्रयोजन है। अन्य-२ दार्शनिक प्रवरो के सिद्धान्तों को सुगमता से हृदयङ्गम करने का एक मात्र उपाय है, समता-दर्शन। यह केवल दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही समुपयोगी नहीं है, प्रत्युत आज इस वैज्ञानिक युग में जहां तृतीय विश्व युद्ध की घनघोर घटाएं मंडरा रही है, वहाँ शांतिपूर्ण एव सुगम रीति से मानव-मूल्यों की संरक्षा समता-दर्शन से ही सम्भव है।

समता-दर्शन के सोपान—सम्पूर्ण विश्व में सुरभिमय वातावरण उपस्थित करने के लिए, समता-दर्शन के प्रचार-प्रसार का विशिष्ट कार्य आचार्य श्री नानेश ने किया है। उन्होंने इसके प्रमुख चार सोपानो का प्रतिपादन किया है। वे इस प्रकार है—

१. **सिद्धान्त-दर्शन**—अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित कर प्रत्येक कार्य में समत्व को प्रधानता देना ही सिद्धान्त-दर्शन है। समभाव की पूर्णावस्था ही समता का सत्य तथ्य सिद्धांत है। कहा है—

गृह्णातिहृदि भद्रेण, त्यागवैराग्य संयमम्।
लभते सम सिद्धान्तं, जीवनोन्नति कारकम्॥

अर्थात्—त्याग, वैराग्य और संयम को सरलता से जो हृदय में धारण करता है, वही जीवन उन्नति कारक समता सिद्धान्त को प्राप्त करता है।

२. **जीवन-दर्शन**—समभाव की साधना के लिए सप्त कुव्यसनों का त्याग

करते हुए जीवनोपयोगी आत्म-साक्षात्कार कराने वाली वस्तुओं का आचरण जीवन-दर्शन है। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' ही समता-दर्शन का द्वितीय सोपान है। जीवन को सादा, शीलवान्, अहिंसक बनाये रखना समता जीवन-दर्शन है।

३. **आत्म-दर्शन**—अपनी आत्मा को सावद्य प्रवृत्तियों से विलग कर सत्प्रवृत्तियों की तरफ सत्पथगामी बनाना ही आत्म-दर्शन है। कहा भी है—

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकिञ्चनम् ।
यश्चपालयते नित्यं स आप्नेत्यात्मदर्शनम् ।।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जो सर्व-संयमित पालन करता है, वह आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

४. **परमात्म-दर्शन**—आत्मा का साक्षात्कार ही परमात्म-दर्शन है। सम्पूर्ण कर्ममल रहित निराकार पद की अवाप्ति ही परमात्म स्वरूप है। कहा है—

कर्मणश्च विनाशेन, संप्राप्यायोगिजीवनम् ।
संसारे लभते प्राणी, परमात्मपदं फलम् ।।

अर्थात्—कर्म के विनाश से अयोगी अवस्था को प्राप्त आत्मा-परमात्मपद को प्राप्त करती है। इस प्रकार आचार्य श्री ने समता-दर्शन की सुन्दर परिव्याख्या की है।

समता-दर्शन की महत्ता नवीन परिप्रेक्ष्य में—युद्ध की विभीषिका आज जहां सभ्यता एवं संस्कृति को विनष्ट करने में तत्पर है, वहां समता का मंगलमय स्वर उसे सुरक्षित रख सकता है। समतामय आचरण के २१ सूत्र तथा तीन चरण भी इस हेतु दृष्टव्य है। आचार्य श्री ने सुदीर्घ साधना एवं गहन चिन्तन की वीथिकाओं में विहरण कर समता-दर्शन का अद्भुत उपहार दिया है। समता से भावी एवं वर्तमान का नव्य भव्य निर्माण सम्भव है। यह इस युग के लिए ही नही प्रत्युत प्रत्येक युग के लिए एक प्रकाश स्तम्भ बन कर रहेगा। यह छोटी-सी विषमता से लेकर विस्तृत विषमता का दूरीकरण करने में समर्थ है। शांति का विमल ध्वज इसी के आधार पर फहराया जा सकता है। आचार्य श्री ने अनुभूति के आलोक में जो कुछ देखा, उसे समता-दर्शन के रूप में जन-२ तक पहुंचाया है। समता ही सारभूत है। गीता में कहा है—

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।'

—समता-भवन, बीकानेर

□

आचार्य श्री नानेश और समीक्षण ध्यान

※ श्री शान्ति मुनि

ध्यान-साधना की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए महावीर दर्शन में कहा है—

> **अहो ! अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्व प्रकाशकः**
> **त्रैलोक्यं चालयत्येव, ध्यान शक्ति प्रभावतः ।।**

यह आत्मा अनन्तवीर्य-शक्ति-सम्पन्न एवं विश्व के अणु-अणु का प्रकाशक है। जब इसमें ध्यान-ऊर्जा का जागरण हो जाता है तो यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चलित कर सकता है।

वास्तव में ध्यान की शक्ति अबूझ है। क्योंकि ध्यान का सामान्य अर्थ है चित्तवृत्तियों के भटकाव को अवरुद्ध करके उन्हें किसी एक तत्त्व पर केन्द्रित कर देना। यह वैज्ञानिक सिद्धांत है कि बिखरी हुई सूर्य-किरणें, सौर-ऊर्जा अकिञ्चित कर होती है, किन्तु वे ही किसी आइग्लास पर केन्द्रित होकर, अग्नि उत्पन्न कर देती हैं। ठीक यही स्थिति चैतन्य ऊर्जा की है। जब ध्यान के द्वारा चैतन्य ऊर्जा का जागरण हो जाता है तो उसके लिये इस विश्व मे कोई भी असम्भव कार्य नही बचता है।

ध्यान-ऊर्जा का इतना अचिन्त्य प्रभाव होने पर भी ध्यान-साधना का हो पाना सुकर नहीं है। जीवन इतना जटिल हो गया है कि उसे सहज बनाना कठिन हो गया है। आज अधिकांश व्यक्तियों का पूरा जीवन विपरीतियों, विसंगतियों एवं तनावों में जीने का अभ्यस्त बन गया है। उस अभ्यास के कारण विपरीतियां और विसंगतियां वैसी लगती ही नहीं है। आज का आम मानव भ्रान्तियों में जीने का अभ्यासी, आदी बन गया है। आज उसे सत्य में जीना बड़ा अटपटा लगता है। पाश्चात्य दार्शनिक नीत्से ने एक जगह लिखा है—'आदमी सत्य को साथ लिये नही जी सकता है। उसे चाहिये सपने, भ्रान्तियां, उसे कई तरह के झूठ चाहिये जीने के लिये।' और नीत्से ने जो कुछ कहा वह आम मानव की दृष्टि से सत्य ही लगता है। आज इन्सान ने जीने के लिये असत्य को बहुत गहराई से पकड़ा है। अपने इर्द-गिर्द भ्रान्तियों की बाड़ लगा दी है और अपनी ही लगाई उस बाड़ से उसका निकलना कठिन हो गया है।

● मुनि श्री की समीक्षण-ध्यान सम्बन्धी कृतियों से संकलित।

इस बात को समझना वहुत आवश्यक हो गया है क्योंकि इसे समझे विना हम आनन्द या शक्ति के द्वार तक नही पहुंच सकते हैं और वहां पहुंचे विना हमारी चेतना को कहीं विश्रान्ति नहीं मिल सकती है । किन्तु भ्रान्तियों की बाड़ या असत्य के चौखटों को समझने के लिये मन को, उसकी वृत्तियों को और उसके सूक्ष्म स्पन्दनो को समझना आवश्यक है । उसे समझने की प्रक्रिया का नाम है—'समीक्षण ध्यान-साधना ।' समीक्षण ध्यान-साधना उस जड़ाभिमुख तन्द्रा को तोड़ती है जिसके कारण व्यक्ति असत्य और भ्रान्तियों में जीने का अभ्यासी हो गया है । जैसे चमारों को चमड़े की गन्ध नही आती, करीब–करीब वही दशा आम व्यक्ति की बनी हुई है ।

आज का विज्ञान भी कहने लगा है—कि मनुष्य नींद के विना तो फिर भी जो सकता है, सपनों के विना इसका जीना मुश्किल है। पुराने युग में समझा जाता था कि नीद एक आवश्यक प्रक्रिया है, किन्तु आज वह मान्यता वदल गई है। आज का विज्ञान मानता है कि नींद इसलिये आवश्यक है कि आदमी सपने ले सके ।

चूंकि आदमी स्वप्नलोकी तन्द्रा में जीने का अभ्यासी वन गया है और उसे वे अभ्यास आनुवंशिक परम्परा के रूप में मिलते जाते हैं । अतः उसके जीने के लिये वे आवश्यक हो जाते हैं, किन्तु यथार्थ सत्य यह है कि इन्सान का यह विपरीतियों से भरा अभ्यास ही उसे अशान्त वनाये हुए है। आज मानव मन की अशान्ति, उसके तनाव, चरम सीमा का स्पर्श करते दिखाई देते हैं और इसी दृष्टि से समस्त वुद्धिजीवियों में एक व्यग्रतापूर्ण भाव भी निर्मित होता जा रहा है कि आखिर विसंगतियों से भरी यह जीवन-प्रणाली हमें कहा ले जाकर डालेगी? हमारे ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन कव तक असन्तुलित एवं तनावपूर्ण वने रहेगे ? और इसी व्यग्रता ने अनेक साधना–पद्धतियों का आविष्कार किया है । तनाव–मुक्ति एव आत्म-शान्ति की शोध में हजारों–हजार मानव मन विभिन्न साधना–सरिताओं में प्रवाहित होने लगे । उन्हीं साधना–सरिताओं में से एक परम पावनी, मन–मलीन–हारिणी, जन–जन तारिणी सुपरिष्कृत साधना पद्धति है—समीक्षण-ध्यान । इस साधना पद्धति के द्वारा हम न केवल वाह्य तनावों से ही मुक्त होते है, अपितु कषाय-मुक्ति एवं वासना–विवेचन के द्वारा आत्म साक्षात्कार एवं परमात्म साक्षात्कार का चरम आनन्द भी प्राप्त करते हैं।

इस साधना पद्धति के आविष्कर्ता समतायोगी आचार्य श्री नानालालजी म. सा. स्वयं में एक उच्चकोटि के महान् ध्यान–साधक है । साधना ही उनके जीवन का सर्वस्व है । उनका प्रतिपल आत्म–समीक्षण को ही समर्पित है । एक वहुत विराट संघ के नायक–संचालक होते हुए वे भी उससे जल कमलवत् अलिप्त रहने के अभ्यासी हैं । अतः उनकी यह आविष्कृति पूर्णतया अनुभूतियों से सम्पृक्त

अन्तरंग चेतना की भावभूमि से निःसृत है । अनेक वर्षों की गुरु–चरण सेवा एवं
साधना अनुभवों का निष्कर्ष है—यह साधना पद्धति । अस्तु इसका सर्वजनोपयोगी
होना स्वतः निर्विवाद हो जाता है ।

साधना के सन्दर्भ में एक विचारणीय बिन्दु यह है कि यह केवल चर्चा,
वितर्क अथवा अध्ययन का विषय नही है । यह स्वयं में साधन कर चलने
ानुभूतियों से गुजरने का विषय है, हम आचार्य प्रवर द्वारा प्रदत्त इस साधना-
। का अनुशीलन कर स्वयं अनुभव करें कि यह साधना–पद्धति हमारे लिये
ी उपयोगी एवं आवश्यक सिद्ध होती है ।

समीक्षण–ध्यान आगम वर्णित ध्यान विधियों का निचोड़-निष्कर्ष है
आचार्य प्रवर श्री नानेश की दीर्घकालीन साधनात्मक अनुभूतियों का सन्दोह
यद्यपि अभी यह साधना विधि प्रयोगात्मक प्रणाली के आधार पर अधिक
–प्रचारित नहीं हुई है, किन्तु जिन आत्म–साधकों ने इसकी प्रयोगात्मकता को
त्मसात् किया है, उन्होंने आत्मानन्द के साथ मनः सन्तुलन एवं मानसिक
ाग्रता के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है ।

आचार्य प्रवर श्री नानेश ने अनेक बार समीक्षण ध्यान के विविध आयामी
योगों को आत्मसात् ही नहीं किया, अपितु अपने शिष्य-परिकर को भी उन अनु-
ूतियो का आस्वादन करवाया है । उनकी स्वयं की जीवन-प्रणाली तो प्रतिपल
्यान योग में लीन एक ध्यान-योगी की प्रणाली है । उनकी चेतना के प्रत्येक
प्रदेश में, उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार में ध्यान-योग प्रतिबिम्बित ही दिखाई
देता है । उनकी इस योग–मुद्रा का प्रभाव अपने परिपार्श्व को भी प्रभावित करता
है । इसीलिये उनके निकट का समस्त वायु मण्डल ध्यान–साधना से अनुप्राणित
बना रहता है ।

आचार्य प्रवर ने अपनी सुदीर्घ ध्यान-साधना की अनुभूतियों के आधार
पर ध्यान की इस नूतन विद्या को अभिव्यक्ति प्रदान की है । यद्यपि यह निर्विवाद
रूप से कहा जा सकता है कि यह समीक्षण-ध्यान विधा आगम प्रतिपादित ध्यान-
विद्या से भिन्न नहीं है, फिर भी इसकी अन्य अनेक प्रचलित ध्यान विधाओं से
अलग ही विशेषता है, इसके द्वारा हम जीवन की सामान्य से सामान्यवृत्ति का
समीक्षण करते हुए आत्म-समीक्षण और परमात्म-समीक्षण की स्थिति तक पहुंच
सकते **हैं** ।

ध्यान की यह अप्रतिम विधा अपने आप में एक नूतन विधा है । यह
केवल मानसिक तनाव-मुक्ति तक ही सीमित नहीं है । इसका प्रभाव आत्म-दर्शन
की उस भूमिका तक जाता है जो परमात्म-दर्शन के द्वार उद्घाटित कर देती है ।

समीक्षण ध्यान-साधना में किसी भी प्रकार की हठयोग जैसी प्रक्रियाओं

को स्थान नहीं दिया गया है। यह साधना सहज योग की साधना है। समीक्ष
द्रष्टाभाव की साधना है। इस प्रक्रिया में हम दुर्वृत्तियों के निष्कासन के प्रा
किसी प्रकार की जबर्दस्ती नही करते है और न शक्ति जागरण अथव
ओत्मोन्नयन के प्रति भी किसी प्रकार की हठवादिता अपनाई जाती है। यह
केवल द्रष्टाभाव आत्म-समीक्षण की सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा ही सहज, सरलता
अशुभत्व का बहिष्कार एवं शुभत्व का संस्कार होता चला जाता है।

समीक्षण ध्यान हंस चोंचवत्–वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध करात
हुआ अंतर्पथ के राहो को ऊर्ध्वारोहण में गति प्रदान करता है।

'ज्ञानार्णव', 'योग दृष्टि समुच्चय' आदि ग्रन्थों में जिन पदस्थ आदि ध्यान-
विधियों का उल्लेख मिलता है, वे ही आत्म–समीक्षण की भी विधियां है। आगमो
में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का जो गहनतम विवेचन उपलब्ध होता है,
वह सब समीक्षण का ही विविध रूपी विश्लेषण है। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान
की जो भावनाएँ-अनुप्रेक्षाएँ बताई गई है, वे समीक्षण की विविध-आयामी पद्धतिय
ही हैं।

इस प्रकार मन को किंवा मनोयोग को स्वस्थ दिशा प्रदान करने वाली
जितनी भी विधियां/प्रणालिया अथवा पद्धतियां हैं, वे समीक्षण-ध्यान की विधिय
मानी जा सकती हैं।

आगमिक परिप्रेक्ष्य में चिंतन किया जाय तो ध्यान का सम्बन्ध प्रारम्भ
में मानसिक अशुभ वृत्तियों का परिमार्जन एवं शुभ वृत्तियो को आत्म-स्वरूप की
ओर दिशा देने से ही अधिक है। इस प्रकार की प्रक्रिया से चलता हुआ साधक
जब तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में पहुंचता है तो उन वीतरागी आत्माओं को
ध्यान-साधना की विशेष अपेक्षा नही रहती है, क्योंकि उन स्थानवर्ती आत्माओं
के मन की अशुभ वृत्तिया परिमार्जित हो जाती है जिससे मन सम्बन्धी चंचलत
का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है एवं शुभ वृत्तियाँ आत्म-स्वरूप की ओर मोड़
खाती हुई अप्रमत्त भाव मे समाविष्ट हो जाती है। अतः प्रारम्भिकता से लेकर
कुछ ऊर्ध्वगमन तक स्थिर रखने के प्रयास की आवश्यकता नही रह जाती है
इन दोनों गुण-स्थानों में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एवं सम्भुछिन्न क्रिया निवृत्ति रूप
दो ध्यान पाते है, वे भी मन, वचन, काय के योगों का व्यवस्थितिकरण एवं चरम
परिणति की अवस्था में आत्म-प्रदेशों का स्थिरीकरण होने से सम्बन्धित है, क्योंकि
वहां ध्यान-साधना की अन्तिम मंजिल प्राप्त हो जाती है।

निष्कर्ष मे हम यह कह सकते हैं कि समीक्षण ध्यान आचार्य श्री नानेश
के द्वारा उद्घाटित वह द्वार है, जिससे हम सर्व-समाधानों की मंजिल प्राप्त कर
सकते है एवं आत्म-कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुंच सकते है। ▽

समता-साधना : सामाजिक एवं नैतिक पक्ष

❀ श्री सुरेशकुमार सिसोदिया

सामाजिक शब्द ही यह स्पष्ट करता है कि जहां समाज है वहां समता की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञात होता है कि समाज के टिके रहने का आधार ही समता है क्योंकि समता का अभिप्राय ही सबके प्रति समभाव रखना और मिलजुल कर भाई-चारे से रहना है। जहां यह भाव नहीं, वहां सामाजिकता टिक ही नहीं सकती।

अब यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति के जीवन में समता कैसे आये? जब हम प्राणिमात्र के जीवन को देखते हैं और उस पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह सब नैतिकता से आबद्ध है। नैतिकता ही जीवन की वह अमूल्य धरोहर है जो व्यक्ति को सफलता के सर्वोच्च सोपान तक पहुंचाने में समर्थ है। यदि व्यक्ति के जीवन से नैतिकता हट जाती है तो फिर उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता दोनों ही साथ-साथ आती है जो न केवल संघर्ष का कारण बनती है वरन् उसके पतन का कारण भी बनती है।

नैतिकता तो सामाजिक धरातल का आधार स्तम्भ है। इस कथन की सत्यता को प्रबुद्ध व्यक्ति किस सीमा तक स्वीकारते है, यह अलग बात है। किन्तु समाज का वह वर्ग जिसे हम अनपढ़, असभ्य, डाकू, चोर, लुटेरे कुछ भी कह लें, नैतिकता तो उनमें भी विद्यमान है। उनमें भी पूर्ण नैतिकता का पालन होता है। चोर और लुटेरे भी चोरी के माल को आपस में बांटते समय ईमानदार बने रहते हैं। वे भी अपने समाज और अपने गिरोह के लिए ईमानदार हैं, विश्वसनीय हैं और एक दूसरे का विश्वासपात्र बने रहने में अपना हित मानते है। नैतिकता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है? यहां मेरे इस कथन का यह अर्थ नही लिया जाय कि मैं उनकी तथाकथित नैतिकता को आदर्श मान रहा हूं। मेरे यह कहने का अर्थ समाज को इस ओर इंगित करना मात्र हैं कि जब समाज का निम्न स्तरीय वर्ग भी इस सीमा तक नैतिकता का पालन कर रहा है तो समाज का वह बुद्धिजीवी वर्ग जिसे हजारों वर्षों से उन सन्त महात्माओं, युग पुरुषों और ज्ञानियों के प्रवचन पढ़ने, सुनने को मिलते रहे है जिन्होंने जीवन पर्यन्त स्वयं समतावान बनकर मानव समाज को नैतिकता का पाठ पढ़ाया हो, समता का उपदेश दिया हो, लेकिन वह वर्ग उन संत महात्माओं एवं विचारकों के उपदेशों को सुनने और समझने के बाद भी समाज में अमीर-गरीब, शोषक-शोषित, मालिक-मजदूर और ऊंच-नीच का भेद-भाव कम नही कर सका।

आज भौतिकता की चकाचौंध ने व्यक्ति को इस सीमा तक अपनी ओर आकर्षित कर लिया है कि उसके पड़ौस में क्या कुछ हो रहा है यह सब देखने, सुनने और समझने का वह प्रयत्न ही नहीं करता।

प्राय: सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में मानव समाज को समता व उपदेश दिया है । समता का अर्थ एवं उसकी सार्थकता मात्र धार्मिक क्षेत्र तक ह सीमित है, यह कहना न्यायोचित नहीं होगा वरन् समता तो जीवन के प्रत्येक क्षे का अभिन्न अंग है । चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो या आर्थि क्षेत्र ही क्यों न हो । समता की उपयोगिता से यो तो सभी परिचित से लगते लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से देखे तो ज्ञात होता है कि हमारा सम्पूर्ण जीव विषमता से भरा है ।

समभाव, समन्वय, साम्यदृष्टि, साम्य-विचार आदि समता में विद्यमा है । सामाजिक एवं नैतिक मूल्य समता के अभिन्न अंग है । समता की विभूति आदर्श है इतना सब होते हुए भी समता का सिद्धान्त साधना के चरम शिखर को छू सके या न छू सके यह बात अलग है किन्तु यह दायित्व तो उदात्त भी बनता है कि हमारे द्वारा जन-जन में यह धारणा व्याप्त कर दी जानी चाहिए कि समता हमारी संस्कृति का जीवनप्राण है जिसमे न केवल सभ्यता के बीज निहित हैं वरन् उसमें तो सम्पूर्ण जीवन का अस्तित्व समाविष्ट है । समता वह अमोघ शस्त्र है जिसका प्रयोग करने से आक्रमणकारियों के जीवन पक्ष भी सभ्य बनकर त्याग, बलिदान एवं साहस की वास्तविकता को स्वीकारेंगे ।

सादगी, सरलता एवं नैतिकता आदि समता के सूत्र है परन्तु इस सूत्र का व्यापक स्तर पर संवर्द्धन नही हो सका है अत: साधुवर्ग, श्रावकवर्ग, लेखक, समाज के प्रतिष्ठित लोग एव समाज के प्रत्येक नागरिक का यह दायित्व बनता है कि वह अब भी इस पक्ष की उपादेयता को अंगीकार करे एव समाज के उत्थान एवं नैतिक मूल्यो की स्थापना मे लगे । यदि हमारा लक्ष्य सर्वोपरि होगा तो भ्रान्तियां निसन्देह मिटेगी तथा हममे एकता की शक्ति और सुरक्षा की भावना स्वत: ही उत्पन्न होगी और तब एक ऐसे बीज का पुन: प्रयोग होगा जो हजारो वर्षो से लुप्त मानवीयता को सम्मुख लाकर एक विशाल वृक्ष की संज्ञा को प्राप्त हो सकेगा । प्राकृत के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी होने के नाते विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करने के उपरान्त मुझे तो यही लगा कि समभाव, समन्वय, साम्य-दृष्टि और साम्यविचारों के आधार स्तम्भ पर टिका आचार्य श्री नानेश का यह समता दर्शन विश्व में अग्रणी स्थान रखता है ।

आज जब हम आचार्य श्री के ५० वें दीक्षा महोत्सव को व्यापक रूप से मनाने की ओर अग्रसर हो रहे है तो सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम और सभी बाह्य आडम्बरों को छोड़ कर आचार्य श्री के २६ वर्षो की तपस्या के नवनीत समता दर्शन को जैन और जैनेतर लोगो में अधिकाधिक प्रचारित-प्रसारित करें ।

—आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत
संस्थान पद्मिनी, मार्ग, उदयपुर (राज.)

समता दर्शन : उत्पत्ति से निष्पत्ति तक*

✽ मुनि श्री ज्ञान

आज से करीब २७ वर्ष पूर्व साधुमार्गी संघ का दीप, इतर लोगों को ही नहीं अपितु उसके अनुयायियों को भी धुमिल होता नजर आ रहा था। स्वर्गीय गणेशाचार्य के बुझ रहे देह-दीप के साथ ही साधुमार्गी संघ का शुभ प्रकाश भी अंधकार के रूप में परिणित होने की संभावनाएं करीब-करीब सबको नजर आने लगी थी, इस बुझ रहे दीप को सदैव प्रज्वलित बनाये रखने के लिए संघ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वर्गीय गणेशाचार्य ने संवत् २०१९ आश्विन शुक्ला द्वितीया को अपने सुयोग्य शिष्य श्री नानालालजी म. सा. के सशक्त कंधों पर डाल दिया। करीब साढ़े तीन मास के अनन्तर ही गणेशाचार्य के स्वर्गवास हो जाने से आपश्री आचार्य पद पर आसीन हुए। जैन धर्म सघ में आचार्य पद अत्यधिक गरिमामय पद रहा है, इस पद पर आसीन साधक स्वयं के उत्थान के साथ ही चतुर्विध संघ, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं मानव ही नहीं अपितु प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहते है। आचार्य पद पर आसीन व्यक्ति पर द्वितरफा उत्तर–दायित्व होता है। क्योंकि आचार्य, नवकार मंत्र के तृतीय पद पर प्रतिष्ठित है, आयरियाण पद के पूर्व अरिहंताणं और सिद्धाणं है और पश्चात् उवज्झायाणं और साहूणं है। आचार्य पदासीन महापुरुष अरिहंत सर्वज्ञ तीर्थकरो द्वारा प्रतिपादित सिद्धातो को अक्षुण्ण रूप से प्रतिपादित करते है, साथ ही सिद्ध भगवंतों के वास्त-विक स्वरूप को भी जनता के सामने प्रस्तुत करते है, इधर चतुर्विध संघ के पचम पद पर आसीन भव्यात्माओं को भी सतत निर्देशन देकर प्रगति की दिशा मे नियोजित करते है। इस प्रकार उन्हे द्वितरफा उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण रूप से निर्वहन करना होता है। आचार्य प्रवर ने यह निर्वहन बहुत ही बखूबी किया है, यह वर्तमान के परिपेक्ष्य से एवं भूत–भावी अवस्थाओं के अनुचिंतन पर स्पष्ट परिभाषित होता है।

जब आचार्य प्रवर श्रद्धेय गुरुदेव श्री नानेश अपना प्रथम चातुर्मास रत–लाम में कर रहे थे, उस समय आप श्री की सर्व जीव कल्याणी चेतना ने जब शैतान के आतंक की भांति फैल रहे विषमता, वैमनस्य, विभेद, विघटन एवं मानवता के विनाश का नग्न तांडव देखा तो वह कराह उठी और विषमता की उपशांति के लिए जिज्ञासाओ द्वारा संभावित जिज्ञासुओं को समाधिवत करने के लिए चिंतन

● मुनि श्री को डॉ. भानावत द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर के आधार पर संकलित।

की गहराइयों में पैठ करती चली गई, जिसमें पैठ करते वक्त प्रभु महावीर की अमृतवाणी तो जीवन बेल्ट के रूप में साथ थी ही गहराई के इन क्षणों मे चेतन से चेतना को संस्पर्श, सबल, साहस, सहअस्तित्व भाव देने वाला एक शब्द प्रादुर्भूत हुआ और वह शब्द था **'समता ।'**

यह उच्च शब्द जाति, पथ, संप्रदाय, पार्टी से अलग रहकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग से जुड़ा हुआ है । यद्यपि शालि (गेहूं) व्यक्ति की क्षुधा तृप्त कर सकता है लेकिन जब तक वह सुसंस्कृत न हो जाए तब तक वह अपनी क्षुधा उस गेहूं से तृप्त नहीं कर सकता है (क्षुधा मिटाने की वास्तविक विधि की अनभिज्ञता के कारण स्वस्थता के साथ क्षुधा की तृप्ति कर पाना प्रायः असम्भव ही है) । वही स्थिति समता के साथ रही हुई है । इसलिए यह तो निर्विवाद है कि समता शब्द किसी जाति या व्यक्ति विशेष से नही जुड़ा हुआ है, पर जब तक इसका यथायोग्य प्रस्तुतीकरण न हो जाए तब तक वह जनता के लिए उपयोगी कैसे बन सकता है ।

श्रद्धेय गुरुदेव ने समता को अपनी विशिष्ट प्रज्ञालोक में आलोकित कर इस प्रकार से सुसस्कृत किया कि वह प्राणीमात्र की विषमता को समझ कर उन्हें शाति की अनुभूति देने में समर्थ हो गया । रतलाम में इसकी प्रादुर्भूति एक बीज के रूप में हुई थी जिसका विस्तारीकरण करीब दस वर्ष बाद जयपुर के चातुर्मास में हुआ था, क्योंकि गुरुदेव का यह स्वभाव रहा है कि वे अपने कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से जनकल्याण की भावनाओ से अनुप्रेरित होकर अपने विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत कर देते है । ग्रहण करना या नहीं करना, यह जिज्ञासुओं पर निर्भर करता है । दस वर्ष तक तो किसी का ध्यान इस ओर नही गया पर जयपुर चातुर्मास में एक जिज्ञासु भाई ने आचार्य देव के समक्ष अपनी एक जिज्ञासा प्रस्तुत की कि गुरुदेव यह जीवन क्या है ।

बड़ा मौलिक प्रश्न रहा है । यहां यह, आज से ही नही अपितु चिन्तन समय से उभरता हुआ चला आ रहा है और इसका समाधान भी विविध रूपो मे दिया जाता रहा है । यही प्रश्न जब आचार्य प्रवर के समक्ष आया तो आप श्री ने उस प्रश्न को प्रांजल भाषा संस्कृत मे रूपांतरित करते हुए उसका समाधान भी संस्कृत में ही सूत्र शैली में प्रस्तुत किया । वह निम्न है—

किं जीवनम् ? सम्यक् निर्णायकं समतामयच्च यत् तज्जीवनम् ।

जीवन क्या है ? जो चेतना सम्यक् निर्णायिक एवं समता से संबंधित हो, वही यथार्थ में जीवन है ।

बस इसी जिज्ञासा का समाधान आप श्री ने अपने चातुर्मास के दौरान प्रवचनों के माध्यम से जनता के सामने रखा जिसे राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर की प्रबुद्ध जनता ने बहुत सराहा अत्यंत उपयोगी समझकर जन-जन

तक पहुंचाने के लिए तत्काल ही **'पावस-प्रवचन'** के नाम से करीब पांच भागों में पुस्तकों के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किया ।

समीक्षा का विषय यह है कि अच्छे से अच्छे विचार किसी भी विद्वान् व्यक्ति के द्वारा दिये जा सकते है, पर वे जनता में तभी प्रभावी होते है जब स्वयं प्रवचनकार, चिंतक उन सिद्धांतों को अपने जीवन में साकार करे, क्योंकि विना ऊर्जा के वल्ब प्रकाशित नहीं हो सकता ।

आचार्य देव ने समता को पहले अपने जीवन में रमाया है। अपने जीवन की प्रयोगशाला में उन्होंने एक-दो वर्ष ही नही करीब २३ वर्ष तक निरन्तर प्रयुक्त करने के वाद ही जनता के सामने प्रस्तुत किया है । आचार्य प्रवर का जीवन समता की जलधि में निमज्जित होकर उस पावनता को प्राप्त हो चुका है जिससे उनके संपर्क में आने वाला अपावन व्यक्ति भी पावन बन जाता है ।

समता का सीधा अर्थ यदि लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि अपने समान ही ससार की समस्त आत्माओं के साथ एकरूप व्यवहार है। जिसकी चरम परिणति पर ही आत्मा में परम रूप की अभिव्यक्ति होती है एवं जिसे परमात्मा के नाम से अभिसज्ञित किया जा सकता है । आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने के लिए उस आत्मा को संसार की समग्र आत्माओं के साथ आत्मीय संबंध कायम करना होता है, उसी संबंध के विकास की क्रमिक प्रक्रिया का वर्णन समता दर्शन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

वास्तव में वर्तमान में जहां कहीं भी दृष्टिपात किया जाता है तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आज व्यक्ति से लेकर विश्व तक अशांति या द्वन्द्व की स्थिति छाई हुई है और उसके मूल में विषमता ही एक मात्र कारण है, चाहे कोई व्यक्ति हो या समाज या चाहे राष्ट्र । लगभग सभी के मन में यह स्वार्थ की भावना गहराती जा रही है कि दुनियां में मैं ही रहूं, मेरा ही अस्तित्व रहे, अन्य किसी को वह पसंद नही करता है । आज मानव अपने इस छोटे से जीवन की स्वार्थ पूर्ति के लिए हजारो का हनन करने मे जरा भी नहीं हिचकिचाता है, इस तुच्छ अमानवीय भावना ने सर्वत्र अशांति का साम्राज्य फैला दिया है। भाई-भाई में, वाप-वेटे में, पति-पत्नी में, ननद-भौजाई में, एक परिवार का दूसरे परिवार से, एक समाज का दूसरे समाज से, एक धर्म का दूसरे धर्म से, और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से यदि कोई झगड़ा होता है तो वह सिर्फ इस तुच्छ भावना के कारण होता है कि मैं तुमसे वड़ा हूं, तुम मेरे अधीनस्थ रहो, या फिर तुम्हारी वस्तुए तुम्हारी नहीं होकर मेरी हैं, दुनियां मे तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नही है, दुनियां में मे ही रहना चाहता हूं । इस तुच्छ भावना मे रमकर मानव ने स्वय के विनाश को स्वयं ने ही आमंत्रित कर लिया है ।

आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर घात लगाये वैठा है, जिसके परिणाम

स्वरूप दो वार विश्वयुद्ध की भयंकर बौछार हो चुकी है। फिर भी तृप्ति न हुई है। आज मानव ने ऐसे परमाणु वमों का आविष्कार कर लिया है, जिन विस्फोट से लाखो-करोडों व्यक्तियों की जिन्दगी कुछ ही क्षणों में समाप्त हो सक है। वैज्ञानिकों द्वारा वताए गये, इस विश्व जैसे अन्य अनेक विश्व का भी य निर्वाण किया जाए तो भी उन सारे विश्वों के विनाश की क्षमता के अणुव आज मानव के पास मौजूद है।

हिरोशिमा में डाले गये वम से करीव ६५१५० मानव मारे गये थे द्वितीय विश्व युद्ध मे करीव ढाई करोड़ आदमी मारे गये थे और वाद में छूटक युद्धों में भी करीव ढ़ाई करोड़ लोग मारे गये। इस प्रकार पांच करोड व्यक्ति मारे गए। वैज्ञानिकी खोज ने वतलाया है कि वोटुलिज्म जहर का एक ग्राम ७८ लाख आदमियों को मार सकता है और अशुद्ध सिटाकोसिस जहर का चौथा ग्राम ७ अरव व्यक्तियों को मार सकता है। ऐसे मारक विष के द्वारा निर्मित अणु-वमों का खजाना बड़े-वड़े शक्तिशाली राष्ट्रों के पास विद्यमान है। ऐसी स्थिति में यह विश्व कव किस समय प्रलंयकारी रूप ले ले, यह कहा नही जा सकता। न्यूट्रॉन वम के आविष्कारक अमेरिकी वैज्ञानिक सेम्युअल कोहन ने तो तीसरे विश्व युद्ध की भी घोपणा कर दी थी। उनके अनुसार १९८५ से १९९९ के वीच कभी भी विश्व युद्ध छिड सकता है। जिसमे अरव-इजराइल, भारत-पाकिस्तान, चीन-दक्षिण अफ्रीका विशेप रूप से लड़ेंगे। रूस और अमेरिका परोक्ष रूप मे रहेगे। वमों का भी व्यापक स्तर पर प्रयोग होगा। यह घोपणा मानवीय चेतना को भयाक्रांत वनाने वाली है।

इस स्वार्थपरता ने समुचित मानव जाति को विनाश के ऐसे कगार पर ला खड़ा किया है कि यदि इनसे वापस रिवर्स (पीछे) नही हुए तो विनाश अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति मे यदि मानव चेतना ने नवीन अंगड़ाई नही ली तो यह विनाश का रूप कितना उग्र रूप धारण कर लेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

आज भारत देश की स्वयं की दशा भी वड़ी दयनीय वनी हुई है। वोट की राजनीति में चंद व्यक्तियों के स्वार्थ के कारण हजारों हजार निर्दोप व्यक्ति पिसते चले जा रहे है। इस परिपेक्ष्य मे आचार्य देव द्वारा प्रतिपादित विश्व शांति का अमोघ उपाय समता दर्शन की नितांत आवश्यकता है। समता दर्शन डूवते हुए जनजीवन की एक मात्र पतवार वन सकती है। यद्यपि समता का महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी समझा गया है, तभी सन् १९८७ का वर्प समता वर्ष के नाम से घोपित किया गया था यथापि उस घोषणा के साथ समता का सकारात्मक रूप न आने के कारण विपमता का उन्मूलन नही हो पा रहा है। यह सत्य है कि भोजन के उद्घोप से भूख शांत नही होगी, परन्तु उस उद्घोप के साथ ही

भोजन ग्रहण किया जाएगा और वह भोजन आंतरिक रासायनिक परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता हुआ खल भाग, रस भाग आदि में विभाजित होकर यथा-योग्य रूप से सभी इन्द्रियों के पास पहुंचेगा, तभी शरीर में तेजस्विता आ सकती है, वैसे ही समता दर्शन के सिद्धांतों को स्वीकार करने मात्र से ही विषमताओं का उन्मूलन नहीं हो सकता है, उस समता को जीवन में सकारात्मक रूप से यथा-शक्ति उतारना होगा, तभी शांति का सही स्वरूप आ सकेगा ।

समता दर्शन को व्यक्ति से लेकर विश्व तक सकारात्मक रूप देने के लिए आचार्य देव ने चार सिद्धांत प्रतिपादित किये है । १. समता सिद्धांत दर्शन, २. समता जीवन दर्शन, ३. समता आत्म-दर्शन, ४. समता परमात्म-दर्शन । जिनका विस्तृत वर्णन तो 'समता दर्शन एवं व्यवहार' नामक ग्रन्थ मे किया गया है तथापि यहां आपकी जिज्ञासा का समाधान देने के लिए संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर देता हूं ।

समता-सिद्धांत-दर्शन—किसी भी वस्तु को अपनाने से पहले उसकी उप-योगिता और अनुपयोगिता के बारे में चिंतन-मनन कर तदनन्तर अवधारण आव-श्यक होता है । किसी अनुपयोगी वस्तु को ग्रहण कर भी लिया जाता है तो उसे समय के प्रवाह के साथ छोड़ भी दिया जाता है । अतः जिस किसी वस्तु को अपनाना है तो उसकी पूर्ण समीक्षा करने के पश्चात् ही अपनाना उपयुक्त रहेगा समता को जीवन में अपनाने के पूर्व उसके सिद्धांतों को उपयोगी माना जाए । इस बात को दृढसंकल्प के साथ स्वीकार किया जाए कि समता दर्शन हमारे लिए पूर्ण रूप से उपयोगी है एवं इसे अपनाने पर ही आत्म-शांति प्राप्त हो सकती है ।

यह सत्य है कि जिसे हम अन्तर चेतना से स्वीकार कर लेते है, तदनुसार की गई गति, सही प्रगति में रूपांतरित होती है ।

वर्तमान में आधुनिक युवा और युवतियां जो सिनेमा आदि देखते है, उनके मन मे या मस्तिष्क में वहां का गीत अच्छी प्रकार से जम जाता है और वे जहां तहां भी जाते है, उसे गुनगुनाते रहते है, जिसका भान कभी-कभी उन्हें भी नहीं रहता है । ठीक इसी प्रकार समता से व्यक्ति से लेकर विश्व तक की शांति तभी सम्भव है । जब समता को हम उसी रुचि के साथ माने । तभी वह व्यावहारिक स्तर पर सकारात्मक रूप से उभरेगी । समता का व्यावहारिक रूप है-सम सोचे, सम मानें, सम देखे, सम जानें और सम ही करने का प्रयास करें । जीवन के प्रत्येक कार्य मे समता का होना परम आवश्यक है दूसरों के अस्तित्व को भी हमे हमारे अस्तित्व के समान स्वीकार करना होगा ।

समता-सिद्धान्त दर्शन के कुछ प्रावधान—१. समग्र आत्मीय शक्तियों के सम्यक् सर्वांगीण के विकास को सर्वत्र सम्मुख रखना । २. समस्त दुष्ट वृत्तियों के त्यागपूर्वक सत्साधना मे पूर्ण विश्वास रखना । ३. समस्त प्राणीवर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना । ४. समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं के यथायोग्य सम-

आचार्य श्री नानेश दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष

के उपलक्ष्य पर शत् शत् वंदन अभिनन्दन

प्रतिष्ठान :

- मंगलचन्द सिपानी
- प्रेमचन्द सिपानी
- विजयचन्द सिपानी
- अशोककुमार सिपानी

	फोन :
० मंगल इन्टरप्राइसेस	
० प्रेम ट्रेडिंग कम्पनी	४४५९३१
० विजय इन्टर प्राइसेस	४४३१५९
० सिपानी ट्रांसपोर्टस	४४१७०३

नं. ११, राजा स्ट्रीट, टी. नगर

मद्रास-१७ पि. ६०००१७

घेवरचन्द मंगलचन्द सिपानी

पो. उदयरामसर, जि. बीकानेर (राज.)

आचार्य श्री के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

उदयरामसर

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में हार्दिक शुभकामनाओं के साथ:-

दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में शुभकामनाओं के साथ–

श्री दीपचन्द किशनलाल भूरा
पूर्व बाजार, पो. करीमगंज
(आसाम)-७८८७११

दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे हार्दिक शुभकामनाओ के साथ

एक शुभचिंतक

करीमगंज (आसाम)

दीक्षा अर्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

कमल स्वीटस

कमल भुजिया भण्डार

पुरानी लाईन, गंगाशहर

मानमल सुराना

पुरानी लाईन, गंगाशहर

श्रीमती चम्पादेवी संचेती

स्व. श्री रतनचन्द संचेती

जयपुर

श्रीमती लाडबाई ढढ्ढा

श्री उमरावमल ढढ्ढा

जयपुर

श्रीमती जतनदेवी ढढ्ढा

श्री सरदारमल ढढ्ढा

जयपुर

(वर्तमान कोषाध्यक्ष)

श्री तेजकंवर बैद

W/o इन्द्रजीत सिंह बैद

जयपुर

श्रीमती प्रभादेवी चोरड़िया

श्री अभयकुमार चोरड़िया

जयपुर

श्रीमती निर्मला सेफिला चोरड़िया

जयपुर

दीक्षा अर्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

श्रीमती मानबाई मंजुदेवी चोरड़िया

जयपुर

(सपरिवार)

श्री जयचन्द स्टोर

तेजपुर

श्री सरोज टेक्सटाईल्स

तेजपुर

श्रीमती सूरज देवी मूथा

धर्मपत्नी भंवरलालजी मूथा

उषा, कस्तूरी, नीला, नलिनी, वन्दना मूथा

जयपुर

श्रीमती सुशीला देवी वैद

W/o श्री मगनसिंह वैद

जयपुर

श्रीमती निर्मला देवी मेहता

धर्मपत्नी श्री ज्ञानचन्द मेहता

जयपुर

श्री मिश्री बाई मेहता

W/o श्री कनकराजजी मेहता

जयपुर

श्रीमती उज्जवल देवी चोरड़िया

W/o श्री सम्पत कुमार चोरड़िया

जयपुर

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

श्रीमती कमला देवी बैद

W/o **श्री चन्द्रसिंह बैद**

जयपुर

मैसर्स मांगीलाल होलसेल डीलर

हवेली कटरा पुरोहितजी, जौहरी बाजार

जयपुर

श्रीमती भंवर कंवर बैद

W/o श्री प्रेमसिंह बैद

जयपुर

श्री नयन तारा चोरड़िया

W/o श्री शांतिलाल चोरड़िया

जयपुर

श्रीमती भंवरी देवी बैद

W/o स्व. श्री नैमसिंह बैद

जयपुर

श्रीमती मोहनी देवी नाहर

W/o श्री सतीशचन्दजी नाहर

जयपुर

श्री शायर देवी कोठारी

धर्मपत्नी श्री उदयचन्दजी कोठारी

जयपुर

श्रीमती सुशीला बाई पालावत

धर्मपत्नी श्री प्रतापचन्दजी पालावत

जयपुर

दीक्षा अर्द्ध शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में :

श्री घेवरचन्दजी महेन्द्रकुमार कांकरिया
कलकत्ता

श्रीमती कुसुमदेवी कोठारी W/o श्री प्रकाशचन्दजी कोठारी
(संरक्षक सदस्या समिति)
जयपुर

अरुणोदय मिल्स लिमिटेड
मोरवी (गुजरात)

पारख दाल मील
(उच्च कोटि के दालों के निर्माता)
वसंतपुर राजनांदगांव (म. प्र.)

सुगनचन्द जीवनचन्द बैद
चांदी व कपड़े के व्यापारी
सदर बाजार, राजनांदगांव (म. प्र.)

मै. दुलीचन्द शिवचन्द पारख
(अनाज के व्यापारी व कमीशन एजेन्ट)
गंज लाईन, राजनांदगांव (म. प्र.)

श्री राजमलजी मिलापचन्दजी मुणोत
पाट व स्थानीय उत्पादन के प्रमुख आड़तीया
विलासीपाड़ा, धुवड़ी (आसाम)

श्री तोलारामजी धर्मचन्दजी लूणावत
(कपड़े के थोक व खुदरा व्यवसायी)
विलासीपाड़ा, धुबडी (आसाम)

प्रातः स्मरणीय बाल-ब्रह्मचारी, चारित्र चूड़ामणि, समता विभूति, धर्मपाल प्रतिबोधक, जिनशासन, प्रद्योतक समीक्षण ध्यान-योगी, आगम निधि विद्वद् शिरोमणि परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में शुभ-कामनाएं प्रेषित करने वालों की ओर से

शत-शत वंदन–अभिनन्दन

आसाम

सिलचर

श्री भंवरलाल गुलगुलिया
" हडमानमल गुलगुलिया
" जेठमल खटोल
" सुन्दरलाल सिपानी
" जीवराज सेठिया
" तोलाराम बरडिया
श्रीमती नथमल सिपानी

श्री रतनलाल गुलगुलिया
" मानमल गुलगुलिया
" सम्पतलाल सिपानी
" गुलाबचन्द सिपानी
" रोशनलाल सेठिया
" कुंभराज पटवा

कोकड़ाझाड़

श्री मोहनलाल छाजेड
" आसकरण बोथरा
" हडमानमल भूरा
" भागचन्द भूरा
" रामलाल भूरा

श्री फुसराज बरडिया
" माणकचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी
" तोलाराम वांठिया
" किस्तूरचन्द बोथरा

प्रातः स्मरणीय बाल-ब्रह्मचारी, चारित्र चूड़ामणि, समता विभूति, धर्मपाल प्रतिबोधक, जिनशासन, प्रद्योतक समीक्षण ध्यान-योगी, आगम निधि विद्वद् शिरोमणि परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. के दीक्षा अर्द्धशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में शुभ-कामनाएं प्रेषित करने वालों की ओर से

शत-शत वंदन–अभिनन्दन

आसाम

सिलचर

श्री भंवरलाल गुलगुलिया
" हडमानमल गुलगुलिया
" जेठमल खटोल
" सुन्दरलाल सिपानी
" जीवराज सेठिया
" तोलाराम बरडिया
श्रीमती नथमल सिपानी

श्री रतनलाल गुलगुलिया
" मानमल गुलगुलिया
" सम्पतलाल सिपानी
" गुलाबचन्द सिपानी
" रोशनलाल सेठिया
" कुंभराज पटवा

कोकड़ाभाड़

श्री मोहनलाल छाजेड़
" आसकरण बोथरा
" हडमानमल भूरा
" भागचन्द भूरा
" रामलाल भूरा

श्री फुसराज बरडिया
" माणकचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी
" तोलाराम वांठिया
" किस्तूरचन्द बोथरा

श्री हजारीमल ललवानी
" महावीरचन्द मणोत
" चम्पालाल बोथरा
" नवीन ट्रेडिंग
" डालचन्द संचेती

श्री चैनरूप पीचा (जैन)
" धनराज कातेला
" रामलाल बरड़िया
" तुलछीराम भूरा
" चन्द्र कातेला

करीमगंज

श्री किशनलाल भूरा
श्री दानमल सेठिया
" बंशीलाल भूरा
" सम्पतलाल भूरा
" सुगनचन्द सांड
" हीरालाल बक्सी
" बच्छराज धाड़ीवाल

श्रीमती प्रतिमादेवी भूरा
श्री आनन्दमल भूरा
" दीपचन्द भूरा
" कल्याणचन्द भूरा
" मूलचन्द सांड
" मूलचन्द पारख
" घेवरचन्द सुराणा

धुबड़ी

श्रीमती सीतादेवी सुराना
श्रीमती लक्ष्मीदेवी शामसुखा
श्रीमती पतासीदेवी लुनावत
श्री लाभचन्द सुराना
" शिखरचन्द सुराना
" ईश्वरचन्द शामसुखा
" भंवरलाल बोथरा
" चान्दमल सेठिया
" मूलचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी

श्रीमती मोहनीदेवी सुराना
श्रीमती चान्ददेवी बोथरा
श्री भंवरलाल सुराना
" गुलाबचन्द सुराना
" जोहरीमल सुराना
" चम्पालाल छल्लाणी
" गौतमचन्द सुराना
" सुन्दरलाल मरोठी
" स्वरूपचन्द मेहता
" पांचीलाल भूरा

गौहाटी

श्री जेठमल बोथरा
" प्रशान्त टैक्सटाईल्स
" मोहनलाल
" मूलचन्द सिपानी
" बुधमल भंसाली
" चम्पालाल भूरा
" शान्तिलाल सांखला
श्री शान्तिलाल
" अमरचन्द
" चन्द्र लूणावत
" प्रेमचन्द गांधी
" चम्पालाल कांकरिया
" हंसराज
" सुमतिचन्द सांखला

ग्वालपाड़ा

श्री जवरीमल

तिनसुखिया

श्री पन्नालाल सेठिया
" सुन्दरलाल सेठिया
श्री मांगीलाल सेठिया
" सुशीलकुमार सेठिया

बिलासीपाड़ा

श्री केशरीचन्द बोथरा प्रवीन स्टोर, श्री कमलचन्द भूरा

बंगाईगांव

श्री चम्पालाल देसवाल
" मोहनलाल देसवाल
" हनुमानमल देसवाल
" हनुमानमल बैद
" सम्पतलाल बैद
" सोहनलाल
श्री सोहनलाल देसवाल
" ताराचंद देसवाल
" घेवरचन्द गोलछा
" पारसमल बैद
" चम्पालाल बैद
" प्रकाशचन्द बेताला

श्री हजारीमल ललवानी
" महावीरचन्द मणोत
" चम्पालाल बोथरा
" नवीन ट्रैडिंग
" डालचन्द संचेती

श्री चैनरूप पींचा (जैन)
" धनराज कातेला
" रामलाल बरड़िया
" तुलछीराम भूरा
" चन्द्र कातेला

करीमगंज

श्री किशनलाल भूरा
श्री दानमल सेठिया
" वंशीलाल भूरा
" सम्पतलाल भूरा
" सुगनचन्द सांड
" हीरालाल वक्सी
" वच्छराज धाड़ीवाल

श्रीमती प्रतिमादेवी भूरा
श्री आनन्दमल भूरा
" दीपचन्द भूरा
" कल्याणचन्द भूरा
" मूलचन्द सांड
" मूलचन्द पारख
" घेवरचन्द सुराणा

धुबड़ी

श्रीमती सीतादेवी सुराना
श्रीमती लक्ष्मीदेवी शामसुखा
श्रीमती पतासीदेवी लुनावत
श्री लाभचन्द सुराना
" शिखरचन्द सुराना
" ईश्वरचन्द शामसुखा
" भंवरलाल बोथरा
" चान्दमल सेठिया
" मूलचन्द सिपानी
" भंवरलाल पटावरी

श्रीमती मोहनीदेवी सुराना
श्रीमती चान्ददेवी बोथरा
श्री भंवरलाल सुराना
" गुलावचन्द सुराना
" जोहरीमल सुराना
" चम्पालाल छल्लाणी
" गौतमचन्द सुराना
" सुन्दरलाल मरोठी
" स्वरूपचन्द मेहता
" पांचीलाल भूरा

चांगोटोला

श्री गेंदमल जैन

नागदा

श्री मायाचन्द कांठेड
श्री चन्द्रशेखर जैन

बदनावर

श्री झमकलाल दसेडा

मुंगेली

श्री सौभाग्यमल कोटड़यिा
श्री पुखराज कोटड़िया

गीदम

श्री कोजमल बुरड

राजनांदगांव

श्री अगरचन्द कोटड़िया
" कन्हैयालाल गोलछा
श्री इन्द्रचन्द सुराना

रायपुर

श्रीमती विजयादेवी सुराना

महाराष्ट्र

बम्बई

[illegible] सरलादेवी भूरा
श्रीमती मधुदेवी बैद

नागपुर

सुपारी-सेन्टर
स्पाईसेस
श्री चन्दनमल बोथरा
" सरदारमल पुगलिया

श्री घेवरचन्द सुराणा
" जतनलाल पींचा
" उदयचन्द सुखाणी
" अशोककुमार कोठारी
" मांगीलाल बोथरा
श्रीमती गुलाबदेवी भूरा
श्रीमती तारादेवी दस्साणी

श्री किरणकुमार बोथरा
" सूरजमल पींचा
" प्रकाशचन्द सुराणा
" अमरचन्द जैन (सेठिया)
" अमरचन्द सेठिया, शक्तिनगर
श्रीमती प्रभा चोरड़िया

मध्यप्रदेश

इन्दौर

श्री प्रेमराज चौपड़ा
" माणकचन्द आंचलिया
" जितेन्द्र दालमील
" रतनलाल जैन (स्टोनसन)
" बालकिशन चोरड़िया
" पुखराज चौपड़ा
" बसन्तीलाल कांकरेचा
" रतनलाल पावेचा
" मांगीलाल

श्री किशनलाल आंचलिया
" प्रकाशचन्द जैन
" रतन फाइनेन्स कम्पनी
" जैन ऊन स्टोर्स
" विरेन्द्र एण्ड कम्पनी
" समर्थमल डूंगरवाल
" गजेन्द्र सूर्या
" रतनलाल पीतलिया
श्रीमती राजकुंवरबाई कोठारी

दुर्ग

श्री इन्द्रचन्द सुराना
" घेवरचन्द श्रीमाल
" मिश्रीलाल कांकरिया
" चन्दनमल बोथरा
" जेठमल श्रीश्रीमाल

श्री भंवरलाल बोथरा
" भीखमचन्द पारख
" शिरेमल देशलहरा
" दिनेश कुमार देशलहरा